दुःखों से परमानन्द तक

परमपूज्य जगद्गुरु श्री अभिनव विद्यातीर्थ महास्वामी जी

दुःखों से परमानन्द तक

अनुवादक — हिन्दी मार्ताण्ड श्री के॰ वि॰ श्रीनिवास मूर्ति

Centre for Brahmavidya
Chennai 600032

Book Title:

Dukhon Se Paramanand Tak

Translator:

Hindi Martand Sri K. V. Srinivasa Murthy

Published by:
Centre for Brahmavidya
SVK Towers, 8th Floor, A25, Industrial Estate, Guindy
Chennai 600032
Email: contact@centreforbrahmavidya.org
Website: **www.centreforbrahmavidya.org**

ISBN: 978-81-957509-1-7

© **Centre for Brahmavidya**
All rights reserved

Digital Edition: 2023
(For free distribution only)

परमपूज्य जगद्गुरु श्री अभिनव विद्यातीर्थ महास्वामी जी

वह दिन 1935 दिसंबर 14 था। दक्षिण भारत के एक गाँव शृङ्गेरी में एक सर्द रात थी। जब पूरा गाँव गहरी नींद में सो रहा था, नरसिंहवन में अपने निवास में, शान्त बहती तुङ्गा नदी के तट पर, एक किशोर ऋषि गहरे ध्यान में मग्न थे। उनकी साँस कदाचित् ही पता जा सकती थी। उनका मौन स्वयं शान्ति बिखेर रहा था। वे प्राचीन काल के योगी की तरह तेज से देदीप्यमान थे। घंटे बीत गए, लेकिन ऋषि आनन्दपूर्वक समय बीतने से अचेत, एक ऐसी अवस्था — जिसे शास्त्र योग की पराकाष्ठा *निर्विकल्प-समाधि* कहते हैं — उसमें स्थित परब्रह्म में लीन थे। पिछले दिनों की उनकी निर्विकल्प-समाधि की तीव्रता ऐसी थी कि वे बाहरी विश्व से सम्बन्धित हर विषय के प्रति उदासीन थे। उस दिन, वे कदाचित् ही भोजन करने तक भी सचेत थे। सन्ध्याकाल तक, उनका मन यहाँ तक ब्रह्मानन्द में तल्लीन था कि उनके धार्मिक अनुष्ठान — जो वे सामान्यतः बहुत सतर्कतापूर्वक करते थे — अत्यन्त बुरी दशा में रहा। रात में अपने कमरे में जाने से पहले, उन्होंने अपना भोजन स्वीकार नहीं किया, क्योंकि वे अत्यन्त अन्तर्मुखी और इसलिए भोजन से भी विमुख थे। वहाँ, वे सन्त बैठ गए और सीधे निर्विकल्प-समाधि में चले गए। रात लगभग समाप्त हो चुकी थी और उन्होंने अपनी समाधि से जागने का कोई संकेत नहीं दिखाया।

जब तक उनका शरीर अपने आप गिर नहीं जाता, तब तक वे सन्त ब्रह्म में लीन उसी अवस्था में बने रहते। हालाँकि, ईश्वर की योजना अलग थी। एक दिव्य प्रेरणा से प्रेरित होकर, उनके गुरु रात समाप्त होने से पहले उनके कमरे में पहुँचे और समाधि से अपने शिष्य को जगाने के लिए सुदीर्घ प्रणव (ॐ) का उच्चारण किया। धीरे-धीरे, कुछ साँस खींचने के लिए सन्त की छाती फैली और उनकी आँखें खुलीं। उनको अपने शरीर का और अपने गुरु की उपस्थिति का भान हुआ। अपने गुरु के निर्देशानुसार, उन्होंने अपने मन को पुनः समाधि में जाने से रोक दिया।

अगली प्रातः, उनके गुरु ने पुनः अपने तरुण शिष्य से कहा, "मैं जानता था कि आपका मन निर्विकल्प-समाधि में अधिकाधिक लीन हो रहा था। कल रात, भगवान ने मुझे स्पष्ट कर दिया कि आपकी समाधि इतनी तीव्र हो गई है कि आप स्वयं उससे बाहर नहीं निकलेंगे। जब तक समाधि से जगाए नहीं जाते, आप शारीरिक मृत्यु तक उसमें बने रहेंगे। आपने समाधि की सभी आवश्यकताओं को पार कर लिया है क्योंकि आप ब्रह्म में अटल रूप से स्थापित हैं। अपनी समाधि और मन की अन्तर्मुखता को नियन्त्रित करें।"

ज्ञान के छठे और सातवें स्तरों का वर्णन योग-वासिष्ठ इस प्रकार करता है — "छठे स्तर में, कोई निर्विकल्प-समाधि से तभी निकलता है जब आस-पास के लोगों द्वारा जगाया जाता है। ऐसे योगी को *ब्रह्मविद्वरीयान्* (ब्रह्म का श्रेष्ठतर ज्ञाता) कहा जाता है...तुरीय नामक सातवें स्तर पर पहुँचने वाला योगी, कभी भी निर्विकल्प-समाधि से — या तो स्वयं या किसी दूसरे के प्रयासों के उत्तर में — नहीं निकलता। ऐसे योगी को *ब्रह्मविद्वरिष्ठ* (ब्रह्म का श्रेष्ठतम ज्ञाता) कहा जाता है।"

वे सन्त — जिन की परब्रह्म में स्थापना इतनी उच्च स्तर की थी — कोई और नहीं, प्रत्युत परमपूज्य जगद्गुरु श्री अभिनव विद्यातीर्थ महास्वामी जी थे, जो शृङ्गेरी श्री शारदा पीठ के 35वें जगद्गुरु शङ्कराचार्य थे। उनके गुरु, परमपूज्य जगद्गुरु श्री चन्द्रशेखर भारती महास्वामी जी थे, जो पीठ के 34वें पीठाधीश्वर थे, जो स्वयं परम विरक्त यतिवर और सुविख्यात जीवन्मुक्त (जीवित रहते हुए संसार चक्र से मुक्त) थे।

परमपूज्य जगद्गुरु श्री अभिनव विद्यातीर्थ महास्वामी जी का उल्लेख इस ग्रन्थ में पूज्य भाव से "गुरुजी" शब्द से किया गया है। गुरुजी का जन्म 1917 नवंबर 13 को बेंगलुरु में हुआ। उनका उपनयन 1930 मई 4 को हुआ। उन्होंने सांसारिक जीवन को त्याग दिया और 1931 मई 22 को संन्यास ग्रहण किया। भगवान और अपने गुरु के साक्षात् मार्गदर्शन के साथ, वे अपने संन्यास दीक्षा के दिन से ही, आध्यात्मिक साधनाओं में गहराई से लगे हुए थे; उन साधनाओं का परमोत्कर्ष 1935 दिसंबर 12 को उनके प्रबोध एवं परब्रह्म में उनकी

स्थापना के रूप में हुआ। वे 35 वर्ष (1945-1989) शृङ्गेरी श्री शारदा पीठ पर पीठाधीश्वर के रूप में विराजमान थे। उस कार्यकाल में, उन्होंने व्यापक रूप से भारत देश में यात्रा की, धर्म का प्रचार-प्रसार किया, आध्यात्मिक तत्त्व को प्रतिपादित किया और इस तरह, अनगिनत प्रकारों से लोगों को अनुगृहीत किया। दूरदर्शी होते हुए, उन्होंने लोककल्याणार्थ विभिन्न धार्मिक और सामाजिक संस्थानों को स्थापित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। उन्होंने 1989 सितंबर 21 को शृङ्गेरी में महासमाधि प्राप्त की।

गुरुजी करुणा की प्रतिमूर्ति थे। संकट में पड़े लोगों की पीड़ा को दूर करना उनके लिए स्वाभाविक था। 1960 में आंध्र-प्रदेश की अपनी पहली यात्रा के समय, एक बार गुरुजी ने लगभग एक घंटे की यात्रा की थी जब उन्होंने दूर से देखा कि सड़क पर एक गाड़ी आंशिक रूप से पलटी हुई पड़ी है। कुछ वाहन चालक बिना रुके आगे बढ़ गए। गुरुजी ने अपनी कार को दुर्घटनास्थल के पास रुकवा लिया और तुरन्त बुरी तरह से क्षतिग्रस्त उस वाहन के पास गए। उन्होंने देखा कि एक गतिहीन एवं रक्त से लथपथ व्यक्ति उसके भीतर फँसा हुआ है। एक क्षण में उन्हें पता चला कि यह दुर्घटना केवल कुछ मिनट पहले ही हुई है और वह व्यक्ति केवल अचेत है, मरा नहीं। उन्होंने मठ के एक विश्वसनीय कर्मचारी को एक एम्बुलेंस की व्यवस्था करने के लिए मठ की एक गाड़ी में तेज़ी से चलने का निर्देश दिया।

यह निर्धारित करके कि उस कार को सीधा खड़ा करने के बाद ही दुर्घटनाग्रस्त व्यक्ति को बाहर निकाला जा सकता है, गुरुजी ने अपने परिजनों के साथ आवश्यक सहायतार्थ कठिन परिश्रम किया। वे तब अपने चालीसवें वर्ष में थे। अच्छी तरह से व्यायाम किए जाने के कारण उनकी माँसपेशियाँ कड़ी और शक्तिशाली थीं। फ़िर भी, चूँकि वाहन भारी था, उसे अन्ततः अपने पहियों पर खड़े करने से पहले बहुत प्रयास करना पड़ा। गुरुजी ने तब चोटिल व्यक्ति की सावधानी से जाँच की और इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि एम्बुलेंस के आने की प्रतीक्षा किए बिना, उस घायल व्यक्ति को निकालना सुरक्षित होगा। एक कामचलाऊ स्ट्रेचर का उपयोग करते हुए, गुरुजी ने नरमी से उसे

मठ के एक बड़े वाहन में स्थानान्तरित कर दिया और चालक को उस दिशा में अबाध गति से आगे बढ़ने का आदेश दिया, जिस दिशा से एम्बुलेंस के आने की आशा थी। उनके कार्यों ने सुनिश्चित किया कि दुर्घटना से घायल व्यक्ति को शीघ्रातिशीघ्र चिकित्सा सहायता मिले। गुरुजी के समय पर किए गए उपकार के कारण, गम्भीररूप से चोटिल व्यक्ति बच गया और उभर गया।

गुरुजी एक उत्सुक एवं तीक्ष्ण पर्यवेक्षक और प्रकृति प्रेमी थे। एक अवसर पर, उन्होंने एक बन्दर को पड़ोसी वृक्षों की दो बहुत नीची, क्षैतिज शाखाओं के बीच के छोटे से अन्तराल में अपना हाथ पकड़े, प्रतीयमानतः बहुत चिन्ताग्रस्त बैठे देखा। यह देखने के लिए कि बन्दर के हाथ में क्या है, गुरुजी ने अपना सिर धरती के पास रखा। उन्होंने देखा कि इसमें एक सेब था, जो सम्भवतः किसी ने वहाँ गिरा दिया था। चूँकि बन्दर अपनी मुट्ठी से फल को छोड़ना नहीं चाहता था, इसलिए वह अपना हाथ निकालने और स्वयं को छुड़वाने में असमर्थ था। गुरुजी ने सोचा, "अपनी बुद्धिमत्ता के होते हुए भी, यह बन्दर नहीं चाहता है कि फल को छोड़े, अपना हाथ उस अन्तराल में से बाहर निकाल ले व फ़िर उसी फल को नीचे से उठा ले।"

उन्हें बन्दर पर दया आ गई। तो, उन्होंने उस बन्दर को अपने स्वयं के बनाए बन्धन से मुक्त करने की योजना के साथ, एक केले को छीला और गूदे को उसके मुँह के पास ले गए। बन्दर आगे झुक गया और फल खाने लगा, लेकिन सेब को पकड़े रहा। गुरूजी ने दूसरा केला छीला। इस बार, उन्होंने इसे बन्दर से कुछ दूरी पर रख दिया। बन्दर के पास केला पाने के लिए सेब को छोड़ने के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं था। जब वह केला खा रहा था, गुरुजी ने सेब बाहर निकाल दिया और उसे वापस बन्दर को सौंप दिया।

गुरुजी ने कहा है — "भगवान की रचना कितनी आकर्षक है। प्रकृति हमें ईश्वर की स्मृति दिलाती है और वास्तव में, यह सबके सामने उनकी अभिव्यक्ति है। जब कोई रात में आकाश को देखता है या समुद्र को देखता है, तो वह शान्ति से अभिभूत हो जाता है और यह भी अनुभव करता है कि वह ब्रह्माण्ड में कितना नन्हा सा है। नदी की लहरों पर खेल रही सूर्य की किरणें, हरे भरे खेत, बन्दरों के खेल-कूद, गायों का स्नेह आदि

आनन्ददायक हैं। यहाँ तक कि कीड़ों के पास भी, जिन्हें बहुत से लोग तुच्छ समझते हैं, हमें सिखाने के लिए बहुत कुछ है। प्रकृति एक निःशुल्क रमणीय प्रदर्शनी है, जो सभी के अनुभव के लिए उपलब्ध है। अजीब तरह से, कई लोग इसे अनदेखा कर देते हैं और बहुत सारा पैसा और समय खर्च करके, अश्लील चलचित्र देखकर और फूहड़ गीतों वाले गाने सुनकर, अपने मन को दूषित कर देते हैं।"

गुरुजी के परिज्ञान और आशीर्वाद असाधारण एवं अमोघ थे। एक बार वे मंगलूरु के निकट कोटेकार में रुके हुए थे। अपराह्न लगभग 2:30 बज रहे थे और वे अपने निजी कक्ष में बैठे थे। वे अपने एक शिष्य से एक घटना के बारे में बता रहे थे, जब वे अचानक उठ गए, द्वार की ओर चलकर बंगले के सामने बरामदे की ओर बढ़े। कुछ ही क्षणों में, एक व्यक्ति वहाँ दौड़ता हुआ आया। उसे पसीना आ रहा था, उसकी कमीज़ और पतलून गन्दे थे और उसके माथे पर पट्टी बँधी थी। गुरुजी ने सहानुभूतिपूर्वक उससे पूछा, "तुम कौन हो? क्या चाहते हो?" वह कन्नड़ में तपाक से बोल पड़ा, "कृपया बचाएँ!" लेकिन वह आगे नहीं बोल सका, क्योंकि वह रोने लगा। यहाँ तक कि उसके कुछ और कहने से पहले ही, गुरुजी ने उससे कहा, "तुम्हारा बेटा शीघ्र ही ठीक हो जाएगा। चिन्ता मत करो।" फ़िर प्रतीक्षा करने के लिए उसे संकेत करते हुए, गुरुजी अन्दर गए और काजू के दो बड़े पैकेट और बादाम का एक बड़ा पैकेट ले आए। उन्होंने उसे यह कहते हुए पैकेट दिए, "कुछ दिनों बाद, इनमें से कुछ अपने बेटे को प्रतिदिन देना।" सम्मानपूर्वक सूखे मेवे लेने के बाद, उसने गुरुजी से कहा, "मेरा बेटा अस्पताल में है। डॉक्टर ने आज मुझे बताया कि मेरा बच्चा कैंसर से पीड़ित है।" गुरुजी बलपूर्वक बोले, "नहीं, उसे कैंसर नहीं है। वह शीघ्र ही अस्पताल से घर आएगा और ठीक हो जाएगा।" उस व्यक्ति ने अपने हाथ जोड़े, गुरुजी को धन्यवाद व्यक्त किया और चला गया। फ़िर गुरुजी ने अन्दर जाकर द्वार बन्द कर लिया। वे अपने आसन पर पुनः आसीन हुए और अपने उन शिष्य से वहीं से बात करने लगे जहाँ उन्होंने अपनी बात रोकी थी।

अगली सन्ध्या, जब गुरुजी अपनी सन्ध्याकालीन सैर पूरी कर रहे थे, उन्होंने देखा कि वह व्यक्ति हाथ जोड़े हुए कुछ दूरी पर खड़ा है। गुरुजी उसे देखकर

स्मितमुखी हुए और अपने भवन में चले गए। वह व्यक्ति वहीं रहा जहाँ वह खड़ा था। गुरुजी के सायंकालीन स्नान के लिए जाने के बाद, जब वे शिष्य बाहर आए, वह व्यक्ति उनके पास आया और कहा, "कल सायंकाल जब मैं यहाँ से अस्पताल लौटा, तब डॉक्टर ने आकर कहा, 'त्रुटि हो गई थी रिपोर्टों में घालमेल हो गया था। आपके बेटे को कैंसर नहीं है। हम उसे दो दिनों में छुट्टी दे सकते हैं। उसे घर ले जाने के बाद, उसे अच्छा पोषण दे।' कृपया इसे स्वामी को बताएँ। मैं उनका बहुत आभारी हूँ। चूँकि मैं आज उन्हें कष्ट नहीं देना चाहता था, तो मैं दूर खड़ा रहा।" शिष्य ने उत्तर दिया, "मैं आपकी सूचना गुरुजी को दे दूँगा," और जैसे ही वे जाने लगे, उस व्यक्ति ने कहा, "मैं एक ईसाई हूँ। मुझे यह सुनकर सदमा लगा कि मेरे बच्चे को कैंसर है; तब मेरे एक हिन्दू मित्र ने मुझे स्वामी से आशीर्वाद पाने हेतु जाने के लिए कहा। यही कारण है कि मैं कल यहाँ पहुँचा। मुझे आनन्द है कि मैंने ऐसा किया।" बाद में जब उन शिष्य ने गुरुजी को सम्बन्ध की सूचना दी, तो गुरुजी ने उनकी बात चुपचाप सुनी।

एक पारङ्गत गुरु होने के साथ-साथ, गुरुजी अपने गुरु के — जिन्हें इस पुस्तक में पूज्य भाव से "परमगुरुजी" कहा गया है — आदर्श शिष्य थे। एक दिन एक विद्वान संन्यासी ने — जो परमगुरुजी और गुरुजी के एक उत्कट शिष्य थे — भोर से बहुत पहले, गुरुजी को उस कक्ष के बाहर बैठे हुए देखा, जहाँ परमगुरुजी विश्राम कर रहे थे। उनके लिए यह अत्यन्त स्पष्ट था कि गुरुजी ने पूरी रात वहीं जागते हुए बिताई थी। पूछताछ करने पर गुरुजी ने उनसे कहा, "कल रात हमारे गुरुजी का परिचारक नहीं आया था। इसलिए मैंने यदि कोई आवश्यकताएँ हों, तो उन्हें पूरा करने के लिए यहाँ बैठने का निश्चय किया।" गुरुजी किसी और को परिचारक के रूप में सेवा करने के लिए लगा सकते थे और मठ के अन्य परिचारकों की तरह सो सकते थे; और परमगुरुजी के बुलाने पर ही जाग सकते थे। लेकिन गुरुसेवा के प्रति उनके समर्पण ने उन्हें वह करने के लिए प्रेरित किया जिसे उन्होंने किया।

अपनी ओर से, परमगुरुजी ने गुरुजी को सर्वोच्च सम्मान में रखा। उन्होंने गुरुजी के बारे में एक भक्त को घोषित किया, "मत सोचो कि वे केवल एक

स्वामीजी हैं। वे भगवान हैं। वे मेरे गुरु हैं।" परमगुरुजी ने यहाँ तक कि सुभानु-संवत्सर (1943-44) में, गुरुजी पर कई श्लोकों की रचना की और उन्हें गुरुजी को दिया। उन सात श्लोकों में से दो श्लोकों के अनुवाद यहाँ प्रस्तुत किए गए हैं —

हे बुद्धिमान जन, शान्त-चित्तवाले युवा, अत्यन्त दयालु, अपनी अत्यन्त विमल सरसरी दृष्टियों से विघ्नों के पर्वत को नष्ट कर देनेवाले, समग्र संसार की रक्षा करने में कुशल, प्रणव (ॐ-कार) के माध्यम से विदित और परब्रह्म की अभिव्यक्ति — ऐसे गुरु विद्यातीर्थ को अपने हृदय-कमल में धारण करें।

शरीर, इन्द्रियों और चित्त की शुद्धि के लिए, गुरुओं और देवताओं से जुड़े कई संस्कार एवं उत्सव बनाए गए हैं। आपका शरीर उनका फल है।

परमगुरुजी ने उन श्लोकों को देते समय गुरुजी से कहा, "मैंने केवल वही लिखा है जो मैं निश्चित रूप से जानता हूँ कि वह आपके बारे में सच है। इसमें कोई प्रशंसा नहीं है।" गुरुजी ने अपनी ओर से ऐसा माना कि यह उनके प्रति परमगुरुजी का अत्यधिक प्रेम था, जिसके कारण परमगुरुजी उन्हें इस प्रकार देखा करते थे। यह तो एक अनन्य गुरु-शिष्य सम्बन्ध कहा जा सकता है!

परमपूज्य जगद्गुरु श्री अभिनव विद्यातीर्थ महास्वामी जी के निष्कलंक चरित्र, उदात्त गुण, तीव्र वैराग्य, भगवान और अपने गुरु के प्रति गहरी भक्ति, वेदान्त की समग्र समझ, गहन ध्यान, परब्रह्म का साक्षात्कार और जीवन्मुक्ति (जीवित रहते हुए संसार बन्धन से मुक्ति) ने उन्हें शास्त्रों में बताए प्रबुद्ध ऋषियों के विवरण का अनुपम जीवन्त प्रमाण बना दिया। असाधारण रूप से दयालु और अहंकार-रहित, वे एक उपगम्य गुरु थे, जिन्होंने अपने सम्पर्क में आने वाले शत-सहस्र लोगों के हृदय को छुआ, उनके दुःखों को घटाया, उन्हें सुख प्रदान किया और उनका उत्थान किया, यहाँ तक कि उन्हें सदैव सदैव संसार बन्धन से मुक्त कर दिया। उनका जीवन ही सभी के लिए एक अमूल्य शिक्षा है।

आमुख

परमपूज्य जगद्गुरु शङ्कराचार्य श्री अभिनव विद्यातीर्थ महास्वामी जी (गुरुजी), जो जगद्गुरु श्री आद्य शङ्कर-भगवत्पादाचार्य जी द्वारा स्थापित दक्षिणाम्नाय शृङ्गेरी श्री शारदा पीठ के 35वें पीठाधीश्वर थे, उनकी कुछ अमूल्य शिक्षाओं का संग्रह **'From Sorrows to Bliss'** नामक अंग्रेज़ी पुस्तक 'सेंटर फ़ॉर ब्रह्मविद्या' द्वारा 2020 में प्रकाशित किया गया था। उसका हिन्दी भाषानुवाद है यह **'दुःखों से परमानन्द तक'** ग्रन्थ। इस प्रकाशन में, परमपूज्य गुरुजी के बारे में एक सङ्क्षिप्त लेखन के बाद, उनकी अमूल्य शिक्षाओं को चार विभागों में — 'निश्चायक उत्तर', 'प्रेरणाप्रद कथाएँ', 'शास्त्रों का विशदीकरण' और 'सुतीक्ष्ण निबन्ध' — प्रस्तुत किया गया है।

हिन्दी मार्ताण्ड श्री के॰ वि॰ श्रीनिवास मूर्ति जी ने इस अनुवाद कार्य को अपना बहुत समय लगाकर शुद्धहृदय से पूरा किया है। श्री दिव्यसानु पाण्डेय जी ने विशेष रूप से विभाग-2 को श्रद्धापूर्वक सम्पन्न किया है। हम इन सज्जनों के प्रति अपने हार्दिक धन्यवाद एवं बधाई व्यक्त करते हैं। श्री दुर्गाप्रसाद पण्डा, श्रीमती अनघा अनिल किंजवडेकर, श्री सौरभ चौहान, डॉ॰ मंजुनाथ सुब्बण्ण, श्री अभिनन्द तथा श्री वि॰ सुब्रह्मणियन् — सबने इस ग्रन्थ को सज्जित करने में अपने बहुत परिश्रम लगाकर, नाना प्रकार की अपनी अपनी भूमिका निष्ठापूर्वक निभाईं हैं। हम आप सभी गुरुभक्तों के प्रति अपने अभिनन्दन और कृतज्ञता व्यक्त करते हैं।

गुरुजी के एक अन्य श्रद्धालु शिष्य को हमारा धन्यवाद, जिन्होंने इस पुस्तक के प्रकाशन के लिए प्रायोजन के रूप में उदारतापूर्वक धनराशि समर्पित की है।

शृङ्गेरी श्री शारदा पीठ के 36वें जगद्गुरु शङ्कराचार्य परमपूज्य जगद्गुरु श्री भारती तीर्थ महास्वामी जी एवं तत्करकमल-सञ्जात परमपूज्य जगद्गुरु श्री विधुशेखर भारती स्वामी जी के आशीर्वाद से इस डिजिटल प्रारूप को निःशुल्क उपलब्ध करने में हमें बहुत प्रसन्नता हो रही है।

परमपूज्य गुरुजी के अमोघ उपदेशों की इस डिजिटल प्रारूप को हम उन्हीं के चरणकमलों में प्रणामपूर्वक समर्पित करते हैं।

विद्याशङ्कर कृष्णन् — के॰ सुरेश चन्दर

डॉ॰ एच्॰ एन्॰ शङ्कर — डॉ॰ मीनाक्षी लक्ष्मणन्

न्यासिगण, **सेंटर फ़ॉर ब्रह्मविद्या**

विषयसूची

परमपूज्य जगद्गुरु श्री अभिनव विद्यातीर्थ महास्वामी जी iii

आमुख x

विभाग 1 - निश्चायक उत्तर 1

1.1 गुरु 3

1.2 ईश्वर 9

1.3 साकार ईश्वर की पूजा 12

1.4 मानसिक पूजा 13

1.5 गंगा 15

1.6 वेद 16

1.7 शरीर से आत्मा का अलगाव 22

1.8 पुनर्जन्म 24

1.9 विधि नियति और स्वतन्त्र इच्छा 27

1.10 धर्म 30

1.11 अहिंसा 38

1.12 लालसा का उन्मूलन 40

1.13 क्रोध पर विजय 42

1.14 कर्म-योग 43

1.15 भक्ति 47

1.16 वेदान्त-शास्त्र का अध्ययन 54

1.17 ब्रह्मचर्य 55

1.18 संन्यासी 59
1.19 मन को नियन्त्रित करना 61
1.20 ध्यान 65
1.21 निर्विकल्प-समाधि 72
1.22 नादानुसन्धान 77
1.23 लम्बिका-योग 79
1.24 कुण्डलिनी 83
1.25 अमनस्क-योग 85
1.26 माया 88
1.27 जाग्रत एवं स्वप्न अवस्थाएँ 94
1.28 बन्धन का स्वरूप 98
1.29 मोक्ष का उपाय 100
1.30 अद्वैत ग्रन्थों में मतभेद 101
1.31 ज्ञानी 102

विभाग 2 - प्रेरणाप्रद कथाएँ 107

2.1 लालसा का छलपूर्ण आक्रमण 109
2.2 क्रोध की हानिकारिता 111
2.3 धर्म का निर्णय वेद करते हैं 116
2.4 सत्यकथन पर आलोक 118
2.5 सत्य और मौन 119
2.6 सत्यशीलता के सूक्ष्म पहलू 120
2.7 वेदोच्चारण त्रुटिहीन होना चाहिए 125
2.8 माता-पिता और सन्तान 127

2.9 कृतज्ञता 129
2.10 दानपुण्य के लाभ 133
2.11 क्षमता के अनुरूप दान 135
2.12 भगवान राम और धर्म की गहराई 135
2.13 अदृश्य होते हुए भी ईश्वर का अस्तित्व है 146
2.14 एक व्याकुलता में नास्तिक 146
2.15 भगवान का दयापूर्ण न्याय 147
2.16 जीव है प्रतिबिम्ब और ईश्वर हैं मूलरूप 150
2.17 भक्तिमार्ग पर कोई भी चल सकता है 151
2.18 भगवान के रूप 154
2.19 मूर्ति पूजा पर आलोक 155
2.20 गोपुरम नम्रता को प्रेरित करते हैं 158
2.21 शिवरात्रि का महत्त्व 159
2.22 किस देवता की प्रार्थना करे 160
2.23 महान भक्त का लक्षण 161
2.24 एकाग्रता 162
2.25 भाग्य और स्वतन्त्र इच्छा 163
2.26 मन पर आहार का प्रभाव 175
2.27 गृहस्थ का आचरण कैसा होना चाहिए 177
2.28 कर्म-योग 179
2.29 सर्वोच्च के ज्ञान हेतु योग्यता 183
2.30 तृप्ति 185
2.31 ममत्व शान्ति का विध्वंसक है 186

2.32 आनन्द का स्रोत 189
2.33 भँवरों में फँसना 191
2.34 गुरु की आवश्यकता 192
2.35 सद्गुरु सभी पर निर्दोष रूप से कृपा करते हैं 193
2.36 जहाँ निन्दा एक आशीर्वाद है 197
2.37 प्रचुर गुरुसेवा को सद्गुरु पुरस्कृत करते हैं 206
2.38 मौन द्वारा शिक्षण 208
2.39 ब्रह्मा जी का परामर्श — "द, द, द" 209
2.40 विनम्रता की अनिवार्यता 210
2.41 शिष्यों की कुछ त्रुटियाँ 211
2.42 जिन शिक्षकों से बचना चाहिए 213
2.43 छद्म-अद्वैतियों का पाखण्ड 219
2.44 विघटन किए बिना अन्वेषण 222
2.45 सतही ज्ञान 222
2.46 सन्निकट वस्तु की उपेक्षा करना 223
2.47 उपनिषद् ज्ञान के निर्दोष साधन हैं 224
2.48 अवास्तविक वास्तविक को इंगित कर सकता है 226
2.49 पहचान का अभिज्ञान 226
2.50 बन्धन और मुक्ति का कारण — मन 227
2.51 सर्वस्व का परित्याग 232
2.52 जगत् का भ्रमात्मकत्व 236
2.53 एकत्व की दृष्टि 242
2.54 शुक जी के जीवन से शिक्षा 246

विभाग 3 - शास्त्रों का विशदीकरण 255

3.1 आठ उदात्त गुण 257

3.2 भक्ति के स्तर 262

3.3 प्रणाम करो, आत्मसमर्पण करो और धन्य बनो 264

3.4 भक्ति का अमृत 266

3.5 भगवद्गीता के मूलभूत तत्त्व 272

3.6 सच्चे और छद्म अद्वैतियों के बीच धरती-आकाश का अन्तर 274

3.7 परब्रह्म को जानने के लिए आवश्यक पूर्वापेक्षाएँ 277

3.8 सारी बुराई का स्रोत 280

3.9 तीन अशुद्ध वासनाएँ 283

3.10 ईश्वर, जगत् का कारण 289

3.11 ईश्वर न तो पक्षपाती है, न ही क्रूर 291

3.12 ब्रह्म का जगत् के रूप में पूर्ण परिवर्तन नहीं 295

3.13 सबसे बड़ा रहस्य 297

3.14 आत्मा स्वयं-ज्योति चैतन्य है 300

3.15 दिव्य नियोग वाले महापुरुषों की मुक्ति 303

विभाग 4 - सुतीक्ष्ण निबन्ध 309

4.1 ईश्वर की आराधना 311

4.2 शास्त्र की आवश्यकता का निरूपण 321

4.3 आत्मा का अपरोक्ष ज्ञान 329

विभाग 1

निश्चायक उत्तर

यह भाग गुरुजी से पूछे गए कई प्रश्नों और उनके उत्तरों का अभिलेख है। यहाँ प्रस्तुत अधिकांश संवाद तमिल में और बाकी हिन्दी और कन्नड़ में हुए, जिन्हें हिन्दी में दिया गया है। गुरुजी ने शास्त्रग्रन्थों की उक्तियों को संस्कृत में उल्लेख किया। उनका अनुवाद *तिरछे अक्षर* में प्रस्तुत किया गया है और सन्दर्भ-निर्देश पाद-टिप्पणियों के रूप में दिए गए हैं। संवादों को 31 शीर्षों में समूहित किया गया है और इसमें ऐसे उत्तर भी सम्मिलित हैं जो पहले हिन्दी भाषा में प्रकाशित नहीं किए गए हैं; जो पहले प्रकाशित हुए थे, उन्हें '**From Sorrows to Bliss**' ग्रन्थ के सङ्कलनकर्ता गुरुजी के शिष्य द्वारा नूतन रूप से सम्पादित किया गया है और भागशः क्रम बदलाव के साथ प्रस्तुत किया गया है। जैसा कि देखा जा सकता है, ध्यान के विभिन्न प्रकारों, समाधि (ध्यान की पराकाष्ठा), प्रबोध व एक जीवन्मुक्त (जीवित रहते हुए मुक्त) की स्थिति के बारे में, गुरुजी के उत्तरों में उनकी अपरोक्ष अनुभूति की छाप स्पष्ट है।

1.1 गुरु

शिष्य - क्या मुमुक्षु, यानी मोक्ष के इच्छुक, के लिए गुरु आवश्यक है?

गुरुजी - हाँ, बहुत ही।

शि - गुरु का विशिष्ट अभिलक्षण क्या है?

गुरु - गुरु को ज्ञानी, यानी सत्य को जानने वाले होना चाहिए। साथ साथ, उन्हें अपने शिष्य के कल्याण में अनुराग होना चाहिए।

शि - आजकल, कई लोग सन्त होने का ढोंग करते हैं। ऐसे में, सही गुरु को कैसे पहचाना जाए?

गुरु - गुरु को पहचानने के लिए कोई विशिष्ट नियम नहीं है। हमारी निष्ठा सच्ची हो, तो ईश्वर स्वयं हमें गुरु के पास ले जाते हैं। हम स्वयं देख पाते हैं कि वह व्यक्ति, जिसे हम अपने गुरु बनाना चाहते हैं, वास्तव में ज्ञानी है और हमारा भला चाहता है या नहीं। हालाँकि, इसे निश्चित करना कठिन है कि कोई व्यक्ति ब्रह्मज्ञानी है या नहीं, पर हम भगवद्गीता में दिए गए ज्ञानी के विवरण का उपयोग कर सकते हैं। लेकिन, ऐसा करते समय इस बात का स्मरण रखना चाहिए कि वह विवरण ज्ञानी को चुनने के लिए नहीं दिया गया है।

शि - अपने गुरु के प्रति साधक का मनोभाव कैसा होना चाहिए?

गुरु - साधक को गुरु, ईश्वर और आत्मा को एक दूसरे से भिन्न नहीं समझना चाहिए। कहा गया है —

उनको प्रणाम जो ईश्वर, गुरु और आत्मा के नाना रूपों में प्रकट होते हैं।[1]

शिष्य को सदैव अपने गुरु की आज्ञाओं का पालन करना चाहिए। यद्यपि अन्य लोगों के विचार विपरीत हो सकते हैं, तथापि उसे अपने गुरु के आदेशों को अन्तिम मानना चाहिए।

शि - क्या जिसने स्वयं ज्ञान प्राप्त नहीं किया है, वह किसी दूसरे को आत्मा का ज्ञान प्रदान कर सकता है?

---

[1] मानसोल्लास 1.30

गुरु - *आत्म-साक्षात्कार-रहित व्यक्ति द्वारा सिखाए जाने पर, गहराई से जाँच करने के बाद भी, आत्मा का यथार्थ ज्ञान नहीं होता। आत्मज्ञानी द्वारा सिखाए जाने पर, व्यक्ति मुक्त होता है।*[1]

शि - क्या एक आध्यात्मिक साधक के लिए अपने गुरु या ईश्वर पर प्रतिकूल टिप्पणी करने वाले दूसरों को सुनना अनुचित है?

गुरु - हाँ।

शि - ऐसी परिस्थिति में उसे क्या करना चाहिए?

गुरु - निन्दक प्रतिसंवेदी हो, तो वह उससे कह सकता है कि निन्दा न करे। अन्यथा, शिष्य को उस व्यक्ति की उपस्थिति छोड़ देनी चाहिए।

शि - गुरु के पास जाने और आध्यात्मिक जीवन जीने की इच्छा रखने वाले व्यक्ति को, गुरु की प्राप्ति से पहले क्या करना चाहिए?

गुरु - वह मानसिक रूप से ईश्वर का पूजन कर सकता है। ऐसा करने में कोई प्रतिबन्ध नहीं है। ऐसी मानसिक पूजा करने की विधि *मृत्युञ्जय-मानसपूजा-स्तोत्र*, *शिव-मानसपूजा-स्तोत्र* इत्यादि में विवृत है। अपने सभी कर्मों के फल को ईश्वर के प्रति समर्पित करके, उनके प्रति भक्ति विकसित करना अच्छा है। विवेक द्वारा दृढ़ वैराग्य प्राप्त किया जाना चाहिए। सही गुरु को पाने के लिए, सच्ची प्रार्थना प्रभावशाली होती है।

शि - साधना किस उम्र में प्रारम्भ करनी चाहिए?

गुरु - हम जितना शीघ्र आरम्भ करें, उतना अच्छा है। क्या प्रह्लाद और ध्रुव छोटे लड़के नहीं थे, जब उन्होंने अपनी साधना प्रारम्भ की थी?

शि - क्या लौकिक जीवन में रुचि रखने वाले व्यक्ति के लिए, गुरु का उपदेश आवश्यक है?

गुरु - क्या किसी रोग से पीड़ित व्यक्ति के लिए वैद्य आवश्यक है?

शि - हाँ।

गुरु - यदि कोई व्यक्ति सांसारिक जीवन में सुख चाहता है, तो क्या उसे वह उतना मिलता है जितना वह चाहता है? सर्वथा नहीं। सांसारिक सुख

[1] कठोपनिषद् 1.2.8

प्राप्त करने के लिए भी, मार्गदर्शन लेना क्या बुद्धिमानी नहीं होगी? एक तत्त्वज्ञानी के आशीर्वाद अत्यन्त प्रभावकारी होते हैं। इसलिए, जीवन की रीति चाहे जो भी हो, एक सन्त की कृपा और मार्गदर्शन को ढूँढना उचित है।

शि - कुछ लोग अपने गुरु के निर्देशों का पालन करना चाहते हुए भी, ऐसा सदा नहीं करते। उनका यह भी त्रुटिपूर्ण विचार है कि वे किसी अन्य माध्यम से सुख प्राप्त कर सकते हैं। ऐसे विचारों को कैसे रोकें?

गुरु - क्या एक लौकिक व्यक्ति भी, किसी सन्त के बारे में यह नहीं सोचेगा कि वे मुझसे कहीं अधिक ज्ञानी हैं?

शि - हाँ।

गुरु - क्या कोई गुरु अपने शिष्य की भलाई और कठिनाइयों पर विचार नहीं करेंगे?

शि - हाँ।

गुरु - गुरु हमारी भलाई चाहते हैं। वे हमसे बहुत अधिक जानते हैं। उन्होंने हमारी कठिनाइयों को समझा है। ऐसे में, अगर वे हमें कुछ परामर्श देते हैं, तो क्या यह हमारे अपने भले के लिए नहीं होगा? यदि शिष्य अपने मन में इस तरह के विचार को दृढ़ता से स्थापित करता है, तो वह अपने गुरु के निर्देशों के अनुसार कार्य करेगा। जब निर्देशों का पालन करने में कठिनाइयाँ आती हैं, तो उसे सोचना चाहिए, "उनकी आज्ञा का पालन मेरे लिए लाभदायक होगा।" फ़िर, हिचकिचाहट बन्द हो जाएगी।

शि - कुछ लोग अपने गुरु को अपनी समस्याओं को बताने से हिचकिचाते हैं। इसलिए उनकी आज्ञा का पालन करने में कठिनाई उत्पन्न होने पर, वे ऐसा सोचते हैं, "मेरे गुरु ने मेरी अपनी भलाई के लिए, मुझे यह परामर्श दिया है। लेकिन, उसके पालन करने में कुछ कठिनाइयाँ हैं। मेरी क्षमता सीमित है। ऐसे में, मैं उनके निर्देशों के अनुसार कैसे कार्य करूं?"

गुरु - यदि कोई व्यक्ति वैद्य के पास जाने पर अपनी अस्वस्थता के बारे में तथ्य छुपाता है, तो क्या यह सरासर मूर्खता नहीं है? इसलिए, हमें बिना किसी हिचकिचाहट के, अपनी कठिनाइयों को अपने गुरु को बताना चाहिए। यह

हमारा कर्तव्य है। ऐसा नहीं किए जाने पर भी, गुरु के ब्रह्मज्ञानी होने के नाते, उनके आदेश ईश्वर की इच्छा के अनुसार ही होंगे। ऐसे में, गुरु जो कुछ भी कहें, वह हमारे लिए उचित होगा। यदि हममें उनके आदेशों का पालन करने की क्षमता नहीं है, तो वह क्षमता भी गुरु की कृपा से हमें प्राप्त हो जाएगी। एक आदर्श शिष्य अपने गुरु के आदेशों के अनुसार काम करेगा और ऐसे विचारों को अवसर नहीं देगा, "क्या मेरे लिए गुरु की आज्ञा का पालन करना सम्भव है? क्या मैं कुछ और प्रयत्न करूँ?" अगर हम गुरु की आज्ञा का पालन करते हैं, तो इसका तात्पर्य यह नहीं है कि हम मूर्ख हैं। इसका केवल इतना ही अर्थ है कि हमने अपने आप को, अपनी भलाई के लिए, अपने से श्रेष्ठ शक्ति के सामने आत्मसमर्पण कर दिया है।

शि - क्या एक घोर पापी भी आध्यात्मिक जीवन में प्रगति पा सकता है, यदि उसे किसी महान गुरु की कृपा प्राप्त हो?

गुरु - यदि ईश्वर और गुरु के आशीर्वाद प्राप्त हो जाए, तो जघन्य से जघन्य पापी भी प्रगति प्राप्त कर सकता है। हालाँकि, हमें — "हम केवल अनुग्रह की शक्ति से ही, अपने जीवन में प्रगति प्राप्त करेंगे" — ऐसा सोचकर असावधान नहीं होना चाहिए।

शि - कभी-कभी, कई पाप करने वाले भी महापुरुषों की कृपा के पात्र बन जाते हैं। कई और लोग नितान्त नैतिक होते हैं। फ़िर भी, उन्हें समान आशीर्वाद से वंचित देखा जाता है। साधु पक्षपाती नहीं होते। तो, ऐसी विषमता क्यों देखी जानी चाहिए?

गुरु - हमें परिणाम से कारण का पता लगाना चाहिए। कोई व्यक्ति नैतिक रूप से दूसरे से हीन होता है। तथापि, वह अधिक मात्रा में ईश्वर की कृपा पाने वाला देखा जाता है। इसका कुछ कारण अवश्य होना चाहिए। वह क्या हो सकता है? कारण का विश्लेषण इस प्रकार किया जा सकता है — "यदि पापी के वर्तमान जीवन को देखा जाए, तो कोई कारण नहीं मिलता। लेकिन, केवल वर्तमान जन्म की जाँच अपर्याप्त है, क्योंकि इससे पहले भी जन्म हो चुके हैं। उन पूर्व जन्मों में उसने कई सत्कर्म किए होंगे। इसलिए वह इस जन्म में ईश्वर की कृपा प्राप्त

करने वाला बन जाता है। तो, इससे हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि यद्यपि वह इस जन्म में नैतिक जीवन नहीं जी रहा है, पर चूँकि उसे किसी सत्पुरुष की कृपा प्राप्त हो रही है, तो उसने अपने पूर्व जन्मों में बहुत पुण्य कमाया हुआ होगा।" ऐसा अनुमान लगाना सही नहीं है कि कोई सन्त पक्षपाती है। किसी जीवन्मुक्त (जीवित रहते हुए संसार बन्धन से मुक्त) व्यक्ति को पाने के लिए कुछ भी शेष नहीं रहता। इसलिए, वे — "मुझे यह व्यक्ति अच्छा लगता है। इसलिए मुझे उस पर अपना आशीर्वाद बरसाना चाहिए। दूसरा व्यक्ति मुझे प्रिय नहीं है। इसलिए मुझे उसे आशीर्वाद देने की आवश्यकता नहीं है"— ऐसी सोच रखते ही नहीं। वे किसी को आशीर्वाद दें या न दें, उससे वे कुछ भी प्राप्त नहीं करते, क्योंकि जो कुछ भी पाना है, उन्होंने उसे पा लिया है।

शि - यदि पिछले जन्म में अर्जित पुण्य के कारण ही किसी को दिव्य कृपा प्राप्त होती है, तो क्या कृपा पुण्य द्वारा "क्रय की गई" वस्तु नहीं बन जाएगी?

गुरु - दीये का आलोक उसके चारों ओर फैलता है। कोई उस प्रकाश में शास्त्रों का अध्ययन कर सकता है, जबकि दूसरा उसकी ओर ध्यान न देकर सो सकता है। महात्मा सदैव अपनी कृपा बरसाते रहते हैं। हर व्यक्ति अपनी अपनी मानसिकता के अनुसार, उसका लाभ उठा सकता है। यदि कोई किसी सरोवर में बड़े पात्र को ले जाए, तो वह बड़ी मात्रा में जल ला सकता है। केवल इसलिए कि एक छोटा पात्र थोड़ा पानी रख सकता है, एक पात्र ही सरोवर की सीमा नहीं बनता। इसी तरह, यदि किसी व्यक्ति ने अपने पिछले जन्म में पुण्य प्राप्त किया है, तो उसे एक महापुरुष का सत्संग मिल सकता है। हालाँकि, यह भी हो सकता है कि वह उस अवसर का पूर्ण लाभ न उठाए। और यह भी सम्भव है कि एक दूसरे व्यक्ति, जिसे पहले जैसा अवसर नहीं मिला हो, उपलब्ध अवसर का यथासम्भव अधिक से अधिक लाभ उठाकर, शीघ्र ही किसी सन्त का कृपापात्र बन सकता है।

शि - यदि गुरु ने अपने शिष्य को अपनी पादुकाएँ प्रदान करके आशीर्वाद दिया है, तो शिष्य को उनका सम्मान कैसे करना चाहिए?

गुरु - शिष्य का जो पूज्यभाव अपने गुरु के प्रति है, वही गुरु की पादुकाओं के प्रति होना चाहिए। प्रतिदिन पादुकाओं के समक्ष नतमस्तक होने के बाद, उसे उन पर चन्दन लेपना और फूल चढ़ाना चाहिए। पादुकाओं का प्रतिदिन अभिषेक करना अच्छा लग सकता है। लेकिन अगर वे लकड़ी से बने हों और यदि शिष्य उन्हें लम्बे समय तक रखना चाहता है, तो वह स्वयं ही इसका निर्णय कर सकता है कि प्रतिदिन अभिषेक करना कितना उचित होगा। यदि शिष्य अपने गुरु की पादुकाओं का निष्ठापूर्वक सम्मान करता है या सच्ची भक्ति से उनसे प्रार्थना करता है, तो उसे साक्षात् अपने गुरु की उपस्थिति में किए गए कार्यों का फल मिलेगा। इसलिए, शिष्य को कभी भी अपने गुरु की पादुकाओं के प्रति असावधान नहीं होना चाहिए।

शि - यदि कोई शिष्य अपने गुरु के पादुकाओं पर ध्यान करना चाहता है, तो उसे किस प्रकार आगे बढ़ना चाहिए?

गुरु - वह पादुकाओं से विभूषित अपने गुरु के चरण-कमलों पर ध्यान कर सकता है।

शि - अपने गुरु की उपस्थिति में शिष्य को अपना बर्ताव कैसे रखना चाहिए?

गुरु - अपने गुरु के प्रति शिष्य का पूज्य भाव होना चाहिए। उसे जब भी अवसर प्राप्त हो, तब गुरु की सेवा करनी चाहिए। हालाँकि, ऐसा करने से पहले, गुरु की अनुमति भी प्राप्त कर लेनी चाहिए। कोई स्पष्टीकरण आवश्यक होने पर, वह अपने गुरु से तब पूछ सकता है जब वे किसी कार्य में व्यस्त न हों। सदैव यह मानते हुए कि अपने गुरु से सीखना उसका परम सौभाग्य है, उसे अपने अध्ययन में सच्ची निष्ठा रखनी चाहिए। उसे सदैव अपने गुरु के आदेशों का ध्यान रखना चाहिए और उनके अनुसार अपना जीवन बिताना चाहिए।

1.2 ईश्वर

शिष्य - कुछ लोगों को सन्देह होता है कि ईश्वर का अस्तित्व वास्तव में है या नहीं। ऐसा इसलिए क्योंकि वे उन्हें देखने में असमर्थ हैं। क्या किसी न किसी प्रकार से, ईश्वर उन लोगों के समक्ष अपने अस्तित्व प्रकट नहीं कर सकते, ताकि उनमें विश्वास पैदा हो सके?

गुरुजी - लगता है कि ईश्वर स्वयं उलझन में फँस गए हैं। लोगों को दर्शन देना हो तो ईश्वर को कोई न कोई रूप धारण करना पड़ता है। उनका रूप देखकर लोग कह सकते हैं, "आप तो रूपवान है। अतः आप सर्वव्यापी नहीं हैं और ईश्वर नहीं हो सकते।" ईश्वर रूप धारण करके दर्शन नहीं देते, तो लोग कह सकते हैं, "हम ईश्वर को नहीं देखते हैं। इसलिए, ईश्वर नहीं हैं।" इस प्रकार, ईश्वर कोई रूप धारण करें या न करें, कुछ लोग ऐसे हैं जो ईश्वर में विश्वास नहीं करेंगे। ऐसे में, ईश्वर वस्तुतः क्या कर सकते हैं? विविधता जगत् का स्वभाव है। नास्तिकों के समूह भी हैं। ईश्वर में आस्था को प्रेरित और आगे विकसित किया जा सकता है, मगर उसे बलपूर्वक प्रेरित करने का प्रयास व्यर्थ होगा। तर्क दिए जा सकते हैं और कई भक्तजनों के वास्तविक अनुभव बताए जा सकते हैं। कई घटित अद्भुत घटनाएँ बताई जा सकती हैं। शास्त्रों में जो बताया गया है, उसे उद्धृत किया जा सकता है। इन सबके बाद भी, यदि कोई ईश्वर के अस्तित्व पर विश्वास न करे, तो क्या किया जा सकता है?

शि - क्या कोई भक्त ईश्वर को देख सकता है?

गुरु - क्या तुम्हारा तात्पर्य है कि किसी रूप सहित?

शि - हाँ।

गुरु - यद्यपि ईश्वर निराकार हैं, फ़िर भी अपने भक्तों के लिए रूप धारण कर सकते हैं। यदि हममें अपार भक्ति हो, तो हम अवश्य ईश्वर का रूप देख सकते हैं। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है।

शि - क्या गुरुजी का यह अभिप्राय है कि कोई ईश्वर के रूप का मानसिक रूप से दर्शन कर सकता है, या कि उन्हें अपनी आँखों से भी देख सकता है?

गुरु - दोनों तरह से दर्शन देने में ईश्वर सक्षम हैं।

शि - क्या गुरुजी कहते हैं कि ईश्वर देखे जा सकते हैं, उनसे बात की जा सकती है और उन्हें छुआ जा सकता है?

गुरु - हाँ। शुद्ध भक्ति हो, तो अवश्य भगवान स्वयं प्रकट होते हैं। जब ईश्वर प्रत्यक्ष होते हैं, तो कोई उनसे बात क्यों नहीं कर सकता?

शि - क्या इस कलियुग में भी ऐसा हो सकता है?

गुरु - किसी भक्त द्वारा भगवान के दर्शन पाने और कलियुग के बीच क्या सम्बन्ध है?

शि - ईश्वर के दर्शन कौन पा सकता है?

गुरु - जो केवल ईश्वर के लिए ही तरसता है, वह उन्हें देख सकता है। असीम भक्ति ईश्वर को हमारे पास आने के लिए विवश करती है।

शि - कोई कैसे जान सकता है कि ईश्वर से जुड़ा उसका अनुभव वास्तविक है या नहीं?

गुरु - जिसने वास्तविक अनुभव पाया है, उसे ऐसा सन्देह होगा ही नहीं।

शि - दूसरों के बारे में क्या है? क्या वे यह नहीं सोच सकते कि उसके अनुभव भ्रम या आत्म-सम्मोहन से उपजे हैं?

गुरु - जिसने अनुभव किया है, वह दूसरों द्वारा इसे स्वीकार न करने से क्या खोता है? उस व्यक्ति के अनुभव को दूसरों की स्वीकृति या अस्वीकृति तनिक भी प्रभावित नहीं करती। यद्यपि यह वस्तुस्थिति है, मैं तुम्हारे प्रश्न का एक अधिकतर सीधा उत्तर दूंगा।

मान लो कि ईश्वर अपने भक्त को दर्शन देते समय, कोई फल या अन्य वस्तु देते हैं। यदि ईश्वर के अन्तर्धान होने के बाद भी वह फल भक्त के पास रहता है, तो यह जाना जा सकता है कि वह अनुभव वास्तविक है। ऐसा अनुभव भक्त की मानसिकता को बदल देता है। भले ही अनुभव अल्प समय के लिए हो, लेकिन उसका प्रभाव लम्बे समय तक रहता है। और तो और, जिन्हें ऐसे अनुभव हुए हैं, वे दूसरों को बदलने में सक्षम हो जाते हैं। यदि कोई व्यक्ति, जिसे दिव्य अनुभव हुआ है, पूर्णतः स्वस्थ है,

तो वह अचानक से क्यों मनगढ़ंत बातें करना प्रारम्भ कर दे? किसी को आत्म-सम्मोहन के अन्तर्गत होना हो, तो वह कभी भी ऐसा कर सकता है। दूसरी ओर, चर्चित विशेष अनुभव जब भी वह चाहे नहीं होते। ऐसे विश्लेषण से, सच्चे अनुभव को मतिभ्रम से अलग किया जा सकता है।

शि - इस संसार में इतनी पीड़ा क्यों है? चूँकि ईश्वर ने इस संसार को बनाया है, इसलिए क्या वे इन क्लेशों के लिए उत्तरदायी नहीं हैं?

गुरु - मनुष्य अपने पिछले कर्मों के कारण ही दुःख भोगता है। व्यक्ति के कर्म फल देंगे ही। चूँकि मनुष्य के बुरे कर्म फल देने लगते हैं, तो वह इस जन्म में कष्ट झेलता है। यह कहना दोषपूर्ण है कि ईश्वर इन दुःखों का कारण है। मनुष्य को शास्त्रों के आदेशों का पालन करने या उल्लंघन करने की स्वतन्त्रता है। मनुष्य अपने कर्मों के फलस्वरुप पुण्य या पाप प्राप्त करता है और ईश्वर बस उन कर्मों के फल देते हैं। जब यह कहा जाता है कि पिछले जन्म का पाप ही इस जन्म में दुःख का कारण बनता है, तो कोई पूछ सकता है कि पिछले जन्म में झेले गए पीड़ाओं का क्या कारण है। इसका उत्तर है — "उस जन्म से पहले के जन्मों के कर्म।" चूँकि इस संसरण (जन्म-मरण चक्र) का कोई आदि नहीं है, तो सबसे पहले जन्म — जिसमें हमने बिना किसी कर्म के, जीवन प्रारम्भ किया — उसकी पहचान करने की अपेक्षा रखना अनुचित है। प्रत्येक कल्प के प्रारम्भ में ब्रह्माण्ड की रचना करते समय, ईश्वर वही प्रकट करते हैं जो पिछले कल्प में था। वे शून्य से नूतन सृष्टि नहीं करते।

शि - कहा जाता है कि ईश्वर भूत, वर्तमान और भविष्य से अवगत हैं। अगर वे जानते हैं कि क्या होने वाला है, तो इसका अर्थ यह है कि लोगों के भविष्य कर्म पूरी तरह से पूर्व-निर्धारित हैं। ऐसा हो, तो मनुष्य पूरी तरह से भाग्य नियति से बँधा होता है और उसे अपने कर्मों के लिए उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता है। वहीं दूसरी ओर, मनुष्य भविष्य को निर्धारित करने में स्वतन्त्र हो, तो भविष्य पूर्व-निर्धारित नहीं है। ऐसे में, ईश्वर भी निश्चित रूप से भविष्य नहीं जान सकते। तो कोई कैसे कह सकता है कि ईश्वर सर्वज्ञ हैं?

गुरु - यह संसार माया का खेल है, जबकि ईश्वर माया के नियन्त्रक हैं। इस अर्थ में, सब कुछ ईश्वर की इच्छा के अनुसार ही चलता है, जो कि मानव की स्वतन्त्र इच्छा एवं भाग्य के रूप में भी प्रकट होती है। अगर ऐसा माना जाए, तो ये दोनों बातें एक साथ सच हो सकती हैं कि ईश्वर सर्वज्ञ हैं और सब कुछ केवल भाग्य विधि के अनुसार ही नहीं होना चाहिए।

यह पहलू दूसरी तरह भी सोचा जा सकता है। मान लो कि एक बालक परीक्षा की कुछ भी तैयारी नहीं करता है। तो क्या हम निश्चित रूप से यह नहीं कह सकते हैं कि वह उत्तीर्ण नहीं होगा? मात्र इसलिए कि हम ऐसा कहते हैं, क्या यह कहा जा सकता है कि छात्र को पढ़ने या न पढ़ने की स्वतन्त्रता नहीं है? सर्वथा नहीं। उसी तरह, यदि हम मानें कि ईश्वर अपनी सृष्टि को पूरी तरह समझते हैं, तो भी यह कहने में कोई कठिनाई नहीं है कि ईश्वर सर्वज्ञ हैं और केवल भाग्य ही भविष्य का निर्णायक कारक नहीं है।

1.3 साकार ईश्वर की पूजा

विदेशी नागरिक (वि.ना.) - क्या हिन्दू कई देवताओं की पूजा करते हैं?

गुरुजी - हम मानते हैं कि परमात्मा एक ही हैं, जिनका कोई रूप नहीं है और जो पूरे ब्रह्माण्ड के सृजन, पालन और संहार के कर्ता हैं। हालाँकि, वे अपने भक्तों के लिए अनेक रूप धारण करते हैं। जिस किसी भी रूप या नाम से उनके भक्त उन्हें चाहते हैं, उसी तरह उनकी पूजा करते हैं। आपने इन्द्र इत्यादि के बारे में सुना होगा। ये शब्द दिव्य पदों का संकेत देते हैं, जिन पर अलग-अलग समय पर वे जीव बैठते हैं जिन्होंने पर्याप्त पुण्य अर्जित किया है। आपको ऐसे पदों पर रहने वालों को पहले बताए गए परमपुरुष से भ्रमित नहीं होना चाहिए।

वि.ना. - क्या गुरुजी कृपया मूर्तिपूजन के बारे में कुछ कहेंगे?

गुरु - हम केवल पत्थरों की पूजा नहीं करते। यदि ऐसा करते, तो हम पत्थर की मूर्ति को देखकर, "हे पत्थर," कहकर सम्बोधित करते, न कि "हे प्रभु।" इस बोध के साथ कि ईश्वर मूर्तियों में निवास करते हैं, हम उन्हें अपनी पूजा में सहायता के रूप उपयोग करते हैं। मन्दिरों में कुम्भाभिषेक द्वारा मूर्तियों की प्रतिष्ठा करने से, उनमें देवताओं का विशिष्ट सान्निध्य स्थापित किया जाता है। पूजा करने वाले अर्चक की निष्ठा एवं तपस्या से व कई मूर्तियों के विशेषताओं से, उसे सुदृढ़ किया जाता है। निराकार होते हुए भी, ईश्वर अपने भक्तों को दर्शन देने में सक्षम हैं; सचमुच देते भी हैं।

वि.ना. -पूजा करते समय, मैंने गुरुजी को शिवलिङ्ग पर जल, दूध इत्यादि चढ़ाते हुए देखा। इन कृत्यों का क्या आशय है?

गुरु - पूजा के समय, हम प्रथा के अनुसार, ईश्वर की आराधना करते हैं। इसमें हम उन्हें स्नान कराते हैं और वही अभिषेक था जिसे आपने देखा। हम उन्हें कपड़े से पोंछते हैं; फ़िर उन्हें भोजन कराते हैं। यद्यपि असीम और निराकार ईश्वर को किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं है, हमारी भक्ति से प्रेरित, हम मूर्तियों में उन्हें देखते हैं और उनकी आराधना करते हैं। आपके परिचित शब्दों में, अभिषेक एक "shower-bath" है जिसे हम ईश्वर को देते हैं।

1.4 मानसिक पूजा

शिष्य - कुछ लोग पूजा करने की इच्छा रखते हैं, लेकिन कोई उपयुक्त अवसर नहीं पाते हैं। वे ठीक से ध्यान भी नहीं कर पाते। ऐसे आध्यात्मिक साधक अपने मन को एकत्र केन्द्रीकृत करने हेतु, क्या कर सकते हैं?

गुरुजी - वे मानसिक पूजा कर सकते हैं।

शि - मानसिक पूजा क्या है?

गुरु - मानसिक पूजा मन में भगवान की पूजा है। फूल, धूप इत्यादि पूजा के लिए आवश्यक हैं। यहाँ हम इन सभी वस्तुओं की कल्पना करते हैं, अनुभव करते हैं कि ईश्वर पधारे हैं और उन्हें उन वस्तुओं को अर्पित करते हैं।

शि - मानसिक पूजा का अभ्यास कैसे करना चाहिए?

गुरु - भगवान पधारे हैं। मुझे उनका स्वागत करना है। मुझे उन्हें आसन देना है — ऐसी भावना से हम उनका स्वागत करते हैं और उन्हें आसन प्रदान करते हैं। आसन पर उनके विराजमान होने के बाद, हम उनके चरणों और हाथों को धुलाते हैं। फ़िर, आचमन के लिए उन्हें शुद्ध जल देते हैं। वे इसे स्वीकार करते हैं। फ़िर हम उन्हें नहलाते हैं। इस प्रकार, आगे बढ़ते हुए, हम मन में पूजा सम्पन्न करते हैं। इस विश्वास को बनाए रखते हुए कि वे सब कुछ स्वीकार कर रहे हैं, हम उनकी आराधना करते हैं।

शि - मानसिक पूजा के समय यदि भगवान का रूप स्थिर नहीं रहे, तो क्या करना चाहिए?

गुरु - व्यक्ति अपने सामने अपने इष्ट-देवता का चित्र रख सकता है। चित्र को देखते हुए, मानसिक पूजा की जा सकती है। कुछ समय बाद आँखें मूँदकर, यह सोचते हुए कि भगवान उस स्थान पर उपस्थित हैं, पूजा बनाई रखी जा सकती है। अगर मन में ईश्वर का रूप अस्थिर हो जाए, तो कुछ समय के लिए आँखें खोली जा सकती हैं।

शि - मानसिक पूजा करने में क्या कोई प्रतिबन्ध है?

गुरु - कोई प्रतिबन्ध नहीं है। यह किसी भी समय और किसी भी रूप से की जा सकती है। भगवान की मानसिक पूजा करने से, सुहावने परिणाम मिलते हैं। चित्त शुद्ध बनता है और उनकी कृपा मिलती है। मानसिक पूजा के बारे में जानकारी पाने के लिए, '*शिव-मानसपूजा-स्तोत्र*', '*मृत्युञ्जय-मानसपूजा-स्तोत्र*' जैसे स्तोत्रों का अध्ययन किया जा सकता है।

शि - क्या सभी को मानसिक पूजा का अभ्यास करने की अनुमति है?

गुरु - हाँ। इसमें कोई रोक नहीं है।

शि - कितनी देर तक मानसिक पूजा करनी चाहिए?

गुरु - कितनी भी देर। आरम्भ में लम्बे समय तक इसका अभ्यास करना कठिन हो सकता है। लेकिन अभ्यास करते करते, साधक इसमें अधिकाधिक आह्लाद पाता है।

1.5 गंगा

शिष्य - ऐसा माना जाता है कि गंगा जी व्यक्ति के पापों को धो देती है। क्या वास्तव में ऐसा है?

गुरुजी - हाँ। इसमें किसी भी सन्देह का क्या कारण है?

शि - यदि गंगा जी किसी व्यक्ति के पाप धो दें, तो क्या कोई भी पाप कर सकता है, और फ़िर गंगा में स्नान करके उससे मुक्त हो सकता है?

गुरु - गंगा जी में डुबकी लगाने से — अनजाने में किए गए पाप एवं जान-बूझकर एक बार किया गया पाप, जिसके बारे में हम पछतावा अनुभव करते हैं — वे सारे धुल जाते हैं। हालाँकि, "मैं इसे गंगा जी में स्नान करके धो लूँगा" — ऐसे सोचकर अपेक्षा रखना कि जानबूझकर किए गए पापों से भी छुटकारा पाया जाता है, न्याय संगत नहीं है। तथापि, किसी को भी गंगा जी की महानता के बारे में अणुमात्र भी सन्देह करने की आवश्यकता नहीं है। इस विश्वास के साथ कि गंगा-स्नान करने से वे पुनीत हो जाएँगे, करोड़ों लोग लम्बी दूरी की यात्रा करते हैं। ईश्वर उनके विश्वास को अपुरस्कृत नहीं होने देते।

इस सम्बन्ध में एक कहानी है। एक बार पार्वती ने शिव जी से पूछा कि क्या गंगा जी सारे लोगों के पाप हर लेगी? उत्तर के रूप में, शिव जी ने एक बूढ़े मनुष्य का रूप धारण किया और पार्वती को अपनी वृद्ध पत्नी के वेश में लेते हुए, गंगा जी के तट पर चले। शिव जी ने पार्वती से कहा, "मैं डूबने का नाटक करूँगा। आपको ज़ोर से शोर मचाना है।" पार्वती आसपास के लोगों का ध्यान आकर्षित करने हेतु चिल्लाई

और उनकी सहायता माँगी। लोग उन्हें बचाने दौड़ पड़े। हालाँकि, पार्वती ने सबको रोका और शिव जी द्वारा पहले ही निर्दिष्ट प्रकार, उनसे कहा, "जिसके पास तनिक भी पाप नहीं है, केवल वही मेरे पति को छू सकता है।" भीड़ में से केवल एक व्यक्ति ने, बिना किसी हिचकिचाहट के, गोता लगाया और शिव जी को बचा लिया। विस्मित होकर पार्वती ने बचाने वाले से पूछा कि क्या वह सारे पापों से मुक्त है। उसने उत्तर दिया, "आपके पति को बचाने के लिए, क्या मैं गंगा जी में प्रवेश नहीं किया? उसी क्षण मेरे सारे पाप धुल गए।" शिव जी ने फ़िर पार्वती से कहा, "गंगा जी में ऐसी आस्था रखने से, सभी के पाप निश्चित रूप से धुल जाते हैं।"

1.6 वेद

शिष्य - कहा जाता है कि वेद अनादि हैं। क्या ऐसा है?

गुरुजी - हाँ। वेद परमात्मा की साँस जैसे हैं।

शि - कुछ लोग कहते हैं कि वेद आर्यों द्वारा अनेक सहस्र वर्ष पहले रचाए गए थे और बाद में उपनिषदों को लिखा गया। क्या इस पक्ष को स्वीकार करने में कोई दोष है?

गुरु - यह दृष्टिकोण हमें स्वीकार नहीं है। यदि वेदों के लम्बे समय बाद उपनिषद् लिखे गए, तो वर्तमान में सर्वत्र तैत्तिरीय-उपनिषद् को तैत्तिरीय-आरण्यक के सातवें, आठवें और नौवें प्रश्नों के रूप में क्यों मानना चाहिए? अगर स्वीकार किया जाता कि तैत्तिरीय-उपनिषद् को किसी एक प्रदेश में और वेदों के बाद लिखा गया, तो सभी लोग इसे वेद का अभिन्न अङ्ग क्यों मानते? इसके अतिरिक्त, वे उसे उसी भाग के अन्तर्गत क्यों स्वीकार करें, जिसे उसे सौंपा गया है?

चलो, मान भी लेते कि वेद कई वर्ष पहले लिखे गए थे। तो क्या वेदों के 'रचनाकार' सच्चे थे या वे दूसरों को ठगना चाहते थे? वेद

स्वर्गप्राप्ति के साधन यागों के बारे में कहते हैं। यह ज्ञान हमें केवल वेदों से ही मिल सकता है। इसलिए, वेदों के 'ग्रन्थकार' निष्कपट होते, तो स्वर्ग पाने के लिए उन यागों के बारे में स्वयं नहीं लिख सकते थे। दूसरी ओर, उन्हें छली माने, तो उन्होंने स्वयं ये याग क्यों किए होंगे?

वेदों को सिखाने वाले इस पर विशिष्ट ध्यान रखते हैं कि वेद-पाठ में शब्दों या स्वरों में कोई त्रुटि नहीं होनी चाहिए। वे इतना आग्रह क्यों कर रहे थे? केवल इसलिए कि जिन्होंने उन्हें वेद पढ़ाया था, उन्होंने इन्हें निर्देश दिया था कि सटीक शब्द और उनके स्वर महत्त्वपूर्ण हैं और कोई भी त्रुटि होने पर लाभ नहीं मिलेगा। इस प्रकार यदि हम — एक वेद के एक छात्र से अपने वेद-गुरु, और फ़िर अपने गुरु के शिक्षक की ओर — ऐसे ही गुरु-शिष्य परम्परा के विपरीत क्रम में वेदों के तथाकथित ग्रन्थकारों तक जाएँ, तो यह देखा जाएगा कि उन्होंने भी यह विश्वास रखा होगा कि वेदों के स्वर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। वेदों के तथाकथित प्रणेताओं ने उचित स्वरों पर ज़ोर क्यों दिया, जबकि उसकी तुलना में स्वरों के बिना वेदों को सीखना आसान होगा? क्या ये इसलिए नहीं है कि वे जानते थे कि वेद पवित्र हैं और उनमें कोई भी बदलाव नहीं आना चाहिए? वे स्वयं द्वारा रचित ग्रन्थ को बहुत पवित्र नहीं मान सकते थे। इसलिए, वे वेदों के रचयिता नहीं हो सकते।

यहाँ तक कि विद्वान भी स्वीकार करते हैं कि रामायण की रचना अनेक सहस्र वर्ष पहले हुई थी। हमें पता है कि अयोध्या-वासी राम भी वेदों को जानते थे। हमें यह भी पता चलता है कि लंका पर शासन करने वाला रावण वेदों को जानता था। उस प्राचीन युग में भी वेद इतने व्यापक रूप से कैसे फैल सकते थे? वेदों की एक शाखा को सीखने में कई वर्ष लग जाते हैं। उन प्राचीन दिनों में वेदों का मौखिक अध्ययन किया जाता था, बिना किसी पुस्तक की सहायता के। इतने विस्तीर्ण प्रदेशों में वे फैल सकते थे एवं सस्वर पाठ प्रविधि को केवल तभी संरक्षित किया जा सकता था, जब सभी द्वारा, इस विश्वास के साथ कि वे पवित्र हैं, एक ही प्रकार से अध्ययन किया गया होगा।

यदि वेद आदिम लोगों द्वारा लिखे गए थे, तो वे इतना शक्तिशाली कैसे हैं? वैदिक साधनों द्वारा प्रतीयमानतः अचिकित्स्य रोगों को ठीक किया गया है। ऐसी घटनाएँ लोगों के सामने आ चुकी हैं। वेद मात्र पुराने काल में लिखे गए साधारण ग्रन्थ होते, तो उनमें ऐसा सामर्थ्य नहीं होता।

ऐसे बिन्दुओं के आलोक में, विश्वास के साथ हम वेदों को परम पुरुष परमात्मा की प्रत्यक्ष शिक्षा मानते हैं।

शि - यदि वेद परमेश्वर से उत्पन्न हुए, तो नाना वेदमन्त्रों से भिन्न-भिन्न ऋषियों के नाम क्यों जोड़े जाते हैं? वे ऋषि उन मन्त्रों के रचयिता हैं, हैं ना?

गुरु - ऋषि उन मन्त्रों के लेखक नहीं हैं, जिनके साथ उनके नाम जुड़े हैं। ऋषियों ने उन मन्त्रों के तत्त्व का प्रबोध भगवान से प्राप्त किया और उनकी जानकारी संसार में दी। उन्होंने मन्त्रों की रचना स्वयं नहीं की। ब्रह्मा जी ने अपनी मानव-सृष्टि के साथ ही वेदों का उपदेश दिया। स्वयं भगवान की अभिव्यक्ति होने के नाते, वेदव्यास जी ने कलियुग में लोगों की क्षमता की कमी को ध्यान में रखा तथा वेदों का वर्गीकरण किया।

शि - वेदों में हमें कई कहानियाँ मिलती हैं। क्या वे ऐतिहासिक घटनाओं के वृत्तान्त हैं?

गुरु - नहीं। ये कहानियाँ विश्व में घटित घटनाओं से सम्बन्धित नहीं हैं। वेद परमात्मा की साँस जैसे हैं; उनका कोई आदि नहीं है। इसलिए, वे किसी भी काल की ऐतिहासिक घटनाओं के अभिलेख नहीं हैं। उदाहरणार्थ, बृहदारण्यक-उपनिषद् में ऋषि याज्ञवल्क्य और सम्राट जनक के बीच एक संवाद है। ये किसी विशिष्ट काल में जीवित दो व्यक्तियों के बीच घटित संवाद का दोहराव नहीं है। यह किसी विशिष्ट समय घटित हुआ होगा जैसा कि वहाँ कहा गया है, पर यह नहीं कहा जा सकता कि इसी का उल्लेख उपनिषद् में किया गया है। वेदों में दी गई आख्यायिकाएँ (कहानियाँ) शास्त्र के उपदेशों को समझने में काम आती हैं।

शि - पुरातन काल से, क्रमिक विकास (evolution) की प्रक्रिया द्वारा, धीरे-धीरे मानव अस्तित्व में आया। प्रारम्भिक अवस्था में, उसका मस्तिष्क

आधुनिक मानव के मस्तिष्क की तुलना में, बहुत कम विकसित था। वह प्राकृतिक जीवन बिताता था। यथासमय, उसका मस्तिष्क वर्तमान स्तर तक सुधर गया। उसके बाद ही भगवान ने मानव को वेदों का उपदेश दिया होगा। क्या ऐसी प्रक्रिया में कोई दोष है? ऐसे मानने पर जीवाश्म वैज्ञानिकों (palaeontologists) के आविष्कार का विरोध नहीं होगा और, साथ ही साथ, यह बात स्वीकृत रहगी कि वेदों को ईश्वर ने सिखाया। इसके बारे में गुरुजी का क्या कहना है?

गुरु - यह समाधानकारक नहीं है। मानव की सृष्टि करते समय ही ईश्वर ने उसे वेदों का ज्ञान दिया होगा। भगवद्गीता में भगवान कृष्ण कहते हैं —

प्रारम्भ में, यज्ञों सहित मानव जाति की सृष्टि करके, प्रजापति ने कहा...[1]

यज्ञों के आधार वेद हैं। यज्ञों के अनुष्ठान के लिए वेदों की आवश्यकता है। तो, प्रभु के शब्दों का तात्पर्य यह है कि ईश्वर ने वेदों को सिखाया जब उन्होंने संसार बनाया। हम इस पक्ष को स्वीकार नहीं करते, तो कई सारे प्रश्नों के तर्कसंगत उत्तर नहीं दे पाएँगे। यदि आदिमानव वेद से पहले का था, तो निश्चित ही उसे धर्म और अधर्म का ज्ञान नहीं हुआ होता। धार्मिकता और अधार्मिकता की व्यवस्था भगवान ने आदिमानव को तब नहीं ज्ञात कराई थी, और ऐसे में, क्या भगवान उस समय उसके सारे कार्य को धार्मिक मानकर उसे पुरस्कार देते थे, अथवा उनको केवल अधार्मिक ही मानकर उसे दण्ड़ देते थे? यदि उस मनुष्य को अपने कार्यों के प्रतिफल के रूप में धर्माचरण का पुरस्कार ही मिलता था, तो हमें यह निष्कर्ष निकालने के लिए विवश होना पड़ता है — "वेद के अस्तित्व में आने से पहले, कोई जो कुछ भी किया, उसके लिए अच्छे फल मिलते थे; लेकिन वेद के प्रकटन के उपरान्त, व्यक्ति को अपने कुछ कार्यों के लिए अप्रिय फल भुगतना पड़ा।" क्या यह उचित है? और यही नहीं, क्या कोई यह निष्कर्ष स्वीकार कर सकता है कि वेद के प्रकटन से पूर्व, सदैव अच्छे फल मिलने के नाते, किसी को भी नरक में नहीं जाना पड़ता था, पर वेद के प्रकटन के बाद, नरक में जाने की सम्भावना पैदा हो गई?

[1] भगवद्गीता 3.10

यदि यह विचार स्वीकार किया जाता है कि सारे कर्मों के लिए बुरा फल प्राप्त होता था, तो भी विचित्र फसाव निकलेगा।

इसलिए, भगवान ने संसार की रचना करते हुए ही, वेद को प्रकट किया होगा। कहने का तात्पर्य यह है कि आरम्भ में ही ईश्वर ने धर्म और अधर्म का ज्ञान मानव को प्रदान किया होगा। इसलिए, यह मानना अनुचित है कि मानव के प्रकट होने के लम्बे समय बाद ही वेद प्रकट हुए।

शि - वैज्ञानिकों ने कई जीवाश्मों (fossils) को प्राप्त किया है, जो स्थापित करते हैं कि कई लाखों वर्ष पहले, विश्व में डाइनोसॉर रहते थे और उनका धरती पर बहुत प्रभाव था। इतना ही नहीं, जीवाश्म इत्यादि साक्ष्य सिद्ध करते हैं कि उसके बहुत समय के बाद, मनुष्य जैसे जीवजन्तु रहते थे जिनके मस्तिष्क आधुनिक मनुष्य के मस्तिष्क की तुलना में कम विकसित थे। क्या वेदों के बारे में पारम्परिक पक्ष को बनाए रखने के लिए, जीवाश्मों और ऐसे अन्य साक्ष्यों की अपरिहार्य रूप से उपेक्षा की जानी चाहिए? अथवा, क्या जीवाश्मों आदि को स्वीकार करते हुए भी, किसी तरह पारम्परिक पक्ष का युक्तिपूर्वक समर्थन करना सम्भव है?

गुरु - जीवाश्म इत्यादि की उपेक्षा करना आवश्यक नहीं है। यहाँ एक उदाहरण के आधार पर एक सम्भावित सुलह है। मान लो कि तुम अपने एक सपने में स्वयं को एक दस वर्ष वाले लड़के के रूप में पाते हो। क्या तुमको तर्कसंगत रूप से यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि तुम पहले एक शिशु रहे होगे?

शि - हाँ।

गुरु - क्या तुम्हारा स्वप्न उस समय प्रारम्भ हुआ जब तुम एक बच्चे थे?

शि - नहीं। मुझे एक दस वर्ष वाले बालक के रूप में दर्शाते हुए, सपना एकाएक आरम्भ हुआ।

गुरु - तो यह कहना भले ही तर्कसंगत हो कि सपने में तुमको एक छोटा बच्चा होना चाहिए था, फ़िर भी वास्तव में ऐसा नहीं था। क्या तुम सहमत हो?

शि - हाँ।

गुरु - सपने का आरम्भ एकाएक होने के कारण, काल में पीछे की ओर बहिर्वेशन करना उचित नहीं है। एक पारम्परिक पक्ष यह है कि विश्व अचानक एक सपने की तरह उत्पन्न हुआ। ऋग्वेद के अन्तर्गत 'नासदीय-सूक्त' के पाँचवें मन्त्र पर वेद-भाष्य में कहा गया है कि जिस प्रकार सूरज उदित होते ही प्रकाश सर्वत्र फैल जाता है, वैसे ही सृष्टि क्षणार्ध में हो गई। इसके अनुसार, यह सम्भव है कि मनुष्य विकसित मस्तिष्क के साथ प्रकट हुए हों। मैंने तुम्हें जो दिया, वह एक तरह के मेल-मिलाप की झलक है। कई अन्य सुलह भी दिए जा सकते हैं।

शि - क्या वेद को गुरु से ही सीखना अनिवार्य है? क्या कोई टेप-रेकॉर्डर जैसे संसाधनों की सहायता से स्वयं ही वेदमन्त्रों को सीख नहीं सकता?

गुरु - गुरु से ही वेद को सीखना चाहिए। इसीलिए कहा गया है —

वेद का कण्ठस्थ अध्ययन की पूर्ववर्ती है गुरु से कण्ठस्थ अध्ययन।[1]

यदि कोई वेदों को रेकॉर्ड किए गए टेप से सीखता है, तो वह सच्चा वेदाध्ययन ही नहीं होगा। एक तोते के 'इधर आओ' कहने पर, सामान्यतः कोई भी उन शब्दों को महत्त्व नहीं देता और उस तोते के पास नहीं जाता। दूसरी ओर, कोई मनुष्य उसे उन्ही शब्दों से पुकारे, तो वह उसके पास जाएगा। अन्तर शब्दों में नहीं, प्रत्युत वक्ता में ही है। गुरु के वेदोच्चारण को सुनकर शिष्य को ठीक उसी तरह दोहराना वेदाध्ययन का लक्षण है। यह रेकॉर्ड की गई ध्वनि की सहायता से सीखना नहीं है। रेकॉर्ड की गई ध्वनि में गुरु के वेदपाठ की पवित्रता और शक्ति नहीं होती।

शि - शिव-पूजा के समय, रुद्र-प्रश्न का पाठ किया जाता है और इन वेद मन्त्रों के महत्त्व के बारे में बहुत कुछ बताया गया है। हालाँकि, रुद्र-प्रश्न के कुछ मन्त्रों में भौतिक लाभार्थ प्रार्थनाएँ सम्मिलित हैं।

गुरु - तो क्या?

शि - क्या केवल मोक्ष का इच्छुक इन मन्त्रों का पाठ कर सकता है? अन्ततोगत्वा, उसे प्रार्थित लौकिक लाभों में अभिरुचि नहीं है।

---

[1] श्लोकवार्तिक 1.1.7.366

गुरु - शास्त्रों का कहना है कि संन्यासी भी श्रीरुद्र का पाठ कर सकते हैं। यह सुविदित है कि संन्यासियों को भौतिक वस्तुओं की इच्छा नहीं रखनी चाहिए।

शि - उन्हें रुद्र मन्त्र का पाठ करने की अनुमति कैसे दी जाती है?

गुरु - जब भी कोई वेद-मन्त्रों का पाठ करता है, तो इसका तात्पर्य यह नहीं कि उसे उनमें वर्णित वस्तुओं की इच्छा होनी चाहिए। श्रीरुद्र जैसे मन्त्र बहुत पवित्र हैं। यदि प्रार्थित वस्तुओं की आशा मन में नहीं है, तो चित्त-शुद्धि और ईश्वर की कृपा प्राप्त होती हैं। इसके अतिरिक्त, मन्त्र-पाठ करने से उन वस्तुओं को किसी पर नहीं थोपा जाता। अतः, संन्यासी भी रुद्र-प्रश्न का पाठ कर सकते हैं और उसके द्वारा ईश्वर की कृपा, चित्त-शुद्धि और परब्रह्म का ज्ञान पा सकते हैं।

1.7 शरीर से आत्मा का अलगाव

शिष्य - कई वैज्ञानिक मानते हैं कि चैतन्य का स्रोत जड़ वस्तु है। उनका विचार है कि जब जड़ वस्तु एक विशिष्ट अभिरूप, जैसे कि मस्तिष्क, प्राप्त कर लेता है, तो चैतन्य उभरता है। क्या यह तर्क अनुचित है?

गुरुजी - यह विचार प्राचीन चार्वाकमत जैसा है। यह सही नहीं है। वैज्ञानिक ऐसा क्यों कहता है कि जड़ पदार्थों से चैतन्य उत्पन्न होता है एवं चैतन्य नामक अतिरिक्त वस्तु है ही नहीं?

शि - क्योंकि चैतन्य वहीं पाया जाता है जहाँ शरीर का — या विशेष रूप से मस्तिष्क का — अस्तित्व है। जहाँ शरीर या मस्तिष्क नहीं है, वहाँ चेतना नहीं दिखती।

गुरु - ऐसा तर्क दोषपूर्ण है। प्रकाश के होने पर वस्तुएँ देखी जाती हैं। प्रकाश के न होने पर वे नहीं देखी जातीं। तो क्या यह निष्कर्ष निकालना सही होगा कि प्रत्यक्षण प्रकाश का धर्म है?

शि - प्रत्यक्षण प्रकाश का स्वभाव कैसे हो सकता है? नहीं।

गुरु - प्रत्यक्षण तो प्रकाश के होते हुए होता है, न कि उसके अनुपस्थिति में; तथापि, प्रत्यक्षण प्रकाश का धर्म नहीं है। वैसे ही, यद्यपि चैतन्य पाया जाता है जहाँ शरीर या मस्तिष्क विद्यमान है, व शरीर या मस्तिष्क के अनुपस्थिति में नहीं, तथापि चैतन्य शरीर या मस्तिष्क का धर्म नहीं है। चाँद स्वयं प्रकाश-रहित है। फ़िर भी रात में, हम चन्द्रमा में परावर्तित होने वाले सूर्य के प्रकाश का अनुभव करते हैं। सूर्य के प्रकाश को चाँदनी के रूप में अनुभव करते हैं। चाँद की तरह देह या मस्तिष्क अपने आप में चैतन्य-प्रकाश से रहित है; प्रत्युत चेतना की विशेष अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में काम करता है। प्रकाशमान सूर्य की तरह, चेतना — शरीर या मस्तिष्क के अतिरिक्त — स्वतन्त्र अस्तित्व रखती है।

शास्त्र सर्वश्रेष्ठ प्रमाण हैं। हमारे तर्क में निर्णयात्मकता नहीं है। कोई तर्क हमें सही एवं अभेद्य लगता होगा, लेकिन कोई अति बुद्धिशाली व्यक्ति इसके विरोध में तर्क दे दे, तो जो हमने सही सोचा था, उसे त्रुटियुक्त मानने के लिए विवश हो सकते हैं। और जिन तर्कों के कारण हमें अपना निर्णय बदलना पड़ा, उनको दूसरा तर्कशास्त्री दोषपूर्ण स्थापित कर सकता है। अतः, केवल तर्क निर्णायक नहीं बनता। शास्त्र पर आधारित तर्क निश्चायक होता है व उसी को अपनाना चाहिए। वेद भगवान से उपदिष्ट हैं और उन दोषों से मुक्त हैं जो उन्हें दोषयुक्त स्थापित कर सकते हैं। वे स्पष्ट बताते हैं कि चेतना जो आत्मा है, वह शरीर से अलग है। इसलिए, हमें इसे स्वीकार करना चाहिए। ज्ञानियों का यह अपरोक्ष अनुभव कि आत्मा शुद्ध चेतना है, शास्त्र सिद्धान्त से पूरी तरह से मिलता है। तथ्यतः, आत्मा वैज्ञानिक जाँच की परिधि से परे है, क्योंकि वह इन्द्रियातीत, निष्क्रिय, निर्गुण, निराकार तथा उसी वैज्ञानिक का वास्तविक स्वरूप है, जो उसे ठीक निर्धारित करना चाहता है। अतः, किसी भी वैज्ञानिक जाँच से आत्मा के अस्तित्व को झूठा ठहराने का प्रश्न ही नहीं उठता।

क्या कोई वैज्ञानिक निर्णायक रूप से प्रदर्शित कर सकता है कि जड़ पदार्थ से चेतना उत्पन्न होती है? नहीं। अभी तक किसी ने ऐसा नहीं

किया है। हम मान लें कि एक वैज्ञानिक यह दावा करता है कि उसने अपनी प्रयोगशाला में चेतना पैदा की है। बिना किसी सन्देह के, वह कैसे सिद्ध कर सकता है कि उसके द्वारा उपयुक्त जड़ पदार्थों में चैतन्य पहले ही निहित, मगर व्यक्त, नहीं था, और वह फ़िर केवल अभिव्यक्त हुआ? वह ऐसा नहीं कर सकता। चूँकि यह निर्णायक रूप से उसके द्वारा नहीं दिखाया जा सकता है कि अचेतन पदार्थ से चेतना उत्पन्न होती है, तो हमें उसके दावे को स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

निस्सन्देह, विज्ञान से हमें बहुत से लाभ मिलते हैं। हालाँकि, विज्ञान की बहुत उपयोगिता होने के कारण, यह निष्कर्ष नहीं निकलता है जैसे कुछ वैज्ञानिक मानते हैं — चेतना का आधार केवल भौतिक वस्तु है — वह सतर्क है और स्वीकृति के योग्य है। कुछ भी हो, यह सत्य नहीं है कि वैज्ञानिक भौतिकवाद को सिद्ध करता है। यह एक तथ्य है कि कई महान वैज्ञानिक आस्तिक थे और हैं। इसलिए, विज्ञान के प्रति समर्पण तो भौतिक पदार्थ के अतिरिक्त चैतन्य को नकार करने के लिए अवकाश नहीं देता।

हमारे शास्त्र बताते हैं और यह दिखाने के लिए कई कारण भी देते हैं कि आत्मा शरीर से अलग है। अतः इस विषय में हमें कोई सन्देह या भ्रम नहीं रखना चाहिए।

1.8 पुनर्जन्म

शिष्य - शास्त्र कहते हैं कि पुनर्जन्म है। क्या इसके पक्ष में कोई तर्कसंगत प्रमाण है?

गुरुजी - हाँ। पुनर्जन्म के समर्थन में कई तर्क दिए जा सकते हैं। इस संसार में एक व्यक्ति बहुत कष्ट उठाता है, जबकि दूसरा सुखी रहता है। कारण क्या है? हम ऐसे अन्तर छोटे बच्चों में भी देखते हैं, जिन्होंने इस जन्म

में ऐसा कुछ भी नहीं किया है जो उनके सुख या दुःख को सही ठहराता हो। ऐसे अन्तरों को सही ठहराने के लिए, हमें पुनर्जन्म के अस्तित्व को स्वीकार करना होगा। केवल यह कहना उचित है कि हम अपने पिछले जन्मों में हमारे द्वारा किए गए पापों के परिणामस्वरूप, दुःख झेलते हैं और हमारे अतीत के पुण्य कर्मों के कारण, अब हमें सुख है।

कुछ लोगों के पास अपने पिछले जन्मों की स्मृति होती है। मुझे पता चला है कि वैज्ञानिक इस पहलू की जाँच कर रहे हैं। कुछ अन्वेषित लोगों ने, अपने पिछले जन्मों को स्मरण करते हुए कुछ दृश्यों और घटनाओं का वर्णन किया, जिन्हें बाद में सत्यापित किया गया। किसी पूर्व अनुभव के बिना, ऐसे स्मरण कैसे पैदा हो सकते हैं? उनके तथ्यात्मक होने के अधीन, ऐसी स्मृतियाँ पुनर्जन्म के अस्तित्व का समर्थन करती हैं।

कुछ रोगों से छुटकारा पाने के लिए, हमारे शास्त्र कुछ प्रायश्चित्तों का वर्णन करते हैं। नियत प्रायश्चित्त कर्मों के अनुष्ठान से, उनका उपचार देखा जाता है। पूर्वर्जन्म सर्वथा नहीं होता, तो पिछले जन्मों के पापों को नष्ट करने हेतु किए गए प्रायश्चित्त कर्म, इस जन्म की अस्वस्थता को कैसे मिटा सकते हैं? यदि यह कहा जाए कि केवल विश्वास से ही रोग मिट जाता, तो इसे समझाया नहीं जा सकता कि विश्वास के साथ किया हुआ — लेकिन विहित नियमों के अनुसार नहीं — प्रायश्चित्त अभीष्ट फल क्यों नहीं देता।

कुछ नन्हे बच्चों में प्रतिभा और समझ देखी जाती है, जो उनकी उम्र के लिए असाधारण हैं। वे सामान्यतः ऐसी दक्षता प्राप्त नहीं कर सकते थे, और वह भी लगभग प्राकृतिक रूप से। हालाँकि, उन्होंने अपने पिछले जन्मों में ऐसे कौशल और ज्ञान प्राप्त कर लिए होंगे। इस तरह के बालप्रौढ़ बच्चों का उदाहरण पुनर्जन्म के अस्तित्व का पक्षधर है।

यदि हम पुनर्जन्म नहीं स्वीकार करते हैं, तो हम यह निष्कर्ष निकालने के लिए विवश होंगे — "ईश्वर पक्षपाती हैं, क्योंकि उन्होंने कुछ लोगों

को सुखी बनाए रखा है और कुछ लोगों को दुःखी। इसके अतिरिक्त, उन्हें कोई दया इसलिए नहीं है कि प्राणी दुःख का अनुभव करते हैं।" कोई भी ऐसे दोषों को ईश्वर से नहीं जोड़ता। इसलिए, पुनर्जन्म को स्वीकार करना तर्कसंगत है।

कोई मूर्ख भी एक गतिविधि में — उसके प्रयोजन से न प्रेरित होकर अथवा उसकी उपयोगिता के किसी भी विचार के बिना — संलग्न नहीं होगा। एक नवजात शिशु किसी से प्रशिक्षित हुए बिना भी, अपनी माँ का दूध पीता है। अनुमानतः, यह उसकी अभिज्ञता के कारण है कि माँ के दूध से सन्तुष्टि प्राप्त की जा सकती है। इस जन्म में पहली बार दूध चूसने से पहले, ऐसी जानकारी पैदा नहीं हो सकती थी। अतः, शिशु ने किसी पूर्वजन्म में यह ज्ञान पाया होगा। यह भी पुनर्जन्म की पुष्टि करता है।

अगर हम पुनर्जन्म को स्वीकार नहीं करते, तो यह कहना होगा कि मर जाने के बाद, मनुष्य सदैव स्वर्ग या नरक में रहेगा। क्या यह तर्कसंगत है? सर्वथा नहीं। नियम के अनुसार, जिसका आदि है, उसका अन्त अवश्य होगा। अतः स्वर्गवास का आरम्भ होने के नाते, उसका अन्त होना ही चाहिए।

इसके अतिरिक्त, उस बच्चे के सम्बन्ध पर विचार करे, जो अल्पायु में ही मर गया हो। उसने पुण्य या पाप अर्जित नहीं किया होगा। क्या बच्चे को नरक में दण्डित किया जाएगा अथवा उसे स्वर्ग में उठाया जाएगा? यदि वह नरक पहुँचता है, तो उसे अपनी ओर से बिना किसी दोष के सजा भुगतनी होगी। यदि हम दूसरे विकल्प, यानी स्वर्ग, को स्वीकार करते हैं, तो हमें यह स्वीकार करना होगा कि बच्चे को स्वर्गीय सुख का अनुभव होता है, भले ही उसके पास कोई पुण्य नहीं था। पुनर्जन्म को अस्वीकार करने से ऐसे अर्थहीन निष्कर्ष फलित होंगे।

मैंने यहाँ जो उल्लेख किया है, वे उन कारणों में से कुछ ही हैं, जो तर्क के आधार पर पुनर्जन्म को स्थापित करते हैं।

1.9 विधि नियति और स्वतन्त्र इच्छा

शिष्य - क्या हममें विधि नियति (भाग्य) बदलने की शक्ति है? एक ओर, शास्त्र कहते हैं कि व्यक्ति भाग्य पर विजय प्राप्त कर सकता है। उदाहरणार्थ, कहा जाता है —

वासनाओं की नदी शुभ और अशुभ मार्गों से बहती है। प्रयास और पौरुष से, इसे शुभ मार्ग पर निर्देशित करना चाहिए।[1]

यह दर्शाता है कि स्वतन्त्र पौरुष इच्छा तो भाग्य से अधिक शक्तिशाली है। पर दूसरी ओर यह भी कहा गया है —

(*भाग्य के अनुसार*) *जो नहीं होने वाला है, वह नहीं होगा। और जो होना है वह, अन्यथा नहीं होगा।*[2]

क्या गुरुजी कृपया स्पष्ट करेंगे?

गुरुजी - सबसे पहले, इसे समझना चाहिए कि 'भाग्य' या 'प्रारब्ध' क्या है। और साथ-साथ, इसे भी समझना चाहिए कि उसके फलने का कार्यतन्त्र क्या है। पिछले जन्मों के कर्म जो अब फल देने लगे हैं, वे इस जन्म के कारण हैं। इन्हीं कर्मों को 'प्रारब्ध' कहते हैं। प्रारब्ध व्यक्ति को अच्छे या बुरे मार्ग पर चलने के लिए विवश नहीं करता। कर्म, जो फल देने लगे हैं, धीरे-धीरे मन में इच्छा और द्वेष जैसी प्रवृत्ति को उत्तेजित करके व्यक्ति को प्रेरित करते हैं। इसलिए, भगवान कृष्ण ने कहा है —

हर व्यक्ति, यहाँ तक कि ज्ञानी भी, अपने स्वभाव के अनुसार कर्म करता है। प्राणियों को प्रकृति विवश करती है। नियन्त्रण क्या कर सकता है?[3]

इस श्लोक की व्याख्या करने के बाद, श्री शङ्कर भगवत्पाद जी इस आपत्ति पर विचार करते हैं — "यदि हर कोई प्रकृति द्वारा विवश होकर कार्य करता है, तो शास्त्रों के लिए सर्वथा अपि अवसर नहीं है। ऐसे में,

---

[1] योग-वासिष्ठ 2.9.30

[2] पञ्चदशी 7.168

[3] भगवद्गीता 3.33

शास्त्रों के 'धर्मी बनो' कहने का उद्देश्य क्या है?" फ़िर वे बताते हैं कि अगला श्लोक इसका उत्तर देता है। वह श्लोक कहता है —

हर इन्द्रिय में अपने अपने विषय के प्रति राग और द्वेष निहित हैं। किसी को उनके वश में नहीं आना चाहिए। सचमुच वे उसके शत्रु हैं।[1]

अतः, यह स्पष्ट है कि हम अपने राग-द्वेषों को जीतें, तो हम उनके अधीन नहीं रहेंगे। इसलिए, हमें अपने राग-द्वेषों को त्यागना चाहिए और फ़िर, स्वेच्छा से शास्त्रों की शिक्षाओं के अनुसार कार्य करना चाहिए। तुमने पूछा कि क्या प्रारब्ध को जीता जा सकता है? इसका उत्तर है, "प्रारब्ध को निश्चित रूप से जीता जा सकता है।" यदि ऐसा है कि प्रारब्ध को नहीं जीता जा सकता, तो किसी को अपने कर्मों के लिए उत्तरदायी सर्वथा नहीं ठहराया जा सकता। उसके पास कोई विकल्प नहीं होगा।

मैंने पहले कहा था कि अब जो कर्म फलित हो रहा है, वह प्रारब्ध है। वही तो हमारे पिछले जन्मों में किया गया कर्म है। इसलिए, भाग्य हमारे प्रयास से अधिक शक्तिशाली नहीं हो सकता। हम इस जन्म में उपयुक्त परिश्रम करके, अपने पूर्व कर्मों द्वारा निर्मित प्रवृत्ति को बदल सकते हैं। हालाँकि, हमारे पिछले जन्मों के कर्मों की प्रवृत्ति अधिक प्रभावशाली हो, तो हमें इसे उलटने के लिए आनुपातिक बलवत्तर प्रयास करने होंगे। विशेषकर यह सच है। निस्सन्देह, किसी की स्वतन्त्रता निरंकुश नहीं है।

रस्सी से वृक्ष से बँधी गाय, इसका एक उदाहरण है। वह केवल रस्सी की लम्बाई की सीमा तक ही स्वतन्त्र रूप से घूम सकती है। इससे पार नहीं जा सकती। इसी तरह, देश का भाग्य, दूसरे लोगों की स्वतन्त्र इच्छा और हमारे पूर्व कर्म हमारी स्वतन्त्रता की सीमा तय करते हैं।

एक व्यक्ति रेल में चढ़ सकता है, लेकिन रेल दुर्घटनाग्रस्त हो सकती है। इसी तरह, किसी ने कभी-कभी प्रश्न पत्र का सन्तोषजनक उत्तर दिया होगा, लेकिन हो सकता है कि अपेक्षित फल नहीं मिलता हो। इन सबको देखकर हमें चिन्ता के लिए अवसर नहीं देना चाहिए। आध्यात्मिक

[1] भगवद्गीता 3.34

जीवन में प्रयास से, अधिकतर कुछ भी पाया जा सकता है। किसी के भाग्य में गृहस्थ होना तय होने पर भी, वह गुरु के आशीर्वाद और अपने प्रयासों से, ब्रह्मचारी का जीवन जी सकता है और बाद में, संन्यासी का भी। पूर्व जन्मों में किए हुए कर्म का फल तो भोगना ही पड़ेगा, परन्तु ईश्वर की कृपा से प्रारब्ध की तीव्रता को कम किया जा सकता है। औषधि, जप, हवन, पूजन, ध्यान और सत्पुरुषों की संगत के माध्यम से प्रारब्ध के बुरे प्रभावों को अधिक मात्रा में कम भी किया जा सकता है।

शि - यदि किसी की कुण्डली के अनुसार उसकी आयु 80 वर्ष बताई गयी है, तो क्या इसका अर्थ यह है कि उसकी मृत्यु उस समय से पहले नहीं हो सकती? इसी तरह, किसी के लिए एक छोटा जीवन काल इंगित किया गया हो, तो क्या वह उस उम्र के पार नहीं जी सकता?

गुरु -किसी को भविष्यवाणी की अपेक्षा लम्बी या छोटी अवधि जीवित रहना सम्भव है।

शि - तो क्या गुरुजी का तात्पर्य है कि कुण्डली अनुचित रूप से पढ़ी गई है या फ़िर कुण्डली की रचना स्वयं त्रुटियुक्त है?

गुरु - नहीं।

शि - तो फ़िर कुण्डली के आधार पर जो भविष्यवाणी की जाती है, वह निष्प्रयोजक है। तो, ज्योतिष-शास्त्र से कोई लाभ नहीं है। क्या यह गुरुजी का दृष्टिकोण है?

गुरु - नहीं।

शि - क्या गुरुजी कृपया समझाएँगे?

गुरु - जन्म कुण्डली केवल पिछले जन्मों में किए गए कर्मों के प्रभाव को सूचित करती है। इस जन्म में हम अपनी स्वतन्त्र इच्छा का प्रयोग करके, निश्चित रूप से घटनाओं की दिशा को बदल सकते हैं। मार्कण्डेय की तरह हम ईश्वर की कृपा अर्जित करें, तो हम अपने भाग्य की अवधि की अपेक्षा, अधिक काल जी सकते हैं। इसी तरह, दोषपूर्ण मार्ग पर चलते हुए, हम अपने स्वास्थ्य बिगाड़ सकते हैं और कथित काल से पहले भी मर सकते

हैं। इसके अतिरिक्त, हम ज्योतिषियों को कहते सुनते हैं, "यह प्रायश्चित्त करे, तो दुष्कर्म का प्रभाव कम हो जाएगा।" यदि कुण्डली के निर्णय अपरिवर्तनीय हैं, तो ऐसे प्रायश्चित्तों का क्या उपयोग है?

किसी को भी कुण्डली से भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है। वह केवल आने वाले समय का एक संकेत है। भाग्य प्रतिकूल हो, तो हम उसको निश्चित रूप से बदल सकते हैं। और यह दूसरी बात ध्यान में रखनी होगी कि भाग्य भलीभाँति हमारे अनुकूल हो सकता है। ऐसे में हमारे प्रयास शीघ्र ही फलीभूत होंगे।

1.10 धर्म

शिष्य - कोई किस प्रकार तय करे कि धर्म क्या है और अधर्म क्या है?

गुरुजी - शास्त्रों में जो विहित है, सो धर्म है और जो निषिद्ध, सो अधर्म। धर्म के बारे में निर्णय करने में, मनु कहते हैं —

वेद, स्मृति (वेदों को आधार बनाकर ऋषि-प्रणीत ग्रन्थ), सत्पुरुषों का आचरण और अपने मानसिक सन्तुष्टि — ये चार धर्म के व्यक्त चिह्न हैं।[1]

वेद समस्त धर्म का आधार है। वेद के अनुरूप स्मृति भी प्रमाण (सही ज्ञान का एक वैध साधन) है। वेदों को प्रमाण माननेवाले सत्पुरुषों का आचरण भी प्रमाण है। इसके बाद, शास्त्र के अविरुद्ध हमारे मन की तुष्टि भी एक है। ये हमें यह निर्धारित करने में सक्षम करते हैं कि धर्म क्या है और अधर्म क्या है।

शि - क्या एक आचरण किसी परिस्थिति में धर्म, लेकिन दूसरे में अधर्म, नहीं हो सकता?

गुरु - हाँ, हो सकता है। इस सम्बन्ध में, हमें शास्त्रों का आलम्बन अवश्य लेना होगा। केवल तर्क से काम नहीं चलेगा। एक व्यक्ति किसी के घर से चोरी करने के बाद पकड़े जाने पर, तर्क दे सकता है, "मैंने एक समृद्ध व्यक्ति के

[1] मनुस्मृति 2.12

घर से ही चोरी की। उनके मानकों से यह नष्ट नगण्य है, जबकि इसने मुझे अपना पेट भरने का अवसर दिया है। इसलिए, इस चोरी में त्रुटि क्या है?" क्या कोई न्यायाधीश कभी इसे स्वीकार करेंगे? वे नहीं करेंगे, क्योंकि यह दण्ड संहिता के नियम के विपरीत है। न्यायाधीश उसे दण्ड देने के लिए बाध्य हैं। इसी तरह, वेद में सटीक कर्म के रूप में जो निर्धारित किया गया है, वह वास्तव में धर्म है। उसमें जो निषिद्ध है, वह अधर्म है। केवल तर्क के आधार पर इसके बारे में निर्णय करने की क्षमता हम में नहीं है।

शि - अगर हम अनजाने में कोई त्रुटि करते हैं, तो क्या हमें पाप लगेगा?

गुरु - ऐसा करते समय, यदि हम इस बात से अनजान हैं कि वह त्रुटियुक्त है, तो हमें अधिक पाप नहीं लगेगा। अज्ञान से किए गए कार्य से उत्पन्न पाप, स्वधर्म के आचरण द्वारा मिट जाता है। विशेष प्रायश्चित्त की आवश्यकता नहीं है। अज्ञान से किए गए पाप को धोने के लिए, भगवान की प्रार्थना भी प्रभावशाली है। जब किसी को यह जानने के लिए अवसर हो कि त्रुटि क्या है, लेकिन फ़िर भी उसे जानने के लिए वह प्रयास नहीं करे, तो पाप लगेगा ही। हमें कम से कम कुछ सीमा तक, जानने का प्रयास करना ही चाहिए कि शास्त्र में क्या सही और क्या त्रुटियुक्त कहा गया है।

शि - क्या सभी के लिए एक समान धर्म सुविधाजनक नहीं होगा? क्या ऐसा होना आवश्यक है — "यह इसके लिए धर्म है; वह दूसरे के लिए धर्म है?"

गुरु - मान लो कि विभिन्न प्रकार के लोगों के एक समूह को एक ही नाप की कमीज़ें वितरित की जाती हैं और हर एक को प्राप्त कमीज़ पहनना है। क्या ऐसा निर्देश देना उचित है और क्या ऐसा करना सभी के लिए सम्भव है? नहीं। लोगों के शरीर परिमाण को ध्यान में रखना चाहिए। इसी तरह, लोगों की क्षमता में असमानता को ध्यान में रखते हुए, उनके लिए अलग-अलग धर्म निर्धारित किए गए हैं। इस कारण से, यद्यपि धर्म में कुछ विविधता है, तथापि 'सामान्य-धर्म' सभी के लिए समान है।

शि - सामान्य-धर्म क्या है?

गुरु - मनु ने कहा —

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच और इन्द्रिय-निग्रह — मनु ने इन्हें सभी के लिए सामान्य-धर्म घोषित किया है।[1]

दूसरे को दुःख पहुँचाने की सोच भी नहीं लानी चाहिए। उस तरह के विचार रखना भी 'अहिंसा' का उल्लंघन होगा। ऐसा मानना त्रुटिपूर्ण है कि केवल शारीरिक पीड़ा पहुँचाना ही हिंसा है। दूसरा सामान्य-धर्म है 'सत्य', या सच्चाई। जो कथन दूसरे को दुःखदायक नहीं है और यथार्थ है, वह सत्य है। यदि तथ्य को इस प्रकार प्रकट किया जाए कि वह दूसरों को हानि पहुँचाए, तो वह सही नहीं है। अतथ्यात्मक हो, तो प्रिय वचन भी सत्य नहीं है। अतः, सत्य वचन वह है जो तथ्यात्मक होने के साथ-साथ, दूसरों का भला करता हो। दूसरों की वस्तुओं को चुराने से बचना 'अस्तेय' है। चोरी से बचने का तात्पर्य यह है कि किसी दूसरे व्यक्ति की वस्तु का मानसिक लालच भी नहीं करना चाहिए। "जो किसी दूसरे का है, वह उसके पास ही रहे। मैं अपना कुछ औरों को दूँगा" — ऐसी मानसिकता हमारी होनी चाहिए। 'शौच' पवित्रता है। यह दो प्रकार की होती है। एक है शारीरिक शुद्धता। नहाना और शुद्ध वस्त्र पहनना इस श्रेणी के अन्तर्गत है। दूसरी है मानसिक शुद्धता। कपड़े भले ही साफ हों, लेकिन अगर मन शुद्ध नहीं हो, तो सच्चा शौच सम्पन्न नहीं हो सकता। इसके बाद 'इन्द्रिय-निग्रह' आता है। जब कोई वस्तु दिखाई देती है या कोई ध्वनि सुनाई देती है, तो मन उसकी ओर आकर्षित हो सकता है। इन्द्रियों को अपने अपने विषयों की ओर जाने से रोकना 'इन्द्रिय-निग्रह' है। इन्द्रियों का संयम वास्तव में इन्द्रिय-निग्रह है। ये पाँच धर्म सभी के लिए समान हैं।

शि - क्या सामान्य धर्म का पालन करने से कोई लाभ है?

गुरु - धर्म का अनुकरण करने वालों को अच्छे फल अवश्य प्राप्त होंगे। इसलिए, मनुष्य के रूप में पैदा हुए प्रत्येक व्यक्ति को अनिवार्य रूप से धर्म का पालन करना चाहिए।

शि - हम देखते हैं कि बहुत से लोग अधर्म में लिप्त रहते हैं और यह भी कि वे केवल समृद्ध लाभ प्राप्त कर रहे हैं। इसका कारण पिछले जन्म के

[1] मनुस्मृति 10.63

कर्म हो सकते हैं। लेकिन वर्तमान के अधर्म कार्य फल देने जैसे नहीं लगते हैं। क्यों?

गुरु - यह कहना त्रुटियुक्त है कि एक अधार्मिक कार्य सर्वथा फलित नहीं होगा। वह फल अवश्य देगा, लेकिन कुछ समय बाद। ईश्वर की दया असीम है। वे पापी को अपने आप को सुधारने का अवसर देते हैं। यदि पापी नहीं सुधरता, तो वे उसे दण्ड देते हैं। अधर्म के फल के बारे में मनु ने कहा है —

किया गया अधर्म (दूध देने के लिए सिद्ध) गाय के विपरीत, तुरन्त फल नहीं देता; प्रत्युत दोहराए जाने पर, वह धीरे-धीरे (खेत में बोए गए बीज जैसे) फलित होकर, अधर्म करने वाले को पूरी तरह से नष्ट कर देता है।[1]

(विश्वासघात जैसे) अधर्म से व्यक्ति ऊपर-ऊपर से फलता-फूलता है, फ़िर (प्रभूत धन प्राप्त करके) समृद्धि पा लेता है और पश्चात्, शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर लेता है। लेकिन, अन्त में वह पूरी तरह से नष्ट हो जाता है।[2]

शि - धर्म का पालन करना बहुत कठिन हो, तो क्या किया जाए?

गुरु - चाहे कठिनाई कितनी भी क्यों न हो, लेकिन किसी को अपने मन को अधर्म की ओर नहीं जाने देना चाहिए। बहुत प्रयास से, धर्म का पालन करना चाहिए, क्योंकि इससे हमें लम्बे समय में लाभ ही मिलेगा। किसी की मृत्यु के बाद, उसके बन्धुजन मृत शरीर को त्यागकर चले जाते हैं। केवल धर्म और अधर्म ही साथ देते हैं। इसलिए, धर्म ही परलोक में, और अगले जन्म में इसी लोक में, हमें बचा सकता है। धर्म की रक्षा करने वाला कभी भी असहाय नहीं रहेगा। इसीलिए कहा जाता है —

धर्म उसकी रक्षा करता है जो धर्म की रक्षा करता है।[3]

यह पूर्णतः सच है। धर्म का फल तत्काल न देखे जाने पर भी, वह निश्चित रूप से अनुभव किया जाएगा। इसके अतिरिक्त, धर्म परिपालन हमारा कर्तव्य है। "क्या भगवान ने मुझे हर प्रकार की सुविधाएँ और सारे लाभ नहीं दिए हैं? क्या उन्होंने मुझे तब तक नहीं बचाया, जब मैं

[1] मनुस्मृति 4.172

[2] मनुस्मृति 4.174

[3] महाभारत 3.31.7 (BORI critical edition)

अपनी माँ के गर्भ में असहाय था? क्या मुझे उनके प्रति कृतज्ञ नहीं होना चाहिए?" — इस भाव से, व्यक्ति को ईश्वर की साँस के समान वेद के आदेश के अनुसार कार्य करना चाहिए। कम से कम, इसी दृष्टिकोण से धर्म का पालन करना चाहिए।

शि - वेदों में विहित यज्ञों को करने के लिए बहुत धन की आवश्यकता होती है। तो एक निर्धन व्यक्ति को धर्म का पालन करने का अवसर कैसे मिले?

गुरु - शास्त्रों में कहा गया है कि व्यक्ति को अपनी क्षमता के अनुसार धर्म का पालन करना चाहिए। एक धनवान, धर्म पालन में, एक मन्दिर बना सकता है। कोई निर्धन हो, तो वह धनिक व्यक्ति द्वारा निर्मित मन्दिर में जा सकता है, अपना प्रणाम समर्पित कर सकता है और पुण्य कमा सकता है। अतः दोनों वर्गों के लोगों के लिए, धर्म में लगे रहने का अवसर है। अन्तर केवल पालन किए जाने वाले धर्म के विवरण में है। अगर एक निर्धन व्यक्ति एक अच्छे काम के लिए एक रुपया देता है, तो उसे बड़ा पुण्य मिलता है, लेकिन एक धनवान केवल एक रुपये का दान दे, तो उसे उसी प्रमाण में पुण्य नहीं मिलेगा।

शि - हम कुछ ऐसे लोगों को देखते हैं जो अपने अनुष्ठान से चिपके रहते हैं, लेकिन दूसरों को कष्ट देते हैं। क्या यह स्वीकृत है?

गुरु - नहीं। यह कहा जाता है —

करोड़ों ग्रन्थों में बताई गई बात को मैं केवल आधे श्लोक में बताऊँगा। दूसरों की सहायता करना पुण्य है। दूसरों को कष्ट देना पाप है।[1]

अगर कोई दूसरे को दुःख पहुँचाता है, तो वह निश्चित रूप से पापी है। हालाँकि, यदि कोई व्यक्ति यह सोचकर धर्म से दूर रहता है कि धर्म का पालन न करने पर ही उससे दूसरे लोग प्रसन्न होंगे, तो वह अनुचित है। कारण यह है कि यद्यपि शास्त्र आदेश देते हैं कि किसी को भी क्लेश दिए बिना धर्माचरण करना है, 'किसी को भी' का आशय है, 'किसी सज्जन को भी'। हमारी ईश्वर-पूजा नास्तिक के लिए अप्रिय हो सकती

[1] नित्य-नीति 34

है। लेकिन उसके कारण, हमें पूजा नहीं छोड़नी चाहिए। हम इसे बनाए रख सकते हैं, लेकिन हमें नास्तिक को गाली देने से बचना चाहिए।

शि - सामाजिक और नागरिक नियमों का पालन नहीं करने पर पाप नहीं लगेगा और इसलिए, क्या एक आध्यात्मिक आकांक्षी के लिए उनका पालन करना आवश्यक है?

गुरु - इन विनियमों का उतनी ही सच्चाई से पालन किया जाना चाहिए जितना की शास्त्रों के आदेशों का। ये नियम हमारे ही द्वारा, और वह भी केवल अपनी ही सुविधा के लिए, बनाए गए हैं। इसलिए, एक बुद्धिमान व्यक्ति का इनका पालन नहीं करना उसके लिए शोभा नहीं देता।

शि - इन नियमों का पालन न करने से, कोई पाप कैसे लगेगा?

गुरु - हो सकता है कि कोई पाप न हो, पर यदि हम इन आचार नियमों का उल्लंघन करें, तो हमें यथोचित दण्ड भोगना पड़ेगा। उदाहरणार्थ, सड़क में गाड़ी बाईं ओर चलाने का एक नियम है। यदि हम इस नियम पर ध्यान न दें, तो दुर्घटना हो सकती है। यह निश्चित रूप से एक तरह का दण्ड है।

शि - समय के बीतने के साथ, शास्त्रीय आदेशों का सख्त पालन करना कठिन हो गया है। क्या इस कठिनाई को ध्यान में रखते हुए, शास्त्रों में कुछ बदलाव नहीं लाया जा सकता?

गुरु - हमें अपने विचारों में कभी भी कमबीन नहीं होना चाहिए। मात्र इसलिए कि घूस लेना एक सामान्य बात हो गयी है, तो क्या इसकी अनुमति के लिए विधि निर्माण करना हमारे लिए उचित होगा? इससे तो उसको और बढ़ावा ही मिलेगा। इसी प्रकार, हमें शास्त्रों में परिवर्तन लाने की दिशा में प्रयास नहीं करना चाहिए। हमारे जीवन-यापन में बदलावों के होने का सोच-विचार हमारे शास्त्रों में निहित है। "जहाँ तक हो सके, पालन करें" — यह उनकी अनुमति है। भगवान कृष्ण ने कहा है —

इस धर्म का अल्प मात्र पालन भी, महाभय से बचाता है।[1]

[1] भगवद्गीता 2.40

इसके आलोक में, हम शास्त्रों को बदलने के प्रयास को कैसे सही ठहरा सकते हैं?

इसके अतिरिक्त, जो शास्त्रों में परिवर्तन लाना चाहता है, उसे भूत, वर्तमान एवं भविष्य का ज्ञाता होना चाहिए। कर्मों के फल देने वाली प्रक्रिया को जाने बिना, हम शास्त्रों को कैसे बदल सकते हैं? हम बस नहीं कर सकते। ऐसा इसलिए क्योंकि हम निश्चित रूप से यह कहने में असमर्थ हैं, "इसका पालन करे। भले ही यह अभी कठिन हो, तो भी तुम्हें इससे बाद में लाभ होगा।" हमें इसका ज्ञान नहीं है कि अगले जन्म में हमारे लिए क्या रखा है, और न ही हम पिछले जन्मों की घटनाओं से अवगत हैं। संक्षेप में कहा जाए तो हम सर्वज्ञ नहीं हैं और इसलिए, हम शास्त्रों को बदलने में असमर्थ हैं।

शि - कई स्थानों पर अतिरुद्र, सहस्र-चण्डिका इत्यादि महायाग किए जा रहे हैं। उन पर खर्च होता है। कुछ लोग इस पर आपत्ति जताते हैं कि यागों पर पैसा नष्ट करने के बदले, वह धन शोषित लोगों के उत्थान में लगाया जा सकता है। क्या यह आपत्ति वैध है?

गुरु - इन यागों पर खर्च तो भौतिक सुखों पर हम जो कुछ भी खर्च करते हैं, उसका एक नगण्य अंश है। हम इस पर भी आपत्ति कैसे लगा सकते हैं? साथ ही, हमारी पवित्र भेंटों से प्रसन्न होकर, ईश्वर हम पर अपना आशीर्वाद देते हैं, जो हमारे भेंटों से कई गुना अधिक है। उदाहरणार्थ, अतिरुद्र से प्रसन्न होकर, ईश्वर समय पर पर्याप्त वर्षा देते हैं। इसलिए, यह नहीं कहा जा सकता है कि यागों पर होने वाला खर्च व्यर्थ है।

हम बीज बोते हैं और फ़सल पाते हैं। इसके विपरीत, क्या यह कहना समझदारी है कि बीज बोना व्यर्थ है और इसके बदले, हम बीजों को खा सकते थे? बीज बोने के समान, याग हमें बहुमूल्य फल देते हैं। शास्त्र किसी निर्धन व्यक्ति से बहुत खर्च वाला यज्ञ करने की अपेक्षा नहीं करते। "हमारे द्वारा जितना सम्भव हो सके, हमें उतना धर्म का पालन करना चाहिए" — यह शास्त्र विधि इसका एक संकेत है। अतः, यज्ञों में किया गया खर्च हमारी उन्नति के लिए है। इन व्ययों को व्यर्थ मानना अनुचित है।

शि - कुछ लोग आरोप लगाते हैं कि हिन्दू धर्म बताता है कि किसी को अपनी भलाई के लिए क्या करना चाहिए, परन्तु इसके बारे में नहीं कि दूसरों के लिए क्या करना चाहिए। इस पर गुरुजी का क्या विचार है?

गुरु - यह विचार त्रुटिपूर्ण है। हमारे शास्त्रों में मोक्ष प्राप्ति के लिए, चित्तशुद्धि को अनिवार्य बताया गया है और चित्तशुद्धि के लिए, दया आवश्यक है। दूसरों के कष्टों को दूर करने में दया प्रकट होती है। अतः, यह कहना त्रुटिपूर्ण है कि दूसरों की सहायता करना हमारे शास्त्र में नहीं कहा गया है। हमारे शास्त्र कहते हैं कि हमें अहंकार से छुटकारा पाना चाहिए और सभी के प्रति समदृष्टि रखनी चाहिए। हमारे इतिहासों और पुराणों में भगवान के अवतारों की बात की गई है। भगवान ने कई बार अवतार क्यों लिया? क्या उन्हें किसी न किसी से अपेक्षा थी? नहीं। वे केवल दूसरों के लिए प्रकट हुए। श्रीराम और श्रीकृष्ण जैसे अवतारों में जो दया उन्होंने दिखाई, वह हमारे लिए आदर्श है।

भगवान ने भगवद्गीता में निर्दिष्ट किया है कि किस प्रकार का भक्त उन्हें बहुत प्रिय है। उन्होंने कहा है —

वह जो सब भूतों में द्वेषभाव-रहित, मैत्रीपूर्ण, करुणावान, ममता-रहित, अहंकार-रहित, सुख-दुःखों की प्राप्ति में समान और सहनशील है...[1]

इस श्लोक में सिखाया गया है कि किसी के प्रति घृणा नहीं होनी चाहिए और सभी के प्रति मैत्री और करुणा बनाए रखनी चाहिए। हमारी प्रार्थना है —

सभी सुखी रहें।[2]

मित्र और शत्रु में कोई भेद नहीं किया जाता है। हम सभी प्राणियों की भलाई के लिए प्रार्थना करते हैं।

शास्त्रो में कथित मोक्ष के मार्ग के अन्त तक जो पहुँच चुके हैं, ऐसे ब्रह्म-ज्ञानियों के लिए कोई बन्धन सर्वथा नहीं है और उनके लिए विश्व केवल

[1] भगवद्गीता 12.13

[2] श्रीमद्रामायण-पारायण-समापन-श्लोक 1

एक दिखावा है। फ़िर भी, वे दयापूर्ण होते हैं। वे निश्चल रहते हुए भी, अपनी उपस्थिति मात्र से, विश्व का बहुत भला करते रहते हैं। उनके जैसा बनना हमारा लक्ष्य है।

1.11 अहिंसा

शिष्य - जैसा कि अहिंसा को शास्त्रों ने एक प्रमुख धर्म के रूप में निर्धारित किया है, क्या इसे सदैव और सभी परिस्थितियों में मनाया जाना चाहिए?

गुरुजी - शास्त्र दो प्रकार के — व्रत और महाव्रत — संकल्पों के बारे में बात करते हैं। महाव्रत वह है जिसका सदैव सभी स्थितियों में पालन करना आवश्यक है। व्रत के विषय में समय और परिस्थिति के विचार लागू हो सकते हैं। संन्यासी को महाव्रत के रूप में अहिंसा का पालन करना चाहिए। दूसरों के लिए वह व्रत है। जिसमें दया नहीं, वह मनुष्य ही नहीं। सन्तप्त जीवियों के प्रति सभी को दया करनी चाहिए।

शि - हम अनजाने में कुछ कीडों को मार देते हैं। अतः, हम अहिंसा के पालक कैसे हो सकते हैं?

गुरु -जानबूझकर किसी को हिंसा न करने के अहिंसा व्रत का पालन किया जा सकता है — यह मेरे कहने का तात्पर्य था। दूसरों को हानि पहुँचाने की सोच भी अहिंसा का उल्लंघन है।

शि - अगर एक बिच्छू या विषैला साँप किसी को हानि पहुँचाने के उद्देश्य से उसके पास आता है, तो क्या अहिंसा का पालक होने के नाते, उस समय उस व्यक्ति को केवल देखते रहना चाहिए?

गुरु -नहीं। वह साँप या बिच्छू को हटा सकता है।

शि - क्या वह अहिंसा का उल्लंघन नहीं होगा?

गुरु -नहीं, क्योंकि उसने केवल स्वयं को बचाया और किसी को जानबूझकर चोट नहीं पहुँचाई।

शि - अगर कोई दब्बू है तो क्या दूसरे इसका लाभ उठाकर उसको नहीं ठगेंगे? क्या वे विभिन्न प्रकारों से क्लेश पैदा नहीं करेंगे?

गुरु - व्यवहार में तो अनुचित मात्रा में कोमलता अनावश्यक है। यह सच है कि एक संन्यासी को सारे दुःखों का सहन, बिना उपालम्भ के, करना चाहिए। हालाँकि, व्यावहारिक जीवन बिताने वाले व्यक्ति के लिए, यथोचित कोमलता पर्याप्त है।

शि - अगर कोई मुझे बिना किसी कारण के कष्ट देता है, तो मुझे क्या करना चाहिए?

गुरु - मानसिक रूप से शान्त रहते हुए, तुम आपत्ति उठा सकते हो अथवा क्रोध का दिखावा कर सकते हो। तुम्हें क्रोध को अवसर नहीं देना चाहिए जिससे तुम अपना आत्म-नियन्त्रण खो दो। मेरे कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि तुम्हें सदैव गुस्सा दिखाना चाहिए। जहाँ तक हो सके, धैर्य रखो। कुछ सीमा पार किए जाने पर ही क्रोध का दिखावा करो।

(*आगे के प्रश्न एक सैनिक के हैं, जिन्होंने देश की सेना में सेवा की थी।*)

शि - चूँकि मैं बहुत से लोगों की मृत्यु के लिए उत्तरदायी हूँ, क्या मुझे पाप लगेगा?

गुरु - नहीं।

शि - क्या हत्या निषिद्ध नहीं है?

गुरु - क्या आपने द्वेष के कारण उनको मार डाला?

शि - नहीं।

गुरु - आपने केवल अपना कर्तव्य निभाया और आपको दिए गए आदेशों का पालन किया। आपने वह कार्य अपने राष्ट्र के लिए किया, न कि अपने लिए। क्या ऐसा नहीं है?

शि - हाँ।

गुरु - इसीलिए मैंने कहा कि आपको पाप नहीं लगेगा। आपने किसी को घृणा के नाते या स्वार्थ हेतु मार डाला होता, तो आप पापी होते। लेकिन, आप अपने राष्ट्र के लिए अपने कर्तव्य पर डटे रहे। भगवान कृष्ण ने अर्जुन से

कहा — "क्षत्रिय के लिए एक धर्मयुद्ध करना श्रेयस्कर है, पापप्रद नहीं।" आप सैनिक भगवान से उल्लेखित क्षत्रियों के पद पर हैं।

1.12 लालसा का उन्मूलन

शिष्य - कई आध्यात्मिक आकांक्षी तृष्णा पर विजय पाने का प्रयास करते हैं, लेकिन उनकी इच्छाएँ बार-बार उछलती रहती हैं। इसका क्या कारण है?

गुरुजी - आशाओं पर विजय पाने के लिए, सबसे पहले उस आशय का दृढ़ संकल्प होना चाहिए। एक ब्रह्मचारी को अपराह्न में न सोने का परामर्श दिया जा सकता है। उस परामर्श को पालन करने का दृढ़ निश्चय उसमें नहीं हो, तो सम्भवतः वह कुछ दिनों तक अपराह्न में नहीं सोएगा; मगर किसी दिन थकान अनुभव किए जाने पर वह सोच सकता है, "केवल मेरे आज सोने से क्या दोष है?" इसलिए, एक आध्यात्मिक आकांक्षी में लालसाओं पर विजय पाने का दृढ़ संकल्प होना चाहिए। कुछ साधक विवेक का अभ्यास नहीं करते हैं। फ़िर भी, वे अपनी इच्छाओं के लुप्त होने की आकांक्षा रखते हैं। वे लुप्त नहीं होंगी। इसका कारण यह है कि उनका वैराग्य सुप्रतिष्ठित नहीं है। वैराग्य विवेक से उत्पन्न होता है और जब वैराग्य की जड़ें गहरी हो जाती हैं, तो लालसाएँ पूरी तरह पराजित हो जाती हैं। इच्छाओं पर विजय पाने के लिए, अन्य आध्यात्मिक साधनाओं का भी निष्ठापूर्वक अभ्यास करना चाहिए। प्रारम्भिक चरणों में, हो सकता है कि किसी को प्रवृत्ति नहीं हो, लेकिन यदि वह उन्हें उस कारण छोड़ देता है, तो उसकी लालसाएँ कैसे दूर होंगी? साधक को कर्म-योग, मानसिक-पूजा, ईश्वर का चिन्तन इत्यादि का निष्ठापूर्वक अभ्यास करना चाहिए। यदि ध्यान का भी अभ्यास किया जाता है, तो वह अत्यधिक प्रशंसनीय है। शास्त्रों का अध्ययन महत्त्वपूर्ण है।

शि - इच्छाएँ कभी-कभी शान्त हो जाती हैं और ऐसा लगता है कि उन पर विजय प्राप्त कर ली गई है, लेकिन वे एकाएक प्रकट हो जाती हैं। क्या इसका कोई कारण है?

गुरु - मैं तुम्हें एक उदाहरण देता हूँ। मान लो कि एक स्प्रिंग है जिसका एक छोर एक भित्ति से लगा हुआ है। जब हम इसको दूसरे सिरे से खींचते रहें, तो वह ढीला होकर लम्बा हो जाता है। जैसे ही हम उसे खींचना बन्द करते हैं, तो वह अपनी पूर्व स्थिति में आ जाता है। मन संसार की भित्ति से जुड़े स्प्रिंग के समान है। बल से खींचे गए स्प्रिंग की तरह, प्रयत्न से दबाया गया मन कुछ समय तक शान्त रहता है। लेकिन छोड़े गए स्प्रिंग जिस प्रकार अपनी पूर्व स्थिति में पलटता है, उसी तरह दबाव से मुक्त मन, फ़िर से अविनयशील बन जाता है। जब कोई इच्छा अपना सिर उठाती है, तो कुछ आध्यात्मिक साधक यह सोचकर दबा देते हैं, "मुझे इस वक्त इसके लिए स्थान नहीं देना चाहिए।" यह इच्छा मन में कुछ समय के लिए झुककर रहती है और बाद में अवसर मिलने पर विस्फुटित हो जाती है। इसलिए, आध्यात्मिक साधकों को इच्छा की प्रकृति को समझना चाहिए, स्पष्ट रूप से यह बोध होना चाहिए कि वह उनके लिए हानिकारक है और उसका उन्मूलन के उपायों का अभ्यास करना चाहिए। यदि उसकी जड़ को काट दिया जाए, तो उसके अचानक पैदा होने का कोई अवसर नहीं रहता। जिसके लिए इच्छा से छुटकारा पाना कठिन हो, उसके लिए सत्संग (आध्यात्मिक महात्माओं की संगत) आवश्यक है। महापुरुषों के प्रभाव से, उनके पास आदर से आने वालों का मन शान्त हो जाता है। शास्त्रों का समर्पणपूर्वक अध्ययन करना चाहिए। वे सिखाते हैं कि इन्द्रिय-विषय वास्तव में सुखदायक नहीं हैं। यद्यपि हमें शास्त्रों में विश्वास है, हमारा विश्वास सामान्यतः पक्का नहीं है। इसलिए, कभी-कभी हमारे मन में अनुचित विचार आते हैं जैसे, "मैं इस विषय का उपभोग क्यों न करूँ?" ऐसे विचारों से छुटकारा पाने के लिए भी शास्त्रों का बार-बार अध्ययन करना महत्त्वपूर्ण है।

1.13 क्रोध पर विजय

शिष्य - क्रोध पर विजय कैसे पाई जाती है?

गुरुजी - "मुझे अपने गुस्से से कोई लाभ नहीं। यह व्यक्ति मुझे डाँट रहा है। मैं इससे क्या खोता हूँ? कुछ भी नहीं। तो मैं क्रोध के लिए स्थान क्यों दूँ?" — इस तरह की सोच रखने से, क्रोध अन्ततः क्षीण हो जाता है।

शि - क्या ऐसा सोचना पर्याप्त है?

गुरु - अधिक सोच की आवश्यकता हो सकती है। "यदि मैं इस निन्दक को अपने क्रोध के कारण गाली दूँ, तो सम्भवतः मुझे ऐसा लगेगा कि मैंने प्रभुत्व स्थापित कर लिया है। हालाँकि, क्या वास्तव में मैं अपने क्रोध का दास नहीं बन गया? एक प्रतिद्वन्द्वी पर हावी होने के प्रयास में, मैं दूसरे से हार गया हूँ। क्रोध न केवल मुझ पर हावी होता है, मेरी बुद्धि को भी बिगाड़ देता है और मुझे वह करने के लिए प्रेरित करता है जो मुझे नहीं करना चाहिए। मैं इस क्रोध का दास क्यों बनूँ? किसी को गाली देने की अपेक्षा, क्रोध के नियन्त्रण से मुझे मिलेंगे बहुत अधिक लाभ और सन्तुष्टि" — ऐसा सोचना चाहिए। यदि कोई सतर्क हो, तो क्रोध के आगमन को समझा जा सकता है। उसके उदय का पूर्वानुमान लगाने से, उसके प्रकट होने से पहले ही उसे नियन्त्रित करने का प्रयास किया जा सकता है। क्रोध के उद्भव को पहचाने जाते ही, आधा क्रोध कम हो जाएगा। हालाँकि, बहुत से लोग अपने क्रोध के भभक उठने के बाद ही उसके बारे में जानते हैं। ऐसे लोग भी क्रोध के भभक उठने से पहले ही, उसको भाँपने की प्रकृति विकसित कर सकते हैं।

शि - क्या क्रोध आध्यात्मिक प्रगति में अड़चन डालता है?

गुरु - हाँ। भगवान ने काम, क्रोध और लोभ को नरक के तीन द्वार बताए हैं। क्रोधित व्यक्ति नहीं सोचता है की वह क्या कर रहा है और यहाँ तक कि हानिकारक कदम भी उठाता है। अन्ततः, वह पाप अर्जित करता है। उसके पापों के द्वारा, क्रोध उसे नष्ट कर देता है। अतः, क्रोध को कोई अवसर नहीं देना चाहिए।

शि - क्या 'क्रोध के लिए अवसर न देना' — इसका फलितार्थ यह है कि कोई अधिकारी अपने अधीनस्थों को कोई सख्त आदेश नहीं दे सकता?

गुरु - जहाँ कहीं भी आवश्यक हो, निर्देश दिए जाने चाहिए। अन्यथा, कार्यालय जैसे स्थानों पर एक अधिकारी सम्भवतः समर्थ नहीं होगा। 'क्रोध को अवसर नहीं देना चाहिए' — इसका अर्थ केवल यह है कि — "मैं इस व्यक्ति को हानि पहुँचाऊँ, या तो उससे प्रतिशोध लूँ" — इस प्रकार की सोच को स्थान नहीं दिया जाना चाहिए। प्रारम्भ में, आदेश शान्तिपूर्वक दिए जा सकते हैं। उनका पालन न होने पर तो हो सकता है कि यह समझाने के लिए कि उन्हें पालन किया जाए, कठोर भाषा का उपयोग करना पड़े। हालाँकि, क्रोध को बढ़ने और अपनी शान्ति को उलटने का अवसर नहीं दिया जाना चाहिए।

1.14 कर्म-योग

शिष्य - आध्यात्मिक जीवन में कर्म की क्या भूमिका है?

गुरुजी - कर्मों के फल के प्रति आसक्ति के बिना ईश्वरार्थ कर्म किए जाने पर चित्तशुद्धि प्राप्त होती है।

शि - यदि परिणामों के प्रति लगाव नहीं है, तो क्या कार्य कुशलता के बिना नहीं किए जाएँगे? जब किसी को सफलता या असफलता में अनुराग नहीं रहता, तो वह अपनी सर्वश्रेष्ठ क्षमता के अनुरूप काम नहीं करेगा। क्या यह तर्कसम्मत निष्कर्ष नहीं है?

गुरु - सर्वथा नहीं। एक अनासक्त आध्यात्मिक आकांक्षी अपने कार्यों को ठीक-ठीक करेगा, क्योंकि वह भगवान को अर्पण के रूप में अपना कर्तव्य करता है। क्या कोई भक्त भगवान को वह अर्पण करना चाहेगा जो अनुचित है? नहीं। जो कर्म-योग का अभ्यास करता है, वह बुरे

कर्मों में लिप्त नहीं होगा। इसके अतिरिक्त, वह सभी कार्यों को प्रभु को अर्पित करेगा। ईश्वर की भक्ति के नाते, वह अपनी उच्चतम क्षमता के अनुसार कार्य करने का प्रयास करेगा। इसके विपरीत, जो कर्मों के फल के प्रति आसक्त है, वह लालसाओं में फँस जाएगा।

शि - क्या शास्त्रों में भी इसके बारे में कहा गया है?

गुरु -हाँ। कृष्ण भगवान ने कहा है —

लगाव से मुक्त, अहंकार-रहित, दृढ़ता और उत्साह सहित, एवं सफलता और असफलता से अप्रभावित व्यक्ति सात्त्विक कर्ता कहा जाता है।[1]

शि - यदि कोई व्यक्ति इस विचार के साथ कार्य करता है कि ईश्वर के प्रति फलों को समर्पित करने से अपने प्रयासों में सफलता सुनिश्चित होगी, तो क्या वह कर्म-योग का अभ्यासी है?

गुरु -नहीं, क्योंकि उसने वास्तव में कर्म के फल के प्रति लगाव का त्याग नहीं किया है।

शि - कर्म-योग का अभ्यास किस कारण से कठिन होता है?

गुरु -वस्तुओं के प्रति आसक्ति और ईश्वर के प्रति भक्ति की कमी। एक आसक्त व्यक्ति कह सकता है कि उसने सब कुछ ईश्वर को समर्पित कर दिया है, लेकिन वास्तव में, वह ऐसा नहीं कर पाएगा। भगवान के प्रति दृढ़ भक्ति के न होने पर, "सब कुछ समर्पित होना चाहिए। ऐसा करना मेरा कर्तव्य है" — ऐसी भावनाएँ नहीं होंगी। मनोयोगपूर्वक कर्म-योग के अभ्यास को यह कठिन बना देता है।

शि - क्या फल के प्रति अनासक्त होना पर्याप्त है या सब कुछ सकारात्मक रूप से भगवान को समर्पित करना भी आवश्यक है?

गुरु - कर्म-योग होना हो, तो सब कुछ उन्हीं को समर्पित कर देना चाहिए।

शि - क्या गुरुजी कृपया यह दिखाने के लिए एक उदाहरण देंगे कि कैसे फल की तीव्र इच्छा बाधक हो सकती है और कर्म-योग का अभ्यास करने वाला कैसे अपने कर्तव्य का पालन उचित प्रकार से कर सकता है?

---

[1] भगवद्गीता 18.26

गुरु - मान लो कि एक छात्र परीक्षा देता है और वह सफलता के लिए बहुत इच्छुक है। यदि वह किसी एक विषय में अच्छा प्रदर्शन नहीं करता, तो क्या होगा? वह चिन्तित हो जाता है। वह अगले दिन की परीक्षा में भी सम्भवतः ठीक नहीं करेगा। यह उसकी निरन्तर चिन्ता का कारण है कि उसने पिछली परीक्षा में अच्छा प्रदर्शन नहीं किया था। इसके विपरीत, जो अनासक्त है, वह पूरे मनोयोग से प्रस्तुत करता है। चूँकि वह बिना किसी चिन्ता के पढ़ता है, वह श्रेष्ठतर कार्य करेगा। इसके अतिरिक्त, रुचि की कमी से पीड़ित नहीं होगा। वह अनुभव करेगा, "मैं ईश्वरार्थ करता हूँ। इसलिए, कम से कम इसे अपना बाध्यकारी कर्तव्य मानकर, मुझे सच्चा होना चाहिए।" यदि वह किसी प्रश्न का सही उत्तर नहीं दे पाता, तो भी वह चिन्ता में नहीं डूबेगा।

शि - कर्म-योग के अभ्यास का अधिकारी कौन है?

गुरु - कोई भी कर्म-योग का अभ्यास कर सकता है। कर्म-योग के अभ्यास से, मन बहुत शुद्ध हो जाता है। ईश्वर के प्रति भक्ति गहरी होती है। सत्य का बोध शुद्ध मन में ही होता है। अतः, सभी को निरन्तर कर्म-योग की सहायता लेनी चाहिए। इसका लाभ सभी उठा सकते हैं।

शि - क्या केवल कर्मों के फल को ईश्वर के प्रति समर्पित करना पर्याप्त है, या स्वयं कर्मों को भी समर्पित करना चाहिए?

गुरु - कर्मों को ही समर्पित करना श्रेष्ठ है। यह सम्भव नहीं हो, तो कम से कम फलों को समर्पित करना चाहिए। भगवद्गीता में प्रभु उत्तरोत्तर सरल प्रथाओं के एक क्रम का वर्णन करते हैं। उन्होंने कहा है —

अपना मन मुझमें स्थापित करो। अपनी बुद्धि मुझ पर केन्द्रित करो। तुम मुझमें ही रहोगे। इसमें कोई संशय नहीं है।

अगर तुम अपना मन दृढ़ता से मुझ पर स्थिर रखने में समर्थ नहीं हो, तो बार-बार अभ्यास से मुझ तक पहुँचने का प्रयास करो।

अगर तुम बार-बार अभ्यास करने में भी असमर्थ हो, तो मेरे लिए कर्म करो। मेरे वास्ते कर्म करने से भी, सिद्धि को प्राप्त करोगे।

अगर तुम ऐसा करने में भी असमर्थ हो, तो केवल मेरी शरण में आकर, संयत-चित्त होकर सारे कर्मों के फल मुझे समर्पित करो।[1]

शि - यदि कोई कर्म-योग में लगा हुआ है, तो क्या वह कई कर्म करेगा?

गुरु - उसे वह आवश्यक नहीं है। क्रियाओं को छह श्रेणियों में वर्गीकृत किया जा सकता है। वे हैं — (1) *नित्य-कर्म*, (2) *नैमित्तिक-कर्म*, (3) *काम्य-कर्म*, (4) *निषिद्ध-कर्म*, (5) *उपासना-कर्म*, तथा (6) *प्रायश्चित्त-कर्म*।

नित्य-कर्म वह है जो नियत समय पर नियमित रूप से करना होता है। सन्ध्यावन्दन इसका एक उदाहरण है। *नैमित्तिक-कर्म* किसी आवर्ती समय नियम द्वारा निर्धारित नहीं होता। ग्रहण के समय जो कुछ कर्म करने हैं, वे इसके उदाहरण के रूप में उद्धृत किए जा सकते हैं। *नित्य* और *नैमित्तिक कर्म* शास्त्रों द्वारा विहित हैं। उनको न करने से पाप लगता है। *काम्य-कर्म* वह है जो एक इच्छा की पूर्ति के लिए किया जाता है। शास्त्र ऐसे कर्म को अनिवार्य नहीं बताते। कोई केवल अपनी इच्छा के नाते इन्हें करता है। *निषिद्ध-कर्म* वह है जिसका शास्त्र निषेध करते हैं। चिन्तन से जुड़े कर्म *उपासना-कर्म* है। अन्त में, पाप को सुलझाने के लिए अनुष्ठित कर्म *प्रायश्चित्त-कर्म* है। इन छह प्रकारों को केवल चार श्रेणियों में सरल बनाया जा सकता है — *नित्य-कर्म, नैमित्तिक-कर्म, काम्य-कर्म* और *निषिद्ध-कर्म*। किसी को भी निषिद्ध-कर्म नहीं करना चाहिए। *काम्य-कर्म* छोड़ा जा सकता है। हालाँकि, *नित्य* और *नैमित्तिक-कर्म* अवश्य करना चाहिए। जो कर्म-योग का अभ्यास करता है, वह सभी प्रकार के कार्यों में नहीं उलझता है। जो भी कर्म आवश्यक हैं, वह उसे बिना किसी आसक्ति के करता है। मूल रूप से, वह *नित्य* और *नैमित्तिक कर्मों* से जुड़ा रहता है।

शि - ईश्वर की कृपा पाने हेतु, मनुष्य अपने कर्मों को ईश्वर के प्रति अर्पित करता है। ऐसे में, यह कैसे कहा जा सकता है कि उसे ईश्वर की कृपा से लगाव नहीं है? क्या वह उसे पाने के उद्देश्य से कर्म नहीं करता है?

---

[1] भगवद्गीता 12.8-11

गुरु - तुम जो कह रहे हो, वह एक दृष्टिकोण से सही है। हालाँकि, अगर लौकिक लाभों से जुड़े रहने के बदले, कोई ईश्वर से जुड़ा रहता है, तो उससे कोई सांसारिक बन्धन नहीं होगा। प्रत्युत, हम धीरे-धीरे बन्धमुक्त हो जाएँगे। हालाँकि, आदर्श कर्म-योग में, ईश्वर के अनुग्रह की अपेक्षा किए बिना भी समर्पण किया जाता है। विचार केवल ऐसा होना चाहिए — "इसे ईश्वर को अर्पित करना मेरा कर्तव्य है।" अपने गीता-भाष्य में भगवत्पाद जी कहते हैं —

'ईश्वर मेरे प्रति अनुकूल हों' — इस प्रकार की आसक्ति को भी त्यागकर, केवल भगवान के लिए कर्म करे।[1]

शि - कर्म-योग के अभ्यास में, कोई कैसे पता लगा सकता है कि वह प्रगति कर चुका है या नहीं?

गुरु - मैंने कहा कि कर्म के फल के प्रति आसक्ति नहीं होनी चाहिए। अगर कोई जब यह जानना चाहता है कि उसने कर्म-योग के मार्ग में प्रगति प्राप्त की है या नहीं, तो क्या वह अनासक्त है? हालाँकि, अगर किसी को अपने आध्यात्मिक पथ में प्रगति के बारे में सन्देह है, तो वह इस तरह आत्म-निरीक्षण कर सकता है — "क्या मेरा मन शुद्ध है? क्या मैं शान्त हूँ? क्या मैं बिना किसी चिन्ता के और ईश्वरार्थ सभी कर्म कर रहा हूँ?" यह आत्म-विश्लेषण दिखाएगा कि कोई कर्म-योग का ठीक से पालन कर रहा है या नहीं।

1.15 भक्ति

शिष्य - भजन करना भक्ति का कार्य माना जाता है। कुछ अन्य लोग कहते हैं कि नित्य-कर्मों का आचरण भक्ति है। इनमें से कौन सच्ची भक्ति है?

गुरुजी - शङ्कर भगवत्पाद जी ने विवेक-चूडामणि में कहा है —

मोक्ष प्राप्ति के साधनों में, भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ है।[2]

---

[1] भगवद्गीता-भाष्य 2.48

[2] विवेक-चूडामणि 32

उन्होंने भक्ति का लक्षण भी दिया है। उन्होंने कहा है कि अपने वास्तविक स्वरूप का अनुसन्धान भक्ति है। यह परम-भक्ति का लक्षण है। हालाँकि, केवल गिने चुने लोगों के अतिरिक्त, किसी को ऐसी भक्ति प्राप्त नहीं हो सकती। दूसरों को एक निम्नतर, सरल प्रकार की भक्ति निर्देशित करने की आवश्यकता है। भक्ति की बात करते हुए, मधुसूदन सरस्वती जी ने कहा है कि भक्ति तीन प्रकार की होती है। पहला प्रकार, "मैं ईश्वर का ही अपना हूँ," विचार से जुड़ा है। दूसरे प्रकार में, "ईश्वर मेरे ही हैं," भावना होती है। यशोदा मैया का अपने बेटे कृष्ण के प्रति प्रेम इसका उदाहरण है। ईश्वर के प्रति गहरी प्रीति विकसित की जाए, तो, "ईश्वर मेरे हैं," भाव हो सकता है। इससे भी श्रेष्ठ, "मैं वह परमात्मा हूँ," ज्ञान है।

शि - "मैं वह परमात्मा हूँ," धारणा को कैसे भक्ति कहा जा सकता है?

गुरु - एक साधारण भक्त इसे स्वीकार करेगा कि वह ईश्वर से अलग है, लेकिन एक आदर्श भक्त ईश्वर से इस अलगाव को भी न सह पाने के नाते, चाहता है, "मुझे अपने भगवान के साथ विलीन होना चाहिए।" अन्ततः, वह उस साक्षात्कार को प्राप्त कर लेता है। इसलिए, इसे भक्ति की पराकाष्ठा कहा जाना चाहिए। भगवान कृष्ण ने कहा है कि वे एक ज्ञानी को सबसे बड़ा भक्त मानते हैं।

शि - सामान्य लोगों को किस प्रकार की भक्ति होनी चाहिए?

गुरु - जब तक, "मैं शरीर हूँ," भाव रहता है, तब तक स्वयं को ईश्वर का सेवक समझना अच्छा है। तब व्यक्ति ईश्वर से कुछ भी इच्छा नहीं करेगा। वह ईश्वर की सेवा को अपना कर्तव्य मानेगा। जब भगवान नरसिंह ने प्रह्लाद से कहा, "मैं तुम्हें एक वरदान दूँगा," तो प्रह्लाद ने उत्तर दिया —

ईश्वर से कुछ अपेक्षा रखने वाला दास नहीं; वह सच में एक व्यापारी है।[1]

शि - यदि ऐसा है तो क्या भजन करने को भक्ति कहना अनुचित होगा?

गुरु - नहीं। वह भी भक्ति की एक क्रिया है। ऋषि नारद ने भक्ति के विषय में कहा है —

---

[1] भागवत-पुराण 7.10.4

भक्ति का स्वरूप ईश्वर के प्रति परम-प्रेम है।[1]

शङ्कर भगवत्पाद जी ने शिवानन्द-लहरी में ईश्वर के प्रति विभिन्न प्रकार के प्रेम को भक्ति के रूप में प्रस्तुत किया है —

जिस प्रकार अंकोल वृक्ष का बीज उस वृक्ष से जुड़ जाता है, जैसे लोहे का टुकड़ा चुम्बक के पास जाता है, जैसे पतिव्रता स्त्री अपने पति को प्यार करती है, जैसे लता एक वृक्ष से चिपक जाती है और जैसे नदी समुद्र में विलीन हो जाती है — उसी प्रकार यदि विचार सदैव ईश्वर के चरणकमलों में स्थिर रहता है, तो उसे भक्ति कहा जाता है।[2]

पहला दृष्टान्त है अंकोल वृक्ष के बीज का स्वयं को वृक्ष से जोड़ना। उसी प्रकार प्रारम्भिक अवस्था में, भक्त अपने मन को ईश्वर की ओर मोड़ता है। दूसरा दृष्टान्त है एक लोहे के टुकड़े का चुम्बक की ओर बढ़ना। प्रथम स्तर पर भक्त को कुछ करना पड़ता था। लेकिन इस स्तर पर, मन स्वाभाविक रूप से ईश्वर की ओर जाता है। कोई ईश्वर के बारे में सोचते रहे, तो उसका मन ईश्वर की ओर अपने आप चला जाएगा। चुम्बक लोहे के टुकड़े को अपनी ओर खिंचता है। उसी प्रकार, ईश्वर अपने भक्त को अपनी ओर आकर्षित करते हैं। तीसरा दृष्टान्त एक पतिव्रता नारी का है। पत्नी अपने पति से प्रेम करती है और पति बदले में उससे प्यार करता है। उसी प्रकार, भक्त एवं ईश्वर एक दूसरे से गहरा प्रेम करते हैं। लता का एक वृक्ष के साथ लपेटना चौथा दृष्टान्त है। लता के गूँथने से वृक्ष की सुन्दरता और बढ़ जाती है। उसी प्रकार, भक्त की गहरी भक्ति प्रभु की महिमा को बढ़ाती है। नदी के समुद्र में विलय की उपमा उच्चतम-भक्ति का उल्लेख है। जिस प्रकार समुद्र में विलीन हो जाने से, एक नदी को समुद्र से अलग नहीं पहचाना जा सकता, उसी प्रकार अमित भक्ति वाला भक्त ईश्वर में एकीभूत हो जाता है। ये भक्ति के विभिन्न चरण हैं। अतः, भजन करना भी भक्ति की क्रिया है।

शि - कुछ लोग कहते हैं कि केवल भजन करना पर्याप्त है और पूछते हैं कि नित्य-कर्म क्यों किए जाने चाहिए। क्या यह दृष्टिकोण सही है?

---

[1] नारद-भक्तिसूत्र 2

[2] शिवानन्द-लहरी 61

गुरु - नहीं। सही तरह नित्य-कर्मों का अनुष्ठान स्वयं में भक्ति का कार्य है। मान लो कि एक स्वामी है और उसका एक सेवक है। यदि वह दास अपने स्वामी द्वारा उसे सौंपे गए कर्तव्यों का निर्वहन किए बिना, केवल स्वामी की स्तुति करता है, तो क्या स्वामी उससे प्रसन्न होगा? नहीं। ईश्वर हमारे स्वामी हैं। उन्होंने वेदों और स्मृतियों के माध्यम से निर्दिष्ट किया है कि हमें अपना जीवन कैसे जीना चाहिए। यदि हम उनकी आज्ञाओं को त्याग दें और स्वयं को उनकी प्रशंसा करने तक सीमित रखें, तो वे कैसे प्रसन्न होंगे? अतः, व्यक्ति को अपने नित्य-कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिए। उसके पूरक के रूप में भजन आदि करने का उनका स्वागत है।

शि - हमें प्रभु के प्रति भक्ति कैसे विकसित करनी चाहिए?

गुरु - किसी वस्तु के प्रति आसक्ति हमारे भीतर कैसे उत्पन्न होती है? हम किसी विशिष्ट वस्तु के बारे में सकारात्मक सोचते रहें, तो उसके प्रति लगाव विकसित हो जाता है। यदि किसी कार्य को बार-बार महत्त्वपूर्ण समझें, तो उसके प्रति आसक्ति उत्पन्न हो जाती है। ऐसे ही, यदि हम भगवान के बारे में सतत सोचें, "वे सर्वोच्च हैं। उनका चिन्तन करने से अपार आनन्द मिलता है," तो ईश्वर के प्रति भक्ति दृढ़ता से स्थापित हो जाएगी।

शि - किसी को ईश्वर के प्रति समर्पित क्यों होना चाहिए?

गुरु - हमारे पास जो कुछ भी है, वह सब उन्होंने हमें दिया है। इसलिए, हमें उनका आभारी होना चाहिए। वे हमें भौतिक एवं आध्यात्मिक उपलब्धियाँ देते हैं और अतः, हमें उनसे लगाव होना चाहिए। यद्यपि सामान्य रूप से ये कारण हो सकते हैं, तथापि ऐसे मानते हुए कि उनकी भक्ति हमें अवश्य करनी ही है, उनमें भक्ति करना श्रेष्ठतर है। भक्ति स्वाभाविक होनी चाहिए। वही सच्ची भक्ति है और वह किसी तार्किक कारण पर निर्भर नहीं करती। ईश्वर सबसे प्यारे हैं और अटल भक्त का मन अनायास ही उनकी ओर चला जाता है।

शि - यह स्वाभाविक है की अगर किसी को अपने इष्ट-देवता पर गहरा लगाव हो, तो उसे अन्य देवताओं पर उसके समान लगाव नहीं होगा। क्या भोलेनाथ को प्रेम करने वाला विष्णु के प्रति घृणा कर सकता है?

गुरु - द्वेष करना न तो अच्छा है और न ही शास्त्र को स्वीकृत है। निराकार भगवान केवल अपने भक्त पर अपनी कृपा बरसाने के लिए ही रूप धारण करते हैं। ईश्वर स्वयं निराकार हैं। भक्त की इच्छा के अनुसार, भगवान स्वयं को उसी रूप में प्रकट करते हैं। "शिव विष्णु से अलग हैं" — इस तरह का भेदभाव करना अनुचित है। जबकि किसी को अपने इष्ट-देवता के प्रति विशेष अनुराग हो सकता है, उसको दूसरे देवताओं को नीचा नहीं देखना चाहिए।

शि - क्या भक्ति-मार्ग में कोई विशेष बात है?

गुरु - कोई भी भक्ति-मार्ग पर चल सकता है। कोई प्रतिबन्ध सर्वथा नहीं है। इसके अतिरिक्त, इसका पालन आसानी से किया जा सकता है। स्वाभाविक रूप से व्यक्ति में प्रीति होती है। यदि उसे ईश्वर की ओर मोड़ दिया जाए, तो वह भक्ति बन जाती है। ज्ञान-मार्ग या ध्यान-मार्ग में, किसी को अभ्यास के समय कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ सकता है। एक सीमा तक आगे बढ़ने के बाद ही, उसको बहुत आनन्द मिलता है। भक्ति-मार्ग में तो ऐसा नहीं है। हम एक उन्नत अवस्था में पहुँचने से पहले ही बहुत आनन्द का अनुभव कर सकते हैं। प्रभु का चिन्तन करते समय भी, हम आनन्द का अनुभव कर सकते हैं। अत: भक्ति-मार्ग में आरम्भ से ही सुख है। भक्ति एक साधन है और लक्ष्य भी। यह भक्ति का दूसरा असाधारण वैशिष्ट्य है।

शि - कभी-कभी, स्तोत्र का पाठ करते समय, कोई कुछ त्रुटियाँ कर सकता है। हो सकता है कि वह उनके बारे में अनजान हो। क्या यह गम्भीर दोष है?

गुरु - हम जिन स्तोत्रों का पाठ करते हैं, उनके अर्थ को समझना सदैव श्रेष्ठतर होता है। अर्थ का ज्ञान हमारे मन को एकाग्र करने में हमें सहायक होता है। हालाँकि, अगर कुछ त्रुटियाँ अनजाने में हमसे हो जातीं हैं, तो हमें अनावश्यक रूप से चिन्तित होने की आवश्यकता नहीं है। ईश्वर केवल वही ग्रहण करते हैं जो मन में है। बाहरी दिखावे से वे प्रभावित नहीं होते।

एक अनपढ़ व्यक्ति "विष्णाय" ('विष्णु को' सम्प्रेषित करने हेतु त्रुटियुक्त शब्द का प्रयोग) बोल देता है, जबकी विद्वान "विष्णवे" ('विष्णु को'

सम्प्रेषित करने हेतु सही शब्द का प्रयोग) कहता है। पर दोनों को एक समान पुण्य मिलता है। भगवान विष्णु भावना को ग्रहण करनेवाले हैं।

एक विद्वान की तरह 'विष्णवे' कहने के स्थान पर, एक अज्ञानी 'विष्णाय' कह सकता है। दोनों को एक समान पुण्य मिलता है, क्योंकि ईश्वर भक्ति भाव को ग्रहण करते हैं। नीलकण्ठ दीक्षित जी ने इसे एक दृष्टान्त के माध्यम से समझाया है। भक्त भगवान को फूल चढ़ाते हैं और मुक्ति पा लेते हैं। मन्मथ भगवान शिव जी पर फूलों से बना एक तीर चलाना चाहता था। ऐसा करके, उसने शिव जी की तपस्या में बाधा डालने का प्रयास किया। भगवान ने फूल स्वीकार नहीं किया। इसके विपरीत, उन्होंने मन्मथ को भस्म कर दिया। फूलों के उपयोग में समानता के होने पर भी, भक्त सर्वोच्च गति प्राप्त करते हैं, लेकिन मन्मथ विध्वस्त हो गया। इस प्रकार आन्तरिक भावना का प्रमुख महत्त्व है।

शि - क्या धन की प्राप्ति, परीक्षा में सफलता या किसी और वस्तु के लिए ईश्वर से प्रार्थना करना दोषपूर्ण है?

गुरु - मैं यह नहीं कहता कि वैसी प्रार्थना दोषपूर्ण है, लेकिन वह अनावश्यक है। हमारे लिए जो भला है, उसे ईश्वर जानते हैं और वे सब कुछ प्रदान करने में सक्षम हैं। वे दया के मूर्तिमान एवं सर्वज्ञ हैं। ऐसे में, "आप मेरे हृदय में हैं और यह पर्याप्त है। जैसा आप उचित समझें, वैसा करें" — इस तरह प्रार्थना करना ही सर्वश्रेष्ठ होगा।

यदि कोई कामधेनु (इच्छा की पूर्ति करने वाली गाय) प्राप्त करता है, तो क्या उसे जोतने के लिए उपयोग करना बुद्धिमानी है? क्या ईश्वर कामधेनु की तरह नहीं हैं? निश्चित रूप से, यदि कोई विशिष्ट लक्ष्य के लिए प्रार्थना करता है, तो इसे त्रुटिपूर्ण नहीं माना जा सकता; ईश्वर ऐसी प्रार्थनाओं की भी प्रतिक्रिया देते हैं।

शि - ईश्वर को किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं है। फ़िर भी कहा गया है कि सब कुछ उन्हें समर्पित करना चाहिए। इसका क्या कारण है?

गुरु - ईश्वर को कुछ नहीं चाहिए, लेकिन क्या यह हमारा दायित्व नहीं कि हम अपने हृदयों को उन्हें समर्पित कर दें? अवश्य है। अतः, हमें सदैव

ईश्वर को अपना मन समर्पित करना चाहिए। अर्थात्, हमें सदा उनका चिन्तन करते रहना चाहिए। प्रभु कहते हैं —

मुझे स्मरण करो और युद्ध करो।[1]

इसके द्वारा, वे हर समय भगवान का स्मरण करने की आवश्यकता पर बल देते हैं। हम उन्हें भक्ति भाव से जो कुछ भी समर्पित करते हैं, तो वे अवश्य हमारी भेंट स्वीकार करते हैं। ईश्वर ने स्वयं कहा है —

तुम मुझे भक्ति भाव से जो कुछ भी अर्पित करते हो — पत्ता, फूल, फल या जल — मैं उसे ग्रहण करता हूँ।[2]

हे कुन्तीपुत्र, जो कुछ भी तुम करते हो, जो कुछ भी खाते हो, जो कुछ हवन में आहुति देते हो, जो कुछ भी दान करते हो, जो कुछ तपस्या करते हो — वे सब मुझे समर्पित करो।[3]

शि - कभी-कभी चिन्ताएँ मन को ईश्वर की ओर मोड़ने से रोकतीं हैं और उसका ध्यान भटकातीं हैं। ऐसे अवरोधों के सम्बन्ध में क्या किया जाना है?

गुरु - सच्चे भक्त को कोई चिन्ता क्यों करनी चाहिए? रेलगाड़ी में यात्रा करते समय, व्यक्ति को अपनी वस्तुएँ अपने सिर पर रखनी चाहिए या तल पर? हम उसे मूर्ख कहेंगे जो अपनी वस्तु अपने सिर पर ढोएगा। इस संसार में जो कुछ भी होता है, वह भगवान की इच्छा के अनुसार ही होता है। क्या हमें इस भावना के साथ चिन्ता से मुक्त नहीं होना चाहिए कि ईश्वर सब कुछ हमारे भले के लिए ही करते हैं? अगर हम चिन्तित होते हैं, तो क्या वह, "ईश्वर हमारी रक्षा करते हैं। वे हमें वही देते हैं जो हमारे लिए भला है" — इस विश्वास की कमी नहीं है?

शि - ऐसे होने पर भी, कभी-कभी चिन्ताएँ अपने आप उत्पन्न हो जातीं हैं।

गुरु - यह इस बात का संकेत है कि हमारी भक्ति तीव्र नहीं हुई है। अतः, हमें भक्ति को विकसित करने और चिन्ताओं से छुटकारा पाने के

---

[1] भगवद्गीता 8.7

[2] भगवद्गीता 9.26

[3] भगवद्गीता 9.27

लिए प्रयास करना चाहिए। अगर कोई ईश्वर में शरण लेता है तो वह आराम से और सुखी भी रह सकता है।

1.16 वेदान्त-शास्त्र का अध्ययन

शिष्य - वेदान्त-शास्त्र का निष्ठापूर्वक अध्ययन क्यों आवश्यक है?

गुरुजी - आध्यात्मिक आकांक्षी को परम सत्य स्पष्ट करने के लिए। यदि हम शास्त्रों की शिक्षाओं को सही ढंग से न समझें, तो सन्देह उत्पन्न हो सकते हैं। शास्त्र का बार-बार अध्ययन ऐसे संदेहों को दूर करता है। वेदान्त-तत्त्व में दृढ़ विश्वास स्थापित होता है। वेदान्त अध्ययन तो गुरु द्वारा शिक्षित विषय तथा शास्त्रों के परम तात्पर्य को सच समझने में सहायक बनता है।

शि - वे कौन से ग्रन्थ हैं जिन्हें गुरुजी सुझाएँगे?

गुरु - उन्नत आध्यात्मिक साधक के लिए माण्डूक्य-उपनिषद् ही पर्याप्त है। गौडपादाचार्य जी की कारिकाएँ और भगवत्पाद जी के भाष्य इसके तात्पर्य को सटीक रूप से प्रतिपादित करते हैं। माण्डूक्य-उपनिषद् के बारे में मुक्तिका-उपनिषद् में कहा गया है —

मोक्ष की तीव्र इच्छा रखनेवालों को मोक्ष प्राप्ति के लिए केवल माण्डूक्य ही पर्याप्त है।[1]

योग-वासिष्ठ एक उत्तम ग्रन्थ है। स्वयं भगवान से निकली हुई भगवद्गीता बहुत महत्त्वपूर्ण है। शङ्कर भगवत्पाद जी की कृतियाँ, विद्यारण्य जी की पञ्चदशी आदि का भी अध्ययन किया जा सकता है।

शि - शास्त्रों का अध्ययन कब तक करना चाहिए?

गुरु - परमार्थ सत्य का ज्ञान प्राप्त होने तक। तदुपरान्त, इसकी आवश्यकता नहीं है। ऐसा कहा गया है —

[1] मुक्तिका-उपनिषद् 1.26

जैसे अनाज का इच्छुक भूसी को त्याग देता है, उसी प्रकार मुमुक्षु (मोक्ष के इच्छुक) को शास्त्रों का अध्ययन छोड़ देना चाहिए।[1]

शि - भगवद्गीता के कौन से श्लोक गुरुजी को विशेष रूप से रमणीय हैं?

गुरु - *जो सारे भूतों के प्रति द्वेष-रहित, मैत्रीपूर्ण तथा करुणाशाली, ममता-रहित एवं अहंकार से मुक्त, सुख-दुःखों में समान, सभी के प्रति क्षमावान, सदा सन्तुष्ट, नियन्त्रित मन से युक्त, दृढ़ निश्चय वाला और जिसके मन एवं बुद्धि मुझमें समर्पित हैं — ऐसा मेरा भक्त मुझे प्रिय है।*[2]

शि - क्या ये श्लोक ज्ञानी के लक्षण का उल्लेख नहीं करते? ऐसे में, क्या ये मुमुक्षु के लिए उपयोगी होंगे?

गुरु - शङ्कर भगवत्पाद जी ने स्पष्ट बताया है कि ज्ञानी के विषय में जो लक्षण स्वाभाविक हैं, वे वही हैं जिन्हें आध्यात्मिक साधकों को प्रयत्न-पूर्वक विकसित करने चाहिए। यदि लोगों में किसी भी प्राणी के प्रति शत्रुता नहीं है, मैत्रीभाव है और प्रभु की शिक्षा के अनुसार दया हैं, तो वे सुखी रहेंगे और लोक शान्तिपूर्ण होगा।

1.17 ब्रह्मचर्य

शिष्य - क्या केवल मोक्ष के इच्छुक व्यक्ति के लिए नैष्ठिक ब्रह्मचर्य (आजीवन ब्रह्मचर्य) का पालन करना आवश्यक है?

गुरुजी - जो वैराग्य सम्पन्न हो और केवल मोक्ष के लिए तरसता हो, उसके लिए यह अत्यन्त लाभदायक है। वास्तव में, वैवाहिक जीवन एक बड़ा बन्धन है। जो आजीवन ब्रह्मचर्य का पालन करता है, वह परब्रह्म के साक्षात्कार पाने के लिए पूरी तरह अपने आप को समर्पित कर सकता है। गृहस्थों के लिए मार्ग कठिन है, क्योंकि उनके कई उत्तरदायित्व होते हैं। इसके

[1] अमृतबिन्दु-उपनिषद् 18

[2] भगवद्गीता 12.13-14

अतिरिक्त, उन्हें विचलित करने वाले भोगों से निपटना पड़ता है, जो उनकी आध्यात्मिक साधनाओं में मग्न रहने के लिए बाधक होते हैं।

शि - अगर ऐसा है, तो शास्त्र वैवाहिक जीवन की अनुमति क्यों देते हैं?

गुरु - सभी व्यक्ति मोक्ष की इच्छा नहीं रखते। और, कुछ मुट्ठी भर व्यक्ति ही आजीवन ब्रह्मचर्य पालन करने में सक्षम होते हैं। इसलिए, दूसरे लोगों को एक नियन्त्रित धार्मिक जीवन बिताते हुए, परब्रह्म की प्राप्ति की ओर बढ़ने के लिए, शास्त्र विवाह की अनुमति देते हैं। शास्त्रों में जो अनुमति दी गई है, वह एक विनियमित वैवाहिक जीवन के लिए है।

शि - शास्त्रों में कई स्थानों पर उल्लेख किया गया है कि एक व्यक्ति के लिए सन्तान प्राप्ति आवश्यक है। क्या गुरुजी कृपया इसका कारण बताएँगे?

गुरु - शास्त्रों का गहराई से अध्ययन करने वाला यह समझ सकता है कि ऐसे वक्तव्य केवल उन लोगों के लिए हैं जिनमें मोक्ष की तीव्र इच्छा नहीं है और जिनके मन यौन काम से मुक्त नहीं हैं।

शास्त्रों से हम सीखते हैं कि तीव्र वैराग्य वाले व्यक्ति को वैवाहिक जीवन जीने की आवश्यकता नहीं है। उपनिषद् कहते हैं —

जिस दिन उसमें तीव्र वैराग्य उत्पन्न हो जाता है, उसी दिन उसे सब कुछ त्याग देना चाहिए।[1]

वह ब्रह्मचर्य-आश्रम से ही सीधा संन्यास ले सकता है, अथवा गृहस्थ-आश्रम से, अथवा वानप्रस्थ-आश्रम से।[2]

हम सन्तान से क्या करेंगे?[3]

शि - कुछ लोग यह पूछकर आपत्ति जताते हैं कि अगर सभी ब्रह्मचर्य का पालन करें, तो समाज कैसे चलेगा। इस पर गुरुजी का क्या अभिप्राय है?

गुरु - सहस्र लोगों में से बस एक ही मोक्ष की तीव्र इच्छा रखता है। यहाँ तक कि इसके लिए प्रयास करने वालों में से, केवल कुछ ही आजीवन ब्रह्मचर्य का पालन करने के लिए प्रतिबद्ध हैं। इसलिए यह विचार नहीं उठता है।

---

[1] जाबाल-उपनिषद् 4

[2] जाबाल-उपनिषद् 4

[3] बृहदारण्यक-उपनिषद् 4.4.22

शि - क्या महिलाएँ भी आध्यात्मिक साधना हेतु, अविवाहित रह सकती हैं?

गुरु - हाँ, उनमें आध्यात्मिक जीवन बिताने का दृढ़ निश्चय हो, तो उन्हें विवाह करने की आवश्यकता नहीं है। यह मुख्य है कि अविवाहित रहने का निर्णय करने से पहले, उन्हें अपने मानसिक आवेगों के नियन्त्रण के बारे में विचार करना चाहिए और अपनी परिस्थितियों का ध्यान रखना चाहिए।

शि - क्या गुरुजी का अभिप्राय है कि गृहस्थ ब्रह्म-ज्ञान और मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकते?

गुरु - नहीं। वे भी ज्ञान और मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु, उनका मार्ग कठिनतर है। एक अविवाहित मुमुक्षु, विशेष रूप से संन्यासी, मानसिक विक्षेप के कारणों से दूर रह सकता है और मोक्ष की प्राप्ति के लिए, अपना जीवन पूरी तरह से समर्पित कर सकता है। हालाँकि, गृहस्थों को पारिवारिक उत्तरदायित्व के साथ रहना पड़ता है और प्रतिकूल परिस्थितियों से निपटना पड़ता है। तथापि, यह मानना त्रुटिपूर्ण होगा कि वे ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते। जनक और उन जैसे अन्य गृहस्थ ज्ञानी थे।

शि - इतिहास और पुराणों में हम ऋषियों के बारे में पढ़ते हैं और यह भी सीखते हैं कि वे गृहस्थ थे। क्या इसका तात्पर्य यह नहीं है कि हमारे पवित्र ग्रन्थों के अनुसार कई गृहस्थ ज्ञानी थे?

गुरु - 'ऋषि' और 'ज्ञानी' पर्यायवाची नहीं हैं और हम यह दावा नहीं कर सकते कि सभी ऋषि ज्ञानी थे। यह भी नहीं कहा जा सकता कि हर कोई ऋषि जो ब्रह्मज्ञानी थे, उन्होंने गृहस्थ-आश्रम में ही ब्रह्मज्ञान पाया, प्रत्युत विवाह के पहले ही नहीं, जब वे ब्रह्मचर्य का पालन कर रहे थे। इसके अतिरिक्त, सभी ऋषि विवाहित नहीं थे। हम सभी स्वीकार करते हैं कि शुक, सनत्कुमार इत्यादि महान ऋषि थे। निस्सन्देह वे ज्ञानी थे और ब्रह्मचारी भी।

शि - अगर कोई नैष्ठिक-ब्रह्मचारी के रूप में रहना चाहता है, तो क्या उसके लिए उपयुक्त व्रत लेना उचित होगा?

गुरु - एक आध्यात्मिक आकांक्षी नैष्ठिक-ब्रह्मचर्य का व्रत ले सकता है, यदि वह अपने निर्णय में अविचलित हो और लैंगिक कामनाओं से पीड़ित न हो। ऐसा व्रत उसे आध्यात्मिक शक्ति प्रदान करेगा। लेकिन, नैष्ठिक-ब्रह्मचर्य का व्रत लेने से पहले, उसे अवगत होना चाहिए कि उस व्रत का कोई उल्लंघन हो, तो उसे घोर पाप लगेगा।

शि - क्या गुरुजी का मानना है कि ब्रह्मचारी के मन में उत्पन्न अश्लील विचार उसके ब्रह्मचर्य को हानि पहुँचाते हैं?

गुरु - अवश्य। अगर उसके मन में एक अश्लील विचार भूल से भी पैदा होता है, तो वह अच्छा संकेत नहीं है। यदि वह उस प्रकार के विचारों को इच्छापूर्वक अवसर देता है अथवा प्रोत्साहित करता है, तो वह ब्रह्मचर्य का एक प्रकार का उल्लंघन होगा। जबकि अपने आप में एक अश्लील सपना पापजनक नहीं है, पर जाग्रदवस्था के गन्दे विचार धर्म का उल्लंघन हैं।

शि - आजीवन ब्रह्मचर्य के व्रत के सफलतापूर्वक पालन हेतु, क्या करना चाहिए और किससे बचना चाहिए?

गुरु - मिथ्या दृष्टिकोण, अश्लील वार्तालाप, बुरी संगति, अनैतिक पुस्तक इत्यादि से बचना चाहिए। नियमित शारीरिक व्यायाम लाभदायक है, क्योंकि वह स्वास्थ्य के अनुकूल है और आलस्य का प्रतिरोध करता है। ब्रह्मचर्य के पालक को यह ध्यान में रखना चाहिए कि ब्रह्मचर्य मूल्यवान है और इन्द्रिय-विषय वास्तव में सुख नहीं देते हैं एवं वह जो खाता है, उससे मन पर प्रभाव पड़ता है। शास्त्र द्वारा आध्यात्मिक साधक को प्रतिकूल बताए गए पदार्थ — प्याज़, लहसुन, माँस, मदिरा और अधिक नमकीन, तीखा या मसालेदार व्यञ्जन इत्यादि — इनसे बचना चाहिए। उसे योगासन और प्राणायाम करना चाहिए।

शि - ब्रह्मचर्य में अडिग स्थापित होने के क्या लाभ हैं?

गुरु - ब्रह्मचर्य में प्रतिष्ठित व्यक्ति, एकाग्रचित्तता को प्राप्त करता है और मुक्ति-मार्ग में तेज़ी से आगे बढ़ता है। वह दूसरे का उत्थान करने में सक्षम है।

शि - क्या विरक्त, लैंगिक इच्छा से अविचलित और नैष्ठिक-ब्रह्मचर्य का पालन करने की इच्छा रखने वाले आध्यात्मिक साधकों के लिए, गुरुजी का आशीर्वाद है?

गुरु - ऐसे व्यक्तियों के लिए, मेरा आशीर्वाद सदैव बना रहता है। उनके जैसे और भी होंगे, तो मुझे प्रसन्नता होगी।

1.18 संन्यासी

शिष्य - कब और किन कर्मों को त्यागना चाहिए?

गुरुजी - अनावश्यक कार्य नहीं करने चाहिए। एक आध्यात्मिक आकांक्षी को प्रारम्भ में अपनी सभी गतिविधियों को त्यागने का प्रयास नहीं करना चाहिए, प्रत्युत उन्हें ईश्वर को समर्पित करना चाहिए। जैसे-जैसे उसका मन कर्म-योग से शुद्ध और पवित्र होता जाता है, वैसे-वैसे वह उत्तरोत्तर विरक्त होता है और उसका मन भीतरी ओर तथा गतिविधियों से दूर होने लगता है। वह सत्य को जानने के लिए तत्पर हो जाता है। यही पक्का समय है संसार को त्यागने और संन्यासी बनने का।

शि - क्या संन्यास ज्ञान प्राप्ति से पहले या बाद में लेना चाहिए?

गुरु - ज्ञान-प्राप्ति के उपरान्त लिया जाने वाला संन्यास 'विद्वत्-संन्यास' कहलाता है, जबकि ज्ञानोदय से पहले लिया जाने वाला 'विविदिषा-संन्यास' कहलाता है। विविदिषा-संन्यास से विद्वत्-संन्यास श्रेष्ठ है।

शि - कौन सी मनःस्थिति व्यक्ति को संन्यास के योग्य बनाती है?

गुरु - संसार को अच्छी तरह से परखने के बाद, वह इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि उसे संसार से कोई शाश्वत सुख नहीं मिलेगा और एक प्रतिबद्ध आध्यात्मिक जीवन की ओर अग्रसर होता है। जब वह स्वाभाविक रूप से कर्मों के प्रति उदासीन हो जाता है और सुख और दुःख जैसे विरोधी द्वन्द्वों के प्रति समभाव पाता है, तब वह संन्यास के लिए योग्य हो जाता है।

शि - क्या कोई छोटी उम्र में ही संन्यास ले सकता है?

गुरु -हाँ, उसे दृढ़ वैराग्य हो तो।

उसे उसी दिन संन्यास लेना चाहिए जिस दिन उसे तीव्र वैराग्य प्राप्त होता है।[1]

शि - क्या संन्यासी के लिए कोई नियम हैं?

गुरु -जिन लोगों ने संन्यास लिया है पर उन्हें ज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई है, उनके लिए नियम होते हैं। लेकिन, उन संन्यासियों के लिए कोई अनिवार्य नियम नहीं हैं जिन्होंने ब्रह्मज्ञान पा लिया हो।

शि - यदि किसी संन्यासी को कुछ दिनों तक भिक्षा नहीं मिलती है, तो क्या उन्हें भोजन-प्राप्ति के लिए अधिक प्रयत्न करना चाहिए या, "भले ही मेरे आध्यात्मिक जीवन को हानि पहुँचे, तो भी मैं भोजनार्थ विशेष प्रयास नहीं करूँगा" — ऐसा मानकर, चुपचाप रहना चाहिए?

गुरु -तत्त्व-साक्षात्कार प्राप्त किए हुए संन्यासी को भोजन या मृत्यु की चिन्ता करने की कोई आवश्यकता नहीं है। हालाँकि, अगर किसी अप्रबुद्ध संन्यासी को ऐसा लगता है कि अपनी आध्यात्मिक साधना बाधित होगी, तो वह चाहे तो भिक्षा के लिए कुछ और प्रयास कर सकता है।

शि - क्या 'चातुर्मास्य' शब्द का अर्थ 'चार महीने' नहीं है? परन्तु, आजकल संन्यासी दो महीने के लिए ही एक स्थान पर रहते हैं। क्या शास्त्रों में इसकी अनुमति दी गई है?

गुरु -हाँ।

शि - क्या संन्यासियों को महाव्रत की तरह अहिंसा का पालन करना है?

गुरु -हाँ। संन्यासियों को सदैव अहिंसा का पालन करना चाहिए। उनके लिए यह महाव्रत है।

शि - क्या दूसरों को आध्यात्मिक मार्गदर्शन देना संन्यासियों का कर्तव्य है?

[1] जाबाल-उपनिषद् 4

गुरु - ऐसा कोई नियम नहीं है कि किसी संन्यासी को दूसरों को तत्त्व-साक्षात्कार की ओर मार्गदर्शन देना ही चाहिए। अगर वह एकान्त में ही रहे, तो इसमें कुछ भी भूल नहीं है। लेकिन, अनुकम्पा से प्रेरित, यदि प्रबुद्ध संन्यासी दूसरों को उपदेश दें, तो वह शिष्यों का महाभाग्य होगा। कई प्रबुद्ध संन्यासियों ने अतीत में ऐसा किया है; कई अब ऐसा कर रहे हैं।

शि - क्या कोई ऐसा नियम है कि जिन लोगों ने ज्ञान प्राप्त कर लिया है, उन्हें विधिवत् संन्यास लेना चाहिए?

गुरु - नहीं। यदि ईश्वर को ऐसा लगता है कि उनका संसार के बीच रहना ही श्रेष्ठतर है, तो वे उन्हें संन्यास के अतिरिक्त अन्य आश्रम में रखेंगे। हालाँकि, इसका तात्पर्य यह नहीं है कि एक प्रबुद्ध गृहस्थ का जीवन एक प्रबुद्ध भिक्षु के जीवन से श्रेष्ठतर है।

शि - एक प्रबुद्ध व्यक्ति संन्यास लेने के लिए इच्छुक क्यों होगा अथवा संन्यासी बनने के लिए यत्न क्यों करेगा?

गुरु - ऐसा नहीं है कि पूर्ण तत्त्वज्ञानी या तो संन्यास की वाञ्छा रखेगा अथवा संन्यासी बनने के लिए स्वयं प्रयास करेगा। कार्यों में लग्न होने के लिए अप्रेरित, वह कर्म को अनायास त्याग देता है, और विद्वत्-संन्यासी बनकर जीवन्मुक्त (सशरीर रहते हुए मुक्त) के रूप में आनन्दमग्न रहता है।

1.19 मन को नियन्त्रित करना

शिष्य - बहुत से लोगों को ध्यान करना कठिन लगता है क्योंकि उनका मन कई दिशाओं में भटकता रहता है। ऐसे लोगों को अच्छी तरह से ध्यान का अभ्यास करने में सक्षम बनाने के लिए गुरुजी क्या परामर्श देंगे?

गुरुजी - वास्तव में, ध्यान एक रहस्य है। गुरु अपने शिष्य की क्षमता को मन में रखकर ही निर्देश देते हैं। जहाँ तक मन पर नियन्त्रण की बात है, हालाँकि वह कठिन है, फ़िर भी अवश्य सम्भव है।

शि - कुछ लोग कहते हैं कि मन को नियन्त्रित करना उनके लिए असम्भव है। उनके बारे में क्या?

गुरु - सौ रुपये के नोटों का एक बंडल उस व्यक्ति को दो, जो कहता है कि अपने मन को नियन्त्रित करना असम्भव है। उसे बिना त्रुटि किए नोट गिनने के लिए कहो। इस कार्य को पूरा करने के बाद, उससे पूछो कि क्या गिनती करते समय उसका मन भटक गया था। सच में उत्तर मिलेगा, "नहीं।" जब कोई व्यक्ति अपना वेतन गिन रहा हो, तो उसका मन नहीं भटकता। इसका कारण क्या है? बस यही भावना कि कोई त्रुटि नहीं होनी चाहिए। ध्यानाभ्यास के समय भी ऐसी भावना हो, तो मन क्यों भटकेगा?

अर्जुन बोले —

हे कृष्ण, मन चंचल, अशान्त, बलवान और अडियल है। मुझे लगता है कि इसे नियन्त्रित करना वायु को रोकने से अधिक कठिन है।[1]

भगवान कृष्ण ने उत्तर दिया —

हे कौन्तेय, इसमें सन्देह नहीं है कि मन को वश में करना कठिन है। पर अभ्यास और वैराग्य से, उसे नियन्त्रित किया जा सकता है।[2]

शि - अभ्यास क्या है?

गुरु - मन को केन्द्रित रखने का प्रयास अभ्यास है। ध्येय वस्तु की वित्ति को मन में निरन्तर दोहराते रहना इसके अन्तर्गत है।

शि - यहाँ वैराग्य शब्द किस अर्थ में प्रयोग किया गया है?

गुरु - इहलोक के और परलोक के भोगों में अनासक्ति वैराग्य है। वह आध्यात्मिक जीवन की नींव है।

शि - वैराग्य को कैसे विकसित किया जाना चाहिए?

गुरु - वैराग्य कई तरह से प्रकट हो सकता है। जब किसी का निकट बन्धु मर जाता है, तो सम्भव है कि तब वह इस विश्व में कुछ नहीं चाहेगा। ऐसा वैराग्य अस्थायी होता है और आध्यात्मिक रूप से महत्त्वपूर्ण नहीं

[1] भगवद्गीता 6.34

[2] भगवद्गीता 6.35

है। स्थिर वैराग्य तो विवेक से उत्पन्न होता है। उदाहरणार्थ, हम सत् (जो सदा अस्तित्व में है, सत्य है) और असत् के बीच भेद करते हैं। ऐसे विश्लेषण से उत्पन्न वैराग्य स्थिर रहता है। इसकी अपेक्षा, एक आसान विश्लेषण है, "कोई ऐन्द्रिय वस्तु वास्तव में आनन्द का कारण नहीं है।" यह विवेक की निम्न श्रेणी है। ऐसे विवेक से भी कोई वैराग्य विकसित कर सकता है।

शि - यह कैसे कहा जा सकता है कि वस्तुओं से सुख प्राप्त नहीं होता? जब मनचाही वस्तु खा ली जाती है या जब कुछ और भोग लिया जाता है, तो सुख उत्पन्न होता है।

गुरु - नहीं। यदि सावधानी से विश्लेषण किया जाए तो पता लगेगा कि वस्तुओं से सुख नहीं मिलता। यदि किसी वस्तु को दूसरे का कारण बनना हो, तो 'अन्वय तथा व्यतिरेक' के नियमों को सन्तुष्ट करना चाहिए। कारण के अस्तित्व होने पर कार्य का अस्तित्व 'अन्वय' है। कारण की अनुपस्थिति में कार्य की अनुपस्थिति 'व्यतिरेक' है। एक उदाहरण पर विचार करें। मिट्टी घड़े का कारण है। मिट्टी विद्यमान हो तो ही मटका विद्यमान हो सकता है। यह 'अन्वय' है। जब मिट्टी नहीं होती तो घड़ा नहीं होता। यह 'व्यतिरेक' है। कार्य-कारण-सम्बन्ध के अस्तित्व के लिए, अन्वय और व्यतिरेक सन्तुष्ट होने चाहिए। यदि किसी वस्तु को कारण और सुख उस वस्तु का कार्य होना हों, तो उक्त कार्य-कारण नियम दोनों के बीच पूरा होना चाहिए। हालाँकि, ऐसा नहीं है। अतः, वस्तुएँ सुख का कारण नहीं हो सकतीं।

शि - क्या गुरुजी एक दृष्टान्त के साथ समझाएँगे?

गुरु - मान लो कि एक लड़का मिठाई खा रहा है। इसका विश्लेषण करके देखते हैं कि वह खाद्य वस्तु सुख का कारण है या नहीं। उस लड़के के रोगग्रस्त होते समय, अगर उसे वही मिठाई दी जाती है, तो उसे प्रसन्नता नहीं होती। अतः, खाद्य के होने पर भी कोई सुख नहीं मिलता है। इसके अतिरिक्त, मिठाई के न होने पर भी, वह अपने मित्रों की संगत में सुखी रह सकता है। अतः मीठा खाद्य सुख का कारण नहीं हो सकता।

शि - जब एक वस्तु अनुपस्थित होती है तो हमें दूसरी वस्तु से सुख मिलता है। इसलिए, भले ही कोई इकलौता वस्तु कारण न हो, सामूहिक रूप से विषय सुख का कारण क्यों नहीं बन सकते?

गुरु - ऐसा मानना भी ठीक नहीं है। गहरी नींद के समय हर कोई सुख का अनुभव करता है। जागने पर हम कहते हैं, "मैं सुख से सोया। मुझे कुछ भी पता नहीं था।" गहरी नींद के समय, कोई भी वस्तु का अस्तित्व नहीं होता। फ़िर भी, हम नींद का आनन्द लेते हैं। इसलिए, यह भी नहीं कहा जा सकता कि वस्तुओं का एक संग्रह सुख का कारण है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि एक वस्तु के न होने पर, सुख देने के लिए कोई न कोई अन्य वस्तु सदैव रहती है।

शि - यदि वस्तुओं से सुख नहीं मिलता तो किसी को अपनी मनचाही वस्तु मिलने पर सुख कैसे प्राप्त हो जाता है?

गुरु - यह केवल मानसिक शान्ति के कारण है। जब कोई व्यक्ति किसी वस्तु की इच्छा करता है, तो उसका मन लालसा के कारण अशान्त हो जाता है। इसलिए, उस अवधि में, कोई प्रसन्नता नहीं होती। जब वह वस्तु प्राप्त हो जाती है, तब उसकी इच्छा शमित हो जाती है। इसलिए, मन शान्त हो जाता है एवं उस व्यक्ति को सुखानुभव होता है। इसके बाद, कुछ दूसरे विषय की तृष्णा पैदा होती है और मानसिक शान्ति नष्ट हो जाती है। परिणामस्वरूप, सुख लुप्त हो जाता है। जब वह दूसरी इच्छा पूरी हो जाती है, तब फ़िर से शान्ति मिलती है और इसलिए, सुखानुभव होता है।

सामान्यतः, कोई यह नहीं समझता है कि दो वित्तीयों को अलग करने वाला एक अन्तराल है और वह अनुभव नहीं करता है कि सुख का कारण मानसिक शान्ति है। इसके अतिरिक्त, वह इस असाधु सोच का आखेट भी हो जाता है कि विषय ही सुख का कारण है।

शि - अगर कोई पहचानता है कि मानसिक शान्ति से सुख मिलता है और वस्तुओं से नहीं, तो क्या उससे वह वैराग्य प्राप्त कर सकता है?

गुरु - हाँ। यदि कोई बार-बार पहचानता है कि विषयों से सुख नहीं मिलता है और विषय निःसार हैं, तो वह विरक्त हो जाता है। उदाहरणार्थ, जो धन

की इच्छा को निष्प्रभावी करना चाहता है, वह इस प्रकार विचार कर सकता है — "मुझे पैसा कमाने के लिए कठिन परिश्रम करना होगा। अर्जित धन को बचाए रखना भी कठिन है। खो जाने या खर्च हो जाने पर, पीड़ा होती है। इस प्रकार, धन सुख का नहीं, परन्तु दुःख का कारण बनता है।" महिलाओं की चाहत से निपटने के लिए, कोई सोच सकता है — "उसका शरीर रक्त और माँस से भरा है।" इस प्रकार बार-बार सोचने से, इच्छाओं को निष्प्रभावी किया जा सकता है। वैराग्य तो मन को निश्चल, उपशान्त और ध्यान के योग्य बनाता है। विरक्त व्यक्ति सर्वोच्च पद प्राप्त कर सकता है।

1.20 ध्यान

शिष्य - ध्यान का अर्थ क्या है?

गुरुजी - ध्यान एक ऐसी स्थिति है जिसमें मन केवल एक वस्तु पर केन्द्रित होता है।

शि - ध्यानाभ्यास का प्रमुख लाभ क्या है?

गुरु - यदि अभ्यास द्वारा मानसिक एकाग्रता प्राप्त की जाती है, तो मन को ईश्वर की ओर मोड़ा जा सकता है, और इस प्रकार शुद्ध किए जाने पर, उसे आत्मा की ओर निर्देशित किया जा सकता है, जो निराकार और निर्गुण है। ऐसा करने से, व्यक्ति ध्यान की पराकाष्ठा निर्विकल्प-समाधि को प्राप्त करता है और वहाँ उसे परतत्त्व का साक्षात्कार होता है।

शि - इतना मूल्यवान होने पर भी, ध्यान का अभ्यास अत्यन्त कठिन क्यों है?

गुरु - मन को नियन्त्रित करने में कठिनाई ही इसका कारण है।

शि - मन को कैसे नियन्त्रित किया जा सकता है?

गुरु - ईश्वर ने कहा है कि अभ्यास तथा वैराग्य इसके साधन हैं।

शि - ध्यान की प्राप्ति में क्या बाधाएँ हैं?

गुरु - क्या तुम ध्यान के समय, या अन्य समय पर, उत्पन्न होने वाली बाधाओं के बारे में पूछ रहे हो?

शि - मैं उन अड़चनों के बारे में पूछ रहा हूँ जो किसी को ध्यान के समय, समाधि (ध्यान की पराकाष्ठा) प्राप्त करने से रोकती हैं।

गुरु - अड़चनों में से सर्वप्रथम है '*विक्षेप*'; अर्थात् मन सभी दिशाओं में भटकता है। यह सबसे बड़ी बाधा है। दूसरा वह है जिस में मन एक आलसी अवस्था को प्राप्त करता है। निस्सन्देह, विक्षेप नहीं है। यह भी बुरा है। यदि कोई नींद जैसी एक जड़ अवस्था प्राप्त कर लेता है, तो वह सर्वोच्च स्थिति प्राप्त नहीं करेगा। '*सकषाय*' तीसरी बाधा है। इस अवस्था में न तो विक्षेप होता है और न ही चित्त की जड़ता। यह एक प्रकार का सुख देता है, लेकिन इसमें इच्छा का बीज नष्ट नहीं होता। यह समाधि से भिन्न है। सावधानी से, इसे भी पार करना चाहिए। गौड़पादाचार्य जी ने कहा है —

मन लय स्थिति में हो, तो उसे जगाना चाहिए। वह विषयों में विक्षिप्त हो, तो उसे शान्त किया जाना चाहिए। यदि वह इच्छा के निहित बीज के साथ होता है, तो उस स्थिति को पहचानना चाहिए। सन्तुलित अवस्था में स्थिर रहने वाले मन को विचलित नहीं करना चाहिए।[1]

शि - विक्षिप्त मन को हम कैसे शान्त कर सकते हैं?

गुरु - हमें मन को बार-बार ध्यान की वस्तु की ओर मोड़ना चाहिए। वैराग्य के बढ़ने के साथ, विक्षेप कम हो जाता है। ध्यान के समय, यह निश्चय होना चाहिए कि केवल ध्यान ही महत्त्वपूर्ण है। जिस रूप या ध्वनि का ध्यान किया जा रहा हो, वह वस्तुतः विद्यमान है — ऐसी भावना मन को लक्ष्य पर केन्द्रित करने में उपयोगी बनती है।

शि - अगर मन मन्द या सुस्त हो जाए, तो क्या करना चाहिए?

गुरु - यदि कोई व्यक्ति सतर्क रहे, तो वह पहचान सकता है कि उसका मन निष्क्रिय और सुस्त हो रहा है। तन्द्रा के प्रारम्भ को पहचानने और मन को जगाने एवं केन्द्रीकृत करने से, वह सुस्ती से निपट सकता है।

[1] गौडपाद-कारिका 3.44

मानसिक रूप से किया जा रहा जप तेज़ किया जा सकता है। तब मन सतर्क हो जाएगा। लेकिन, प्रयास के बाद भी यदि मन सुस्त ही रहता है, तो यह परामर्श दिया जाता है कि एक छोटा सा विराम लें, टहलें और फ़िर ध्यान करें। कुछ अवसरों पर मन को ध्यान करने के लिए बाध्य नहीं करना चाहिए। यदि थकान हो, तो एक विराम के बाद ध्यान प्रारम्भ करना उचित है। लेकिन, आलस्य ही सुस्ती का कारण हो, तो व्यक्ति को ध्यान बनाए रखने के लिए मन को विवश करना चाहिए।

शि - क्या ध्यान के समय जप करना आवश्यक है?

गुरु - सगुण-ध्यान (ईश्वर के दिव्य रूप पर ध्यान) लगाते समय जप आरम्भ में उपयोगी है। वह मन को शान्त बनाने में सहायता करता है। जैसे ही मन ध्येय वस्तु पर केन्द्रित हो जाता है, जप अपने आप रुक जाता है। अतः, सामान्यतः जप को जानबूझकर रोकने की आवश्यकता नहीं होती।

शि - किसी रूप पर ध्यान का अभ्यास कैसे करना चाहिए?

गुरु - प्रविधियाँ अलग-अलग होती हैं और अलग-अलग साधकों को अलग-अलग प्रकार से निर्देश देना पड़ता है। एक सर्वसामान्य प्रकार को निर्देशित नहीं किया जा सकता है। मैं एक रीति सुनाऊँगा। कोई इस धारणा के साथ आगे बढ़ सकता है कि अपना इष्ट-देवता अपने हृदय के कमल में विराजमान हैं। यदि किसी को भगवान के चुने हुए रूप की कल्पना करना और उस पर ध्यान केन्द्रित करना कठिन लगता है, तो वह देवता के एक चित्र की सहायता ले सकता है। चित्र को देखते हुए जप करना चाहिए। फ़िर, आंशिक रूप से आँखें मूँदने के बाद, उसको इस विचार के साथ देवता का ध्यान करने का प्रयास करना चाहिए कि वास्तव में वह देवता को देख रहा है। बिना भटके, कुछ समय के लिए मन एकाग्र हो सकता है। लेकिन एक बार जब मन भटकने लगे, तब वह अपनी आँखें खोल सकता है और भावचित्र को फ़िर से देख सकता है। इसके बाद, आँखों को आंशिक रूप से मूँदते हुए, ध्यान किया जा सकता है। इस प्रकार प्रयास दोहराया जाए, तो चित्र को देखने की आवश्यकता के बिना, इष्ट-देवता का रूप उसके चित्त में बने रह जाता है। यह कई

ध्यानाभ्यास के प्रकारों में से एक है। ध्वनि पर ध्यान लगाना दूसरा प्रकार है। महर्षि पतञ्जलि सामान्य नियम निर्धारित करते हैं —

अथवा किसी वाञ्छित, अनुमत वस्तु पर ध्यान करके।[1]

यह गुरु ही निर्धारित करते हैं कि अपने शिष्य के लिए कौन सी विधि सबसे उपयुक्त है।

शि - क्या स्वास्थ्य ठीक न होने के समय ध्यान लगाना उचित है?

गुरु - वह इस पर निर्भर करता है कि स्वास्थ्य कितना बिगड़ा है। जो ध्यान में बहुत प्रगति कर चुके हैं, वे जब चाहें ध्यान कर सकेंगे। लेकिन जो लोग अभी भी प्रारम्भिक स्तर में हैं, वे केवल ध्यान तभी कर पाएँगे जब उनका स्वास्थ्य अच्छा होगा। ध्यान का अभ्यास बढ़ाने से तदनुसार श्रेष्ठतर फल मिलते हैं। हालाँकि, इसका तात्पर्य यह नहीं है कि किसी को इतनी देर बैठना चाहिए कि वह मन को तनाव दे। ध्यान में निपुण लोग निरन्तर घंटों तक ध्यान केन्द्रित कर सकते हैं। लेकिन, अगर कोई ध्यान में दक्ष नहीं है, वह ध्यान में घंटों बैठने का प्रयास करता है, तो उससे केवल अप्रिय यादें उत्पन्न होंगी। साथ ही, शिरोवेदना या कुछ अन्य वेदना भी प्रकट हो सकती है।

शि - निर्गुण-ध्यान (गुणों से रहित आत्मा पर ध्यान) का अभ्यास कैसे किया जाना चाहिए?

गुरु - निर्गुण-ध्यान का अभ्यास करते समय, किसी दिव्य रूप या जप की सहायता लेने की आवश्यकता नहीं होती है। यह उन लोगों के लिए उपयुक्त है जिन्होंने ध्यान के अभ्यास में उच्च स्तर प्राप्त कर लिए हैं। निराकार और निर्गुण वस्तु पर ध्यान निर्गुण-ध्यान है। यह ध्यान की पराकाष्ठा निर्विकल्प-समाधि की ओर ले जाता है। इसका अभ्यास करने के लिए, कोई अनूठी विधि नहीं है। इसके लिए एक रीति इस प्रकार है — सबसे पहले, विचारों के उदय और पतन को केवल इस निश्चय के साथ देखा जाना चाहिए कि स्वयं और विचारों के बीच कोई सम्बन्ध नहीं है। धीरे-धीरे, विचार स्वतः ही क्षयित हो जाते हैं। सभी

[1] योगसूत्र 1.39

मानसिक भटकन को सीधे रोककर, स्थिरता से, "मैं शुद्ध चित् और आनन्द हूँ," सोचना एक अन्य विधि है। निर्गुण-ध्यान के समय शरीर के प्रति जागरूकता नहीं होती।

शि - कुछ लोगों को ध्यान के समय कभी-कभी शारीरिक झटकों का अनुभव क्यों होता है?

गुरु - सामान्य रूप से, इसका अर्थ है कि शरीर दुर्बल है। यह कुण्डलिनी-शक्ति के प्रभाव के कारण भी हो सकता है। छोटे-मोटे झटकों की चिन्ता किए बिना ध्यान बनाए रखा जा सकता है।

शि - ध्यानाभ्यास कहाँ किया जाना चाहिए?

गुरु - एक शान्त और पवित्र स्थल में।

शि - बहुत से लोग ध्यान करने की सचमुच इच्छा रखते हैं, लेकिन फ़िर भी इसे ठीक से नहीं कर पाते हैं। ऐसा क्यों?

गुरु - ऐसा लग सकता है कि वे ध्यान के लिए बहुत तरसते हैं, लेकिन क्या वास्तव में ऐसा है? नहीं। अधिकांश लोगों के जीवन का एक छोटा सा विश्लेषण भी दर्शाता है कि वे ध्यान को यथोचित महत्त्व नहीं देते हैं। नींद, भोजन, कार्यालय, परीक्षा आदि को ध्यान से अधिक प्राथमिकता मिलती है। यदि कार्यालय का समय हो गया है, तो वहीं ध्यान का अन्त हो जाता है। इसके अतिरिक्त, जब वे ध्यान के लिए बैठते हैं, तब भी वे इस विचार के साथ नहीं बैठते — "इस विश्व में कुछ भी हो। मेरे लिए अब केवल ध्यान आवश्यक है।" और इस जन्म में ध्यान उन लोगों के लिए कठिन है, जिन्होंने अपने पिछले जन्मों में इसका अधिक अभ्यास नहीं किया हो। उसी नियम से, जिन लोगों ने बहुत ध्यान का अभ्यास किया हो, उन्हें अब ध्यान आसान लगेगा। तैरना प्रारम्भ में कठिन होता है। अभ्यास से वह आसान हो जाता है। यहाँ भी यही स्थिति है।

शि - जब कोई ध्यान के लिए बैठता है, तब क्या यह संकल्प — "मैं किसी भी चिन्ता और किसी सांसारिक विचारों को स्थान नहीं दूँगा" — उसके लिए सहायक होगा?

गुरु - हाँ।

शि - यह तर्कसंगत है कि जिसे तीव्र वैराग्य है, उसे ध्यानाभ्यास करते समय सांसारिक विचारों को आसानी से भूलने में सक्षम होना चाहिए। हालाँकि, हमें कुछ ऐसे गहन वैराग्ययुक्त व्यक्ति देखने को मिलते हैं जो ध्यान करने में असमर्थ हैं। क्या गुरुजी कृपया स्पष्ट करेंगे कि ऐसा क्यों है?

गुरु - सामान्य रूप से, गहन वैराग्य रखने वालों के लिए ध्यान आसान होता है। हालाँकि, अपने पिछले जन्मों में ध्यान का नियत अभ्यास न करने के कारण, कुछ तीव्र वैराग्ययुक्त लोगों को ध्यान के समय गहन ध्यान प्राप्त करने में कठिनाई का सामना करना पड़ता है।

शि - ध्यान करने के प्रयास में बार-बार असफल होने पर, क्या साधक निराश नहीं होगा और चिढ़ नहीं जाएगा?

गुरु - निराशा या चिढ़ को अवसर देना अपने ही मार्ग में एक बाधा के रूप में खड़े होने के समान है। एक उपाधि पाने के लिए भी विद्यालय जाना पड़ता है और वर्षों तक पढ़ाई करनी पड़ती है। तो ध्यान में — जो अत्यन्त सूक्ष्म और बहुत श्रेष्ठ है — सफलता प्राप्त करने के लिए, आवश्यक प्रयास के बारे में क्या कहा जाना चाहिए? लोग न तो उतना प्रयास करते हैं जितना उपाधि पाने के लिए लगाते हैं, अपितु वे इस बात पर भी आपत्ति जताते हैं कि वे चिढ़चड़ापन और निराश अनुभव करते हैं। तुम स्वयं आँकलन कर सकते हो कि यह कितना उचित है।

महर्षि पतञ्जलि ने अपने योगसूत्रों में कहा है —

लम्बे समय तक, बिना किसी विराम के और निष्ठापूर्वक अभ्यास करने पर, वह दृढ़ता से जड़ें जमा लेता है।[1]

कुछ दिनों अथवा महीनों में ही लोग ध्यान में सफलता पा लेते, तो महर्षि पतञ्जलि का यह सूत्र निरर्थक होता।

शि - यहाँ तक कि जो लोग अच्छा ध्यान प्राप्त करने में सक्षम हैं, उनको भी अपने ध्यान के स्तर में उतार-चढ़ाव का अनुभव हो सकता है। उनका

[1] योगसूत्र 1.14

ध्यान कभी गहरा होता है, तो कभी वह असन्तोषजनक होता है। सदैव अच्छा ध्यान पाने के लिए क्या करना चाहिए?

गुरु - अस्वस्थता, अनियमित आहार, आलस्य, चिन्ताएँ, कामनाएँ आदि ध्यान में बाधक बने रहते हैं। इसलिए, यदि हम इन बाधाओं को दूर करें, तो ध्यान स्थिर हो जाएगा। यदि समस्या बनी रहती है तो चिन्ता को कोई अवसर न देते हुए, अधिक प्रयास करना चाहिए। किसी विशेष शक्तिशाली बाधा के कारण ध्यान बिगड़ जाता है, तो साधक को गुरु से मार्गदर्शन पाकर उनके अनुसार निर्दिष्ट प्रयास से उसे हटा देना चाहिए। इन सबके अतिरिक्त, इस तथ्य का लाभ उठाया जा सकता है कि दिन के कुछ विशिष्ट समय — जैसे भोर और सांझ — मन स्वाभाविक रूप से शान्त रहता है।

शि - क्या केवल ध्यान ही इच्छाओं को नियन्त्रित करने के लिए पर्याप्त है?

गुरु - जो ध्यान की पराकाष्ठा, समाधि, को प्राप्त कर लेते हैं, वे इसके द्वारा इच्छाओं को नष्ट कर सकते हैं। दूसरों के लिए, केवल ध्यान पर्याप्त नहीं हो सकता। जब कोई ध्यान में नहीं होता है, तब यदि इच्छा की वस्तुओं के बारे में सोचता है या उनको भोग कर लेता है, तो मानसिक संस्कार उत्पन्न या दृढ़ीकृत होते हैं। ये संस्कार ध्यान के समय उत्पन्न संस्कारों पर हावी होने की प्रवृत्ति रखते हैं। इसलिए, जब कोई ध्यान नहीं कर रहा है, तो उसे वस्तुओं में दोष-दर्शन (दोषों की धारणा) के अभ्यास से प्रयत्नपूर्वक वैराग्य को विकसित करना चाहिए। प्रतिदिन शास्त्र ग्रन्थों का अध्ययन करने और उनमें व्यक्त विचारों पर चिन्तन करने से, व्यक्ति को इच्छाओं पर विजय प्राप्त करने में सहायता मिलती है। सत्पुरुषों की संगति लालसाओं को दमन करने में बहुत उपयुक्त होती है।

1.21 निर्विकल्प-समाधि

शिष्य - निर्विकल्प-समाधि क्या है?

गुरुजी - यह सर्वोच्च समाधि है जिसमें द्रष्टा (देखने वाला), दृश्य (देखी गई) वस्तु और दर्शन (देखने की क्रिया) के भेद का बोध नहीं होता। निर्विकल्प-समाधि में आत्मा का साक्षात्कार होता है।

शि - जब कोई निर्विकल्प-समाधि में होता है, तो क्या उसकी साँस पूरी तरह से रुक जाती है?

गुरु - नहीं, मन्द सा श्वास चलता रहता है।

शि - निर्विकल्प-समाधि की अवस्था में, क्या आनन्द की अभिव्यक्ति होती है या केवल दुःख का अभाव होता है?

गुरु - न केवल दुःख का अभाव होता है, परन्तु परमानन्द की अभिव्यक्ति भी।

शि - मैंने सुना है कि अखण्डाकार-वृत्ति (एक अत्यन्त स्वच्छंद मानसिक वृत्ति, जिसका आधार आत्मा है) निर्विकल्प-समाधि में विद्यमान है। गुरुजी ने कहा कि निर्विकल्प-समाधि में द्रष्टा, दृश्य वस्तु और देखने की क्रिया के बारे में कोई बोध नहीं है। यदि हाँ, तो क्या समाधि में अखण्डाकार-वृत्ति का ज्ञान होगा?

गुरु - नहीं। निर्विकल्प-समाधि में रहते समय, व्यक्ति को अखण्डाकार-वृत्ति की उपस्थिति का बोध नहीं होता।

शि - यदि ऐसा है तो यह कैसे कहा जा सकता है कि निर्विकल्प-समाधि में अखण्डाकार-वृत्ति थी?

गुरु - कोई अनुमान और शास्त्र कथनों के माध्यम से यह जान सकता है। अगर स्मृति होनी है, तो पूर्व का अनुभव अवश्य रहा होगा। मन निर्विकल्प-समाधि से उतरने पर, इस प्रकार की स्मृति होती है कि परमानन्द पहले अनुभव किया गया था। स्मृति की उपस्थिति के लिए, एक अनुभव रहा होगा। अगर मन से जुड़ा कोई अनुभव होना है, तो एक चित्तवृत्ति रही होगी। वह मानसिक वृत्ति अखण्डाकार-वृत्ति कहलाती है।

शि - मनोवृत्ति के लिए कोई विषय आवश्यक है। अखण्डाकार-वृत्ति का विषय क्या है?

गुरु - केवल आत्मा।

शि - जब किसी वस्तु का बोध होता है, तो मन तदाकार हो जाता है। तभी वस्तु का ज्ञान होता है। सपनों में भी जो दिखता है, मन उसका रूप धारण कर लेता है, लेकिन इस अन्तर के साथ कि तब इन्द्रियाँ भूमिका नहीं निभातीं। इस प्रकार, जाग्रत और स्वप्न दोनों अवस्थाओं में, वृत्ति एक वस्तु का रूप धारण कर लेती है। गुरुजी ने कहा कि अखण्डाकार-वृत्ति से आत्मा को ही ग्रहण किया जाता है। वृत्ति का विषय आत्मा कैसे बन सकती है, क्योंकि उसमें कोई गुण या रूप ही नहीं है?

गुरु - जब यह कहा जाता है कि अखण्डाकार-वृत्ति का विषय आत्मा है, तो इसका तात्पर्य यह है कि उस समय मन इतना शुद्ध होता है कि उसे ब्रह्म से अलग पहचाना ही नहीं जा सकता। तब मन एक शुद्ध स्फटिक की तरह होता है। उसमें ज्वलन्त आत्मा स्पष्ट रूप से प्रकट होती है। जिस प्रकार स्फटिक को लाल फूल के पास रखने पर वह लाल दिखाई देता है, उसी प्रकार आत्मा का स्वरूप भी मन द्वारा ग्रहण किया जाता है। यही अखण्डाकार-वृत्ति है जो अज्ञान को नष्ट करती है।

शि - क्या निर्विकल्प-समाधि का एकमात्र अनुभव, ब्रह्मज्ञान को प्राप्त करने लिए पर्याप्त होगा?

गुरु - सामान्यतः यह पर्याप्त नहीं है। निर्विकल्प-समाधि के समय, आत्मा का अनुभव होता है। उस अवस्था से उभरने के बाद, अनुभव धीरे-धीरे फ़ीका पड़ने लगता है। हालाँकि, उससे उतरने के तुरन्त बाद, सब कुछ आत्मा के रूप में देखा जाता है। आत्मा से भिन्न कुछ भी अवगत नहीं किया जाता। उदाहरणार्थ, कोई अनुभव करता है, "मैं एक बड़ा महासागर हूँ। जगद्रूप बुलबुले मुझमें उत्पन्न होते हैं।" उस अनुभव को समझने के लिए निर्विकल्प-समाधि का अनुभव अवश्य चाहिए। मौखिक विवरण सर्वथा अपर्याप्त हैं।

यदि किसी को बार-बार निर्विकल्प-समाधि का अनुभव होता है, तो उसका ज्ञान स्थिर हो जाता है। बोध के स्थिर होने के बाद, मन नष्ट हो जाता है और व्यक्ति जीवन्मुक्त हो जाता है।

शि - निर्विकल्प-समाधि की अवस्था से कोई क्यों बाहर आता है?

गुरु - प्रारब्ध-कर्म समाप्त नहीं हुआ हो, तो व्यक्ति को निर्विकल्प-समाधि से बाहर आना पड़ता है। योग-वासिष्ठ में इसके नाना उदाहरण मिलते हैं।

शि - क्या आत्मज्ञान निर्विकल्प-समाधि के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है?

गुरु - आत्मा का स्पष्ट ज्ञान विचार से होता है। गुरु और शास्त्र की शिक्षा से उत्पन्न होने वाला ज्ञान, जो विचार द्वारा सन्देह से मुक्त किया जाता है, वह निर्विकल्प-समाधि द्वारा स्पष्ट रूप से प्रकट होता है। वह सभी विक्षेपक प्रभावों को हटाकर ऐसा करता है। निर्विकल्प-समाधि एक अद्भुत उपाय है। हालाँकि, वह स्वयं सत्य को सम्पादित नहीं करता है जो किसी को बन्धन से मुक्त करता है। दूसरी ओर, वह केवल गुरु और शास्त्र की शिक्षा और विचार द्वारा समर्थित होने पर, बिना किसी अड़चन के, तत्त्व के बोध को प्रकट करता है।

शि - निर्विकल्प-समाधि के समय, क्या अपने शरीर और अपने परिवेश के बारे में कोई जागरूकता होगी?

गुरु - नहीं।

शि - क्या किसी को निर्विकल्प-समाधि से जगाया जा सकता है?

गुरु - बहुत लोगों के सम्बन्ध में, यह कुछ कठिनाई से किया जा सकता है। कभी-कभी, किसी को जगाना लगभग असम्भव हो जाता है। यह तो निर्विकल्प-समाधि की गहराई पर निर्भर करता है।

शि - क्या कोई समाधि में अपने रहने की अवधि को पूर्वनिर्धारित कर सकता है?

गुरु - हाँ, पर्याप्त अभ्यास हो तो। समाधि में जाने से पहले एक उचित संकल्प किया जाता है, तो व्यक्ति पूर्व निर्धारित समय पर उस उच्च स्थिति से

उतर सकता है। उदाहरणार्थ, यदि कोई सोचता है, "मैं एक घंटे के बाद पूजा करूंगा," और समाधि में चला जाता है, तो उस अवस्था में ठीक एक घंटे तक रहने के बाद, समाधि से बाहर आ सकता है।

शि - क्या गुरुजी कृपया उन अनुभवों की व्याख्या करेंगे जो निर्विकल्प-समाधि के आरम्भ से पहले होते हैं?

गुरु - एक सटीक विवरण देना असम्भव है और निर्विकल्प-समाधि से पहले के चरण अनोखे नहीं हैं। हालाँकि, जो हो सकता है, उसका मैं स्थूल वर्णन दूंगा। सबसे पहले, शरीर और परिवेश के बारे में जागरूकता धीरे-धीरे लुप्त हो जाती है। तब, केवल मन के विचारों का बोध रहता है। जैसे-जैसे ध्यान आगे बढ़ता है, मानसिक क्रिया कम होती जाती है। कोई अनुभव करता है, "मैं आकाश की भांति अनन्त हो गया हूँ।" फ़िर, एक महान आनन्दमय अनुभव आता है। इसके बाद, एकाएक परिवर्तन होता है और द्रष्टा, दृश्य और दर्शन क्रिया के भेद की प्रतीति लुप्त हो जाती है। वह अनुभव शब्दों से परे है।

शि - निर्विकल्प-समाधि प्राप्त करने के लिए अपनाई जाने वाली प्रक्रिया क्या है?

गुरु - सामान्य तौर पर, यदि कोई बार-बार सविकल्प-समाधि प्राप्त करता है, तो निर्विकल्प-समाधि प्राप्त की जा सकती है।

शि - क्या सविकल्प-समाधि में भी द्रष्टा, दृश्य एवं दर्शन क्रिया के भेद की जागरूकता लुप्त हो जाती है?

गुरु - नहीं। वह केवल निर्विकल्प-समाधि में लुप्त होती है। 'सविकल्प-समाधि' शब्द ही दर्शाता है कि इस समाधि में द्रष्टा, दृश्य एवं दर्शन के विकल्प की प्रतीति — यद्यपि बहुत मन्द प्रमाण में — विद्यमान है।

शि - क्या सविकल्प-समाधि में मिलने वाला आनन्द निर्विकल्प-समाधि से प्राप्त आनन्द के समान होगा?

गुरु - नहीं। निर्विकल्प-समाधि का आनन्द अतुल्य है। फ़िर भी, यह कहा जा सकता है कि सविकल्प-समाधि का आनन्द ब्रह्माण्ड के किसी भी वैषयिक सुख से बहुत उत्कृष्ट है।

शि - क्या यह कहा जा सकता है कि निर्विकल्प-समाधि में अपनी मृत्यु की व्यवस्था करने वाले को निश्चित रूप से मुक्ति मिलेगी?

गुरु - ऐसा नहीं कहा जा सकता। ज्ञान पूर्ण रूप से अबाधित एवं फलित होने पर ही, किसी को मोक्ष प्राप्त होता है। यदि किसी को ब्रह्म-साक्षात्कार पूर्ण रूप से नहीं हुआ है और वह समाधि में स्वयं को मरवाने की व्यवस्था करता है, तो पुनर्जन्म की सम्भावना होगी।

शि - क्या यह कहा जा सकता है कि यदि कोई निर्विकल्प-समाधि में रहते समय मर जाता है, तो वह अगले जन्म में आसानी से ज्ञान प्राप्त कर सकता है?

गुरु - हाँ।

शि - क्या निर्विकल्प-समाधि प्राप्त करने के बाद भी किसी का आध्यात्मिक पतन सम्भव है?

गुरु - हाँ, जब तक सम्पूर्ण एवं दृढ़ आत्म-साक्षात्कार प्राप्त नहीं होता है, तब तक गिरावट की सम्भावना होती है। मैं ऐसे कुछ व्यक्तियों से मिला हूँ, जिनका निर्विकल्प-समाधि की प्राप्ति के बाद पतन हुआ है।

शि - क्या मादक पदार्थों का सेवन, आत्म-सम्मोहन इत्यादि से निर्विकल्प-समाधि प्राप्त की जा सकती है?

गुरु - नहीं।

शि - क्या लम्बे समय तक निर्विकल्प-समाधि में रहने पर, मन के नीचे आने के तुरन्त बाद प्यास, भूख आदि का अनुभव करना सम्भव है?

गुरु - ये सामान्यतः प्रतीत नहीं होते हैं। शरीर के लम्बे समय तक सीधा और गतिहीन रहने के कारण, कभी-कभी शरीर में मन्द वेदना अनुभूत हो सकती है।

शि - क्या गुरुजी अपने व्यक्तिगत अनुभव से निर्विकल्प-समाधि के बारे में कुछ बताएँगे?

गुरु - (स्मितमुख सहित) क्या तुम्हें ऐसा लगता है कि इस सारे समय, मैं एक तोते की तरह केवल वही दोहरा रहा था जो शास्त्रों में निहित है?

1.22 नादानुसन्धान

शिष्य - नादानुसन्धान का क्या अर्थ है?

गुरुजी - सामान्य रूप से, वह भी एक प्रकार का ध्यान है।

शि - उसका अभ्यास कैसे किया जाता है?

गुरु - कुछ विधि हैं। मैं उनमें से एक का उल्लेख करूँगा। नाक, मुँह और कानों को उङ्गलियों से बन्द करना चाहिए और कानों के अन्दर सुनाई देने वाले नाद को ध्यान से सुनना चाहिए।

शि - नासारन्ध्र और मुँह को पूरी तरह बन्द करने पर, कोई कैसे साँस ले सकता है?

गुरु - मेरा अभिप्राय यह नहीं था कि नासारन्ध्र पूरी तरह बन्द कर दिया जाए।

शि - क्या भीतर उत्पन्न होने वाली ध्वनि पर ध्यान देने से कोई लाभ है?

गुरु - हाँ। मन को एकाग्र करने के लिए वह आवश्यक है। यह या तो मन को किसी रूप में स्थिर करके या किसी नाद पर ध्यान देकर किया जा सकता है। कान बन्द करने पर, बाहरी शब्द कम हो जाते हैं। हालाँकि, आन्तरिक ध्वनि स्पष्ट रूप से सुनाई देती है। उस नाद पर ध्यान लगाने से मन एकाग्र हो जाता है।

शि - आन्तरिक रूप से सुनाई देने वाली ध्वनि पर कैसे ध्यान केन्द्रित किया जाए?

गुरु - जिस प्रकार मन बाह्य ध्वनि पर एकाग्र किया जा सकता है, उसी प्रकार वह आन्तरिक ध्वनि पर भी केन्द्रित किया जा सकता है। कारण यह है कि कानों को बन्द करने पर, आन्तरिक नाद सुना जा सकता है।

शि - इस प्रकार नादानुसन्धान करते समय, क्या किसी रूप पर ध्यान करना आवश्यक है?

गुरु - नहीं। आन्तरिक नाद पर मन को केन्द्रित करना पर्याप्त है।

शि - यदि मन नाद पर स्थिर हो जाए, तो इसका क्या परिणाम होगा?

गुरु - धीरे-धीरे मन अधिकाधिक शान्त होता जाता है। बाह्य शब्द और अन्य विक्षोभ मन की एकाग्रता को विचलित करना बन्द कर देते हैं। भीतर से सुनाई देने वाला नाद बहुत स्पष्ट हो जाता है। समय बीतने के साथ, विभिन्न आन्तरिक ध्वनियाँ सुनाई देती हैं। अन्त में, सभी नाद लुप्त हो जाते हैं और मन समाधि में डूब जाता है।

शि - आन्तरिक नाद पर ध्यान लगाते समय, क्या किसी प्रकार की विशेष शक्ति का प्रादुर्भाव हमें देखने को मिलता है?

गुरु - कभी-कभी, व्यक्ति दूर से आने वाली ध्वनियों या वार्तालापों को सुन सकता है। लेकिन, उसको अतीन्द्रिय-श्रवण के प्रति उदासीन होना चाहिए और केवल ध्यान को बनाए रखना चाहिए। यदि कोई अतीन्द्रिय-श्रवण इत्यादि की ओर मुड़ता है — जो प्रकट हो सकते हैं — तो उसकी आध्यात्मिक प्रगति में बाधा होगा।

शि - क्या नादानुसन्धान किसी रूप पर ध्यान करने से उत्कृष्ट है?

गुरु - एक के लिए जो सबसे अच्छा है वह अवश्य नहीं कि दूसरों के लिए भी हो, क्योंकि आध्यात्मिक आकांक्षियों की योग्यता और स्वाभाविक क्षमता अलग-अलग होती हैं। इसलिए, गुरु कुछ शिष्यों के लिए नादानुसन्धान का और कुछ अन्य के लिए रूप पर ध्यान का आदेश दे सकते हैं।

शि - अन्य विधानों की अपेक्षा, क्या नादानुसन्धान की कोई विशिष्टता है?

गुरु - (स्मितमुख सहित) यहाँ तक कि जो व्यक्ति नादानुसन्धान में पारङ्गत नहीं है, उसे भी बाहरी ध्वनियों और बाहरी रूपों से विचलित नहीं होना चाहिए, क्योंकि उसके कान और आँखें बन्द रहते हैं। तुम इसे अपने आप में एक विशेषता मान सकते हो!

शि - क्या इस प्रकार के ध्यान का अभ्यास करने में कोई कठिनाई है?

गुरु - (स्मितमुख सहित) हाथों से कानों को बहुत समय तक बन्द रखने से क्या हाथों में कुछ वेदना नहीं होगी?

शि - क्या नादानुसन्धान का अभ्यास करने के अन्य विधि हैं?

गुरु - मैंने कुछ बौद्धों को एक लम्बी अवधि तक बजने वाली घंटी का उपयोग करते हुए, ध्यान का अभ्यास करते देखा है। दो व्यक्ति आमने-सामने बैठे थे। वे बारी-बारी से घंटी बजाते थे और ध्वनि पर ध्यान केन्द्रित करते थे। नाद पर ध्यान केन्द्रित करने की ऐसी अन्य विधियाँ प्रचलित हैं।

1.23 लम्बिका-योग

शिष्य - मैंने पढ़ा है कि श्री विद्यातीर्थ महास्वामी जी (शृंगेरी श्री शारदा पीठ के 10वें जगद्गुरु) ने अपना अन्तिम दिन लम्बिका-योग में व्यतीत किया था। क्या गुरुजी कृपया समझाएँगे कि लम्बिका-योग का अर्थ क्या है?

गुरुजी - लम्बिका-योग के समय, सिर में स्थित सहस्रार-चक्र से अमृत बहता है। वह अमृत भूख और प्यास मिटाकर उत्तम स्वास्थ्य प्रदान करता है।

शि - लम्बिका-योग का अभ्यास कैसे करना चाहिए?

गुरु - हठ-योग ग्रन्थों के अनुसार, जीभ के निचले भाग में कण्डरा को थोड़ा सा काट देना चाहिए। तदुपरान्त, घायल भाग को ठीक करने के लिए दवाई लगानी चाहिए। फ़िर, जीभ के निचले भाग को और अधिक काट देना चाहिए। साथ ही, जीभ को थोड़ा-थोड़ा करके फैलाना चाहिए। शीघ्र ही, जीभ पतली और लम्बी हो जाती है। जब इस लम्बी जीभ को फैलाया जाता है, तो इसे भौंहों के बीच के क्षेत्र में पहुँचना चाहिए। जीभ को अब पीछे की ओर मोड़कर, ऊपर की ओर धकेलना चाहिए। इसके बाद जब ध्यान का अभ्यास किया जाता है, तो अमृत बहता है।

शि - क्या इस तरह के ध्यान से शारीरिक पीड़ा और मूकता हो सकती है?

गुरु - यह आश्वासन नहीं दिया जा सकता है कि वेदना नहीं होगी, लेकिन यह कहना सही नहीं है कि कोई गूंगा हो जाएगा। स्वर स्वच्छ होगा।

शि - अमृत का स्वाद कैसा होगा? क्या कोई अनुभव से जानेगा कि वह नीचे बह रहा है?

गुरु - यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि अमृत स्वादिष्ट है। निश्चित रूप से अनुभव किया जा सकता है क्योंकि वह गले तक बहता है।

शि - क्या एक बार अमृत का स्वाद लेने के बाद, भूख और प्यास सदैव मिट जाती हैं?

गुरु - यह नहीं माना जा सकता कि वे सदैव लुप्त हो जाएँगे। वे सामान्यतः कुछ समय के लिए प्रतीत नहीं होते हैं, लेकिन बाद में फ़िर से प्रकट होते हैं। अमृत का प्रभाव रहने तक शरीर को भोजन और पानी की आवश्यकता नहीं होती है और व्यक्ति निर्बल नहीं होता है।

शि - क्या गुरुजी ने किसी ऐसे व्यक्ति को देखा है जिसने निर्धारित ढंग से अपनी जीभ काट ली हो?

गुरु - हाँ। मैंने एक ऐसे व्यक्ति को देखा है। उनका स्पष्ट स्वर था। उन्होंने अपनी जीभ को मोड़कर और ऊपर की ओर धकेल कर लम्बिका-योग का प्रदर्शन किया। वे अजीब सी आवाज कर रहे थे। अन्त में, वे अमृत प्राप्त करने में सफल रहे।

शि - क्या किसी बाहरी ध्वनि या गड़बड़ी से नुकसान हुआ होगा?

गुरु - हाँ। अधिक गड़बड़ी घातक हो सकती थी।

शि - क्या अमृत प्राप्त करने के लिए जीभ के नीचे भाग को काटने की अपेक्षा, कोई और आसान विधि है?

गुरु - अवश्य है। अभी जो मैंने तुमको बताया, वह अमृत प्राप्त करने की हठ-योग विधि है। कुछ लोगों के लिए, पिछले जन्म में उनके उचित अभ्यास

के कारण, ध्यान के समय वह उतरता है। मेरे गुरुजी (परमपूज्य जगद्गुरु श्री चन्द्रशेखर भारती महास्वामी जी) ने मुझे अमृत धारा के बारे में बताया है।

शि - किस प्रकार के ध्यान में अमृत बहता है?

गुरु - सामान्यतः, सगुण-ध्यान के समय।

शि - चूँकि कहा जाता है कि अमृत सिर से नीचे की ओर बहता है, इसलिए क्या कोई इस निष्कर्ष पर पहुँच सकता कि अमृत वहाँ सञ्चित है? क्या यह आश्चर्य की बात नहीं है?

गुरु - यह अप्रासंगिक है कि यह आश्चर्यजनक है या नहीं। अमृत के अस्तित्व और अवतरण का साक्षात् अनुभव होता है। अमृत के स्वादिष्ट होने के साथ-साथ, वह भूख-प्यास से भी मुक्त करता है। इसलिए, सन्देह का कोई अवसर नहीं है। हालाँकि, न तो सिर में सहस्रार में विद्यमान अमृत और न ही जो गले में नीचे बहता है, वह दूसरों द्वारा पता लगाया जा सकता है। यह कुछ स्थूल नहीं है।

शि - अगर लम्बिका-योग सभी को सिखाया जाए, तो भुख से पीड़ित अनगिनत लोग इसका लाभ उठा सकते हैं। है न?

गुरु - बहुत कम लोग ही सफलतापूर्वक अमृत प्राप्त करेंगे, और इसलिए, इस अभ्यास को सार्वजनिक नहीं बनाया जा सकता। सफल होने के लिए अत्यधिक प्रयत्न की आवश्यकता है और अमृत का स्वाद लेने के इच्छुक परिश्रमी साधकों के लिए भी वह प्रतिवारक हो सकता है।

शि - क्या गुरुजी ने अमृत-स्राव पाए हुए व्यक्तियों में कोई विशेषता देखी है?

गुरु - हाँ। कुछ लोगों के सिर के ताज से थोड़ा सा पानी रिसता है। परन्तु, यह अमृत-स्राव से कारण के रूप में सम्बन्धित नहीं है।

शि - सिर से पानी कब निकलेगा?

गुरु - यह कभी भी हो सकता है। भोजन के समय भी।

शि - कितना?

गुरु - लगभग एक आचमनी भर। (आचमनी एक चम्मच जैसा वस्तु है, जो अनुष्ठान के समय उपयुक्त है।)

शि - क्या निकलने वाला वह द्रव पानी है या पानी जैसा कुछ दूसरा द्रव?

गुरु - (स्मितमुख सहित) पानी।

शि - क्या पानी के बहाव के कारण कोई असुविधा होगी?

गुरु - कुछ भी असुविधा नहीं होती है। जो पानी निकलता है, उसे कपड़े से निकाल देना चाहिए। अन्यथा, वह चेहरे से नीचे बह जाएगा।

शि - पानी के ऐसे बहने का क्या कारण है?

गुरु - वह बह सकता है। बस इतना ही।

शि - क्या गुरुजी ने अमृत-स्राव के लिए प्रयत्न किया है?

गुरु - मैं ऐसी सिद्धियों पर न तो ध्यान देता हूँ और न ही पाने के लिए प्रयत्न करता हूँ। वह जब चाहे तब आ जाता है। उसे पाने या रोकने के लिए मैं कोई प्रयास नहीं करता।

शि - गुरुजी ने बताया कि जीभ का निचला भाग न काटे जाने पर भी कुछ लोगों में अमृत उतर सकता है। ऐसे लोग प्रवाह को आरम्भ करने या सुगम बनाने के लिए क्या कर सकते हैं?

गुरु - सगुण-ध्यान करते समय, वे जीभ को पीछे की ओर मोड़कर, ऊपरी तालु के पीछे की नोक पर रख सकते हैं। उनके पिछले जन्मों का अभ्यास अनुकूल हो, तो यह कुछ सहायक होगा।

शि - क्या आध्यात्मिक साधकों के लिए लम्बिका-योग की सहायता लेकर, अन्न और पानी की आवश्यकता से मुक्त होना लाभदायक नहीं होगा?

गुरु - नहीं। जो मोक्ष के इच्छुक हैं, उनका लक्ष्य केवल परब्रह्म-साक्षात्कार प्राप्त करना और, तद्द्वारा मोक्ष पाना, होना चाहिए। असाधारण मार्ग अपनाकर, भूख और प्यास से निपटने पर ध्यान देना भी लक्ष्य से एक तरह का विक्षेप है। श्री विद्यातीर्थ महास्वामी जी जैसे सन्तों को लम्बिका-योग स्वाभाविक रूप से सम्पन्न हुआ और इसलिए उन्होंने उसे

होने दिया। हालाँकि, अगर एक नौसिखिया इस पर अपना समय व्यतीत करता है, तो वह अपना मूल्य समय व्यर्थ कर रहा होगा। हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि मन लक्ष्य से विचलित न हो।

1.24 कुण्डलिनी

(कुण्डलिनी एक साँप के रूप में सर्वोच्च शक्ति है। सुषुम्ना-नाडी रीढ़ की मध्य नहर से गुज़रने वाली एक सूक्ष्म नाली है। सुषुम्ना-नाडी में और सिर के भीतर शक्ति के प्रकट होने के स्थान स्थित हैं। वे चक्र कहलाते हैं और कमल जैसे होते हैं। यदि कुण्डलिनी इन स्थानों पर पहुँचती है तो शक्ति एक विशेष प्रकार से प्रकट होती है। सामान्यतः, कुण्डलिनी सुषुम्ना-नाडी के तल पर मूलाधार-चक्र में सोती रहती है। जब सोई हुई कुण्डलिनी जागती है, सुषुम्ना-नाडी से होते हुए मूलाधार-चक्र से उठकर सिर में स्थित सहस्रार-चक्र तक जाती है, तब व्यक्ति समाधि प्राप्त करता है।)

शिष्य - क्या कुण्डलिनी और चक्र वास्तव में विद्यमान हैं?

गुरुजी - कुण्डलिनी एक दैवी अभिव्यक्ति है और वह शक्ति का स्रोत है। रीढ़ की हड्डी के तल पर वास्तव में कोई कुण्डलित स्थूल साँप नहीं है। और न ही मेरु-रज्जु में स्थूल कमल होते हैं। कुण्डलिनी के उत्थान और पीठ में ऊपरी ओर चढ़ने को अनुभव किया जा सकता है। शक्ति की अभिव्यक्ति के चरणों को समझा जाता है। ये कुण्डलिनी की विभिन्न चक्रों तक चढ़ाई से मेल खाते हैं।

शि - चक्रों को कमल के रूप में क्यों प्रस्तुत किया गया है और उनमें देवताओं का विवरण क्यों दिया गया है?

गुरु - तान्त्रिक ग्रन्थों में वर्णित प्रकार, कुण्डलिनी और चक्रों का चिन्तन, शक्ति की अभिव्यक्ति और जागरूकता के विस्तार का कारण बनता है। शारीरिक प्रभाव भी देखे जा सकते हैं। अगर कोई लम्बे समय तक साँस

नहीं लेगा, तो उसकी मृत्यु हो जाएगी। लेकिन, कुण्डलिनी-योग के अभ्यास के समय, कोई लम्बे समय तक श्वास के स्थगन के साथ बैठ सकता है। मैंने कुछ ऐसे लोगों को देखा है जिन्होंने चक्रों का चिन्तन करके शक्तियाँ प्राप्त की हैं। कुण्डलिनी-योग के माध्यम से विशेष शक्तियाँ प्राप्त की जा सकती हैं। चक्रों का वर्णन इस प्रकार भी काम आता है। हालाँकि, मुक्ति की तीव्र इच्छा रखने वालों के लिए, ऐसी सारी शक्तियाँ अप्रासंगिक हैं और उनके लिए, कुण्डलिनी-योग एक उच्चतर उद्देश्य की पूर्ति करता है।

शि - मूलाधार-चक्र में सुप्त कुण्डलिनी को कोई कैसे जगा सकता है?

गुरु - उचित ध्यान व प्राणायाम से वह जगाई जा सकती है। अन्य मार्ग भी हैं।

शि - प्राणायाम का अभ्यास कैसे किया जाता है?

गुरु - प्राणायाम के विभिन्न प्रकार हैं। साधक को किसी योग्य गुरु से उनको सीखने के बाद, उनका अभ्यास करना चाहिए।

शि - क्या गुरुजी प्राणायाम की किसी सरल पद्धति का वर्णन करेंगे, जिसका अभ्यास दैनन्दिन अनुष्ठान के समय किया जा सकता है?

गुरु - स्थिर आसन पर बैठना चाहिए और पीठ को सीधा रखना चाहिए। एक नथुने से श्वास लेकर, कुछ समय के लिए श्वास को अन्दर रोककर और फ़िर, दूसरे नथुने से साँस छोड़ते हुए प्राणायाम का अभ्यास किया जाता है। इसके बाद, साँस छोड़ने के लिए पहले उपयुक्त नथुने के माध्यम से वायु खींची जानी चाहिए। साधारण प्राणायाम के तीन भाग होते हैं। वे हैं '*पूरक*', '*कुम्भक*' और '*रेचक*'। श्वास को अन्दर लेना *पूरक* है, श्वास को रोकना *कुम्भक* है और श्वास छोड़ना *रेचक* है। यदि इन्हें 1:2:2 के काल अनुपात में किया जाए, तो इससे कठिनाई नहीं होगी। मैंने अभी जो उल्लेख किया है वह 1:4:2 के मानक अनुपात का दूसरा प्रकार है। विशेष लाभ प्राप्त करने के लिए, प्राणायाम के समय '*जालन्धर-बन्ध*', '*उड्डियान-बन्ध*' और '*मूल-बन्ध*' भी करना चाहिए। इन्हें एक शिक्षक से सीखना चाहिए। बन्धों का अनुचित अभ्यास हानिकारक है।

शि - क्या व्यक्ति को इतनी देर तक अपना श्वास रोक रखना चाहिए कि उससे उसे असुविधा हो?

गुरु - नहीं। प्राणायाम करते समय, इस बात पर सावधानी रखनी चाहिए कि असुविधा कभी न हो। अगर ऐसा हो तो अन्तःश्वसन, अवरोधन तथा निःश्वसन की अवधियों को आनुपातिक रूप से घटा देना चाहिए।

शि - प्राणायाम के कुछ लाभ क्या हैं?

गुरु - वह नाड़ियों को शुद्ध करता है और मन को शान्त करता है। वह एक प्रकार का प्रायश्चित्त है। वह सोई हुई कुण्डलिनी को जगाने में भी सहायक है।

शि - कहा गया है कि कुण्डलिनी के सहस्रार-चक्र पहुँचने पर, साधक गहरी समाधि प्राप्त करता है। क्या समाधि प्राप्त करने वाले हर कोई को बोध होगा कि कुण्डलिनी सहस्रार-चक्र तक चढ़ी है?

गुरु - नहीं। कुण्डलिनी के उत्थान और आरोहण की अवगति के बिना भी, आध्यात्मिक साधक समाधि प्राप्त कर सकता है। केवल वेदान्त-मार्ग को अपनाकर जिन्होंने समाधि प्राप्त की है, उनमें उस अवगति का अभाव होता है। वैसे तो अगर वे चाहें, कुण्डलिनी के सहस्रार-चक्र तक चढ़ाव का अनुभव पा सकते हैं। मैंने अभी जो बात की है, यद्यपि उसका वर्णन प्रमुख तान्त्रिक ग्रन्थों और हठयोग-प्रदीपिका में नहीं किया गया है, फ़िर भी यह अनुभव-सिद्ध विषय है।

1.25 अमनस्क-योग

शिष्य - जब कोई अचल और शान्त रहता है तो वह सुख अनुभव करता है। इसलिए, मानसिक शान्ति प्राप्त करने के लिए, क्या कोई कुछ समय के लिए आँखें खोलकर भी चुपचाप बैठ सकता है?

गुरुजी - हाँ। याज्ञवल्क्य जैसे महा मुनियों ने ऐसे एक अभ्यास की बात की है जिसका नाम है '*अमनस्क-योग*'।

शि - *अमनस्क-योग* क्या है?

गुरु - यह मन की एक अवस्था है जिसमें कोई विचार प्रकट नहीं होता है। सच्चा अमनस्क तभी होता है जब समाधि में मन नष्ट हो जाता है और व्यक्ति जीवन्मुक्त हो जाता है। सामान्य रूप से, हम नाना वस्तुओं के बारे में सोचते रहते हैं। ऐसा लगता है कि वृत्तियाँ अविच्छिन्न रहती हैं। हालाँकि, सावधानीपूर्वक अवलोकन से पता चलता है कि क्रमिक विचारों के बीच विराम होते हैं। अन्तराल में आत्मा स्पष्टतः प्रकाशमान है। लोग इनको नहीं पहचानते, क्योंकि विचारों के बीच का अन्तराल बहुत छोटा होता है। भगवत्पाद जी लघु-वाक्यवृत्ति में लिखते हैं —

दो मोतियों के बीच, मोतियों से ढका एक धागा दिखाई देता है। इसी तरह, विचारों से छिपी चेतना, विचारों के बीच स्पष्ट है।[1]

मोतियों से बनी माला में जहाँ मोती होते हैं, वहाँ धागा छिपा होता है, लेकिन दो मोतियों के बीच में धागा देखा जाता है। इसी तरह, कोई विचार के होने पर, शुद्ध-चैतन्य-स्वरूपी आत्मा प्रकट नहीं होती है, लेकिन वह एक विचार के अन्त और दूसरे के उदय के बीच के अन्तराल में स्पष्ट प्रकट है। यदि हम एक विचार और दूसरे विचार के बीच के अन्तराल को शान्ति से बढ़ा दें, तो हमें बड़ा आनन्द मिल सकता है।

शि - क्या नेत्र के खुले होने पर भी, इसका अभ्यास किया जा सकता है?

गुरु - जैसा कि मैंने बताया, लक्ष्य यह होना चाहिए कि मन में कोई विचार न उठे। इसलिए आँखें खुली रखने में कोई बाधा नहीं है। मन बाहरी वस्तुओं की ओर न भटके, तो पर्याप्त है। अभ्यास करते समय, व्यक्ति को शान्त और चिन्ताओं से मुक्त रहना चाहिए। कुछ भी करने या किसी वस्तु के बारे में सोचने का कोई प्रयास नहीं करना चाहिए। यदि मन में कोई विचार उठे, तो उसे बनाए रखने के लिए प्रोत्साहित नहीं करना चाहिए।

शि - यह दिखाने के लिए क्या संकेत हैं कि कोई अमनस्क-योग के मार्ग पर आगे बढ़ रहा है?

गुरु - प्राप्त मानसिक शान्ति और आनन्द उसमें प्रगति का संकेत देते हैं।

[1] लघुवाक्यवृत्ति 10

शि - क्या यह सुनिश्चित करना कठिन नहीं है कि मन में कोई विचार न उठे?

गुरु - विचारशून्यता की पराकाष्ठा को प्राप्त करना कठिन है। लेकिन मन को अधिक सीमा तक शान्त रखा जा सकता है।

शि - क्या सांसारिक लोगों में भी मन को स्थिर करने की शक्ति होती है?

गुरु - क्या सभी लोग नहीं सोते?

शि - हाँ।

गुरु - कैसे?

शि - मैं गुरुजी के प्रश्न के तात्पर्य को समझने में विफल हूँ।

गुरु - लोग लेट जाते हैं। फ़िर वे कैसे सो जाते हैं? वे अपनी आँखें मूँद लेते हैं और चुप रहते हैं। शीघ्र ही, नींद उन्हें ढँक देती है। ऐसा होता है, न?

शि - हाँ।

गुरु - हम देखते हैं कि गहरी नींद के समय, लोग पूरी तरह से शान्त रहते हैं। उन्होंने अपने मन को विचारशून्य कर दिया है। अवश्य, यह अनैच्छिक रूप से प्राप्त किया जाता है। क्या ऐसा नहीं है?

शि - हाँ, ऐसा ही है।

गुरु - इसलिए, यह कहा जा सकता है कि सभी मन को स्थिर कर सकते हैं। सांसारिक लोग गहरी नींद के समय, बिना किसी प्रयास के और इसके प्रति सचेत हुए बिना, इसे करते हैं। अमनस्क-योग के मार्ग में, व्यक्ति जाग्रदवस्था में मन को पूरी तरह से शान्त कर देता है।

शि - क्या अमनस्क-योग कहीं भी किया जा सकता है?

गुरु - इसका अभ्यास कहीं भी किया जा सकता है, लेकिन आराम से बैठने की सुविधा होनी चाहिए। दौड़ लगाते समय कोई इसका अभ्यास कैसे कर सकता है?

शि - क्या अमनस्क-योग का कोई दुष्परिणाम है?

गुरु - नहीं।

शि - अमनस्क-योग का अभ्यास करते समय, किसी को किन बातों का ध्यान रखना चाहिए?

गुरु - (हँसते हुए) व्यक्ति को सोना नहीं चाहिए! सतर्क रहकर नींद से बचे रहना चाहिए।

1.26 माया

शिष्य - मन्द प्रकाश में, रस्सी झूठी तरह से साँप के रूप में प्रकट हो सकती है। इसी प्रकार, परब्रह्म संसार के रूप में प्रकट होता है। यह मैंने शास्त्रों से सीखा है। अगर एक रस्सी को झूठी तरह से साँप के रूप में प्रकट होना हो, तो साँप और रस्सी दोनों से अलग, किसी द्रष्टा का होना आवश्यक है। इसी तरह, यदि ब्रह्म जगत् के रूप में प्रकट होता है, तो ब्रह्म और संसार से अलग, एक पर्यवेक्षक आवश्यक है। ऐसी कोई इकाई नहीं है। इसलिए, क्या दृष्टान्त उचित है?

गुरुजी - एक दृष्टान्त कभी भी दार्ष्टान्तिक वस्तु से पूरी तरह मेल नहीं खा सकता। ऐसा होता, तो यह उस वस्तु से अलग नहीं होगा जिसे समझाने का प्रयास किया जा रहा हो। रस्सी-साँप का दृष्टान्त केवल यह दिखाने के लिए प्रस्तुत किया गया है कि एक वस्तु त्रुटिपूर्ण ढंग से दूसरी वस्तु के रूप में प्रकट हो सकती है। केवल दृष्टान्त के इस पहलू पर विचार किया जाना चाहिए, न कि रस्सी और साँप से अलग एक द्रष्टा के अस्तित्व पर।

शि - कोई व्यक्ति रस्सी को साँप समझना है तो उसने पहले एक वास्तविक साँप अवश्य देखा होगा। नहीं तो उसमें साँप की मिथ्या धारणा पैदा नहीं हो सकती। इस प्रकार, यह भूल एक सच्चे साँप के अस्तित्व को सिद्ध करती है। उसी तरह, अगर परब्रह्म को भ्रम से विश्व के रूप में देखा जाना हो, तो एक वास्तविक विश्व होना चाहिए। क्या इस तरह से तर्क करना दोषपूर्ण है?

गुरु - हाँ। यह दोषपूर्ण है। रस्सी को साँप समझने के लिए, साँप का ज्ञान आवश्यक है। यह कहना अनुचित है कि केवल एक सच्चा साँप ही ऐसा ज्ञान पैदा कर सकता है। मैं एक उदाहरण दूंगा। एक व्यक्ति एक वृक्ष को भूत समझने की भूल करता है। उसने एक भूत को पहले किसी सपने में देखा था। अब वह वृक्ष को देखने पर, उसे भूत समझ लेता है जिसे उसने सपने में देखा था। क्या वह भूत सच था? नहीं, क्योंकि यह केवल एक सपने में देखा गया था। सभी जानते हैं कि सपने में जो कुछ भी देखा जाता है, वह असत्य है। तो केवल साँप का ज्ञान पर्याप्त है और वास्तविक साँप नहीं। इसी तरह, परब्रह्म को विश्व के रूप में प्रकट होने के लिए, वास्तविक विश्व के अस्तित्व की कोई आवश्यकता नहीं है।

शि - क्या माया वास्तविक है? यदि हाँ, तो यह कहना अनुचित होगा कि ब्रह्म अद्वितीय है। न ही हम यह दावा कर सकते हैं कि माया विद्यमान नहीं है, क्योंकि हम माया के प्रभावों को देख सकते हैं। क्या गुरुजी कृपया माया के जटिल स्वभाव की व्याख्या करेंगे?

गुरु - माया को 'सत् (पारमार्थिक सत्य)' नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह सही ज्ञान के उदय होते ही नष्ट हो जाती है, जैसे कि जब हमारे जागते ही सपना गुम हो जाता है। इसलिए, माया नामक कोई दूसरी वस्तु नहीं है, जो ब्रह्म से भिन्न है, जैसे स्वप्न-द्रष्टा के अतिरिक्त कोई स्वप्न-वस्तु नहीं है। माया को 'असत् (अस्तित्वहीन)' भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि हम उसके प्रभाव को संसार के रूप में देख सकते हैं। इसलिए, तर्क को आधार मानकर कहा गया है कि माया न सत् है और न असत्।

शि - कहा जाता है कि ब्रह्म के अतिरिक्त सब कुछ मिथ्या है। तो क्या वेद भी झूठे नहीं हैं? यदि हाँ, तो क्या वेदों पर आधारित अद्वैत दर्शन असत्य नहीं होगा?

गुरु - अद्वैतियों का कहना है कि पारमार्थिक दृष्टि से जगत् असत्य है। हालाँकि, वे संसार की व्यावहारिक सत्ता को नकारते नहीं हैं। व्यावहारिक दृष्टिकोण से, जहाँ तक संसार को सच माना जाता है, वहाँ तक वेद भी सच हैं। वेद, जिनकी सत्यता संसार की सच्चाई से

कम नहीं है, उस ज्ञान को प्रदान करते हैं जो व्यावहारिक विश्व को बाधित करने के लिए पर्याप्त है। इसके बाद जो प्रकाशमान है, वह केवल अद्वितीय ब्रह्म है। इस प्रकार, अद्वैत-वेदान्त पूर्णतः सटीक है।

इसके अतिरिक्त, कोई हानि नहीं होगी भले ही यह माना जाए कि वेद वास्तविक नहीं हैं। ऐसा इसलिए है क्योंकि एक असत्य वस्तु भी हमें वास्तविक प्रभाव दे सकती है। उदाहरणार्थ, मान लो कि एक बाघ सपने में हमारा पीछा करता है। उत्पन्न भय के कारण, हम जाग सकते हैं। यहाँ, असत्य बाघ एक जागने का वास्तविक प्रभाव लाता है। अतः, यदि हम यह भी कहें कि वेद जगत् की भाँति असत्य है, तो निःसन्देह उसकी शिक्षाओं से संसार से मोचक ज्ञान उत्पन्न हो सकता है। इस प्रकार भी यह देखा जा सकता है कि अद्वैत दर्शन पूर्णतः सही है।

शि - वैज्ञानिक विश्व के बारे में जानकारी एकत्र करते हैं और उसका विश्लेषण करते हैं। संसार स्वयं असत्य हो, तो क्या वैज्ञानिकों द्वारा किया गया शोध व्यर्थ है?

गुरु - नहीं, हम यह नहीं कहते कि संसार का अध्ययन करना और उसके नियमों का विश्लेषण करना व्यर्थ है। विज्ञान की अनुभवजन्य उपयोगिता निर्विवाद है। हालाँकि, इतना निश्चित है कि कोई भी वास्तव में, "विश्व निश्चित रूप से ऐसा है" — इसे स्थापित नहीं कर सकता। एक गादुर पारस्वनिक तरंगों के माध्यम से किसी वस्तु की उपस्थिति को पहचानता है। हम जो देखते हैं, वह उससे भिन्न देखता है। इसी तरह, हमारे पास एक्स-रे दृष्टि होती, तो किसी वस्तु के बारे में हमारा ग्रहणबोध अब की तुलना में भिन्न होता। इनमें से कौन सा ग्रहणबोध सही है? या तो ये सारे नाना ग्रहणबोध मान्य हैं या ये सभी अमान्य हैं। किसी वस्तु को जैसा है वैसा ही जानना हो, तो उसके बारे में हमारी छान-बीन से उसकी स्थिति में किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं होना चाहिए। लेकिन भौतिक विज्ञानी स्वीकार करते हैं कि एक इलेक्ट्रॉन की जाँच उसकी स्थिति को बदल देती है। किसी वस्तु के बारे में हमारा ग्रहणबोध केवल उस वस्तु के अतिरिक्त अन्य कारकों से

प्रभावित होता है। उदाहरणार्थ, जब हम एक काले काँच के माध्यम से एक कमरा देखते हैं, तो एक स्पष्ट काँच के माध्यम से देखने की तुलना में, उसमें सब कुछ काला दिखाई देता है। हम वस्तुओं को उसी प्रकार ग्रहण कर सकते हैं जैसे मन उन्हें हमें "दिखाता" है। इसलिए, केवल यह कहा जा सकता है, "यह विश्व वैसा है जैसा हम इसे समझते हैं," न कि, "ब्रह्माण्ड निश्चित रूप से ऐसा ही है।"

शि - कहा जाता है कि माया ही सभी बन्धनों का कारण है। माया क्यों होती है?

गुरु - जहाँ तक ज्ञानी का विचार है, माया नाम की कोई वस्तु है ही नहीं। केवल परब्रह्म विद्यमान है। अतः, उनके सम्बन्ध में इस प्रश्न का कोई अवसर ही नहीं है। प्रश्न और उत्तर केवल द्वैत की परिधि में, माया की परिधि में, सम्भव हैं। यदि ऐसे प्रश्न का उत्तर तर्कसंगत रूप से देना है, तो माया के स्वरूप को समझना चाहिए। हालाँकि, जिस क्षण कोई माया के वास्तविक स्वरूप को समझ लेता है, तो माया पूरी तरह से गुम हो जाती है और केवल ब्रह्म ही प्रकाशमान है। इस प्रकार, इस प्रश्न के सही उत्तर की अपेक्षा करना उचित नहीं है, क्योंकि यह प्रश्न स्वयं ही दोषपूर्ण है। माया अपने आप में एक बड़े प्रश्नचिह्न की तरह है। परब्रह्म अद्वितीय है, लेकिन माया द्वैत के इस दिखाव का निर्माण करती है। यही माया की शक्ति है।

पर्याप्त प्रकाश के अभाव में, रस्सी साँप जैसी प्रतीत हो सकती है। यह देखकर कोई पूछ सकता है, "जब वे दो अलग-अलग वस्तुएँ हैं, तो साँप के रूप में रस्सी क्यों दिखाई देनी चाहिए?" इसका उत्तर है, "यह किसी की अज्ञानता के मारे ऐसा होता है।" मान लो कि कोई पूछता है, "यह अज्ञान क्यों है?" — इस प्रश्न का उत्तर नहीं दिया जा सकता। जिस व्यक्ति को कोई भ्रान्ति नहीं है, वह सदैव रस्सी को केवल रस्सी के रूप में देखता है। जहाँ तक उसका विचार है, यह प्रश्न निराधार है, क्योंकि उसके लिए रस्सी कभी साँप के रूप में दिखाई नहीं दी।

इसके बाद, एक ऐसे व्यक्ति का विचार लें जिसका यह मिथ्या ग्रहणबोध है कि वह साँप को देख रहा है। वह भी इस प्रश्न का उत्तर नहीं दे पाएगा, क्योंकि जहाँ तक उसका विचार है, जो उसके सामने है

वह एक साँप ही है, रस्सी नहीं। आओ एक तीसरे व्यक्ति के दृष्टिकोण पर विचार करें। वह पहले रस्सी को साँप समझने की भूल करता है। बाद में उसे पता चलता है कि वह एक रस्सी है। अगर उससे पूछा जाता है, "रस्सी तुम्हें साँप के रूप में क्यों दिखाई दी?" तो इसका उत्तर होगा, "यह मेरे त्रुटिपूर्ण ग्रहण के कारण।" फ़िर, उससे पूछा जाता है, "इस मिथ्या धारणा का क्या कारण है?" वह उत्तर नहीं दे पाएगा। ऐसा इसलिए है क्योंकि वह अब केवल रस्सी देखता है, और जिस मिथ्या धारणा के बारे में पूछा जा रहा है, वह पूरी तरह से अनुपस्थित है।

कुछ प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं होता, क्योंकि उनमें ही कोई त्रुटि निहित रहती है। "वृत्त का आदि कहाँ है?" — इस प्रश्न का क्या उत्तर दिया जा सकता है? प्रश्नकर्ता यह प्रश्न इस मिथ्या धारणा से पूछता है, "वृत्त का आदि होता है।" सचमुच यह प्रश्न अनुचित है। इसी तरह — "माया क्यों विद्यमान है?" — यह प्रश्न अनुचित है।

शि - क्या गुरुजी समझाएँगे कि कोई कैसे अनुमान लगा सकता है कि संसार एक भ्रान्ति है, जिसे माया ने प्रस्तुत किया है?

गुरु - बरगद वृक्ष का बीज छोटा होता है। उसे तोड़ा जाए, तो केवल छोटे टुकड़े ही दिखाई देते हैं। लेकिन उसमें से एक बड़ा बरगद का वृक्ष उगता है। क्या यह पहली दृष्टि में एक जादुई कमाल जैसे नहीं लगता? एक व्यक्ति के शुक्राणु से एक शिशु पैदा होता है और धीरे-धीरे एक बड़ा मनुष्य बन जाता है। क्या यह भी जादू सा नहीं लगता? इसलिए, संसार को कोई एक भ्रमात्मक अभिव्यक्ति मान सकता है।

हम अपने सपने में जो देखते हैं, वह उससे बहुत मेल खाता है जो जाग्रदवस्था में हम देखते हैं,। इसलिए, हम निश्चित रूप से यह नहीं कह सकते कि दोनों अलग हैं।

हम विश्व के किसी भी विषय के सम्बन्ध में "क्यों" प्रश्न पुनः पुनः करते रहें, तो हम अन्त में इस उत्तर पर पहुँच जाते हैं, "मुझे नहीं पता।" विश्व भ्रमात्मक हो तो ऐसा ही होना चाहिए। मान लो कि हम सपने में एक छोटे से कमरे में एक बड़ा हाथी देखते हैं। कमरे के द्वार बहुत

छोटे होते हैं। यदि कोई सपने में यह पूछना प्रारम्भ करे कि हाथी कमरे में कैसे आ गया, तो निष्कर्ष होगा, "मैं हाथी को देख रहा हूँ, लेकिन मुझे समझ नहीं आता कि वह कैसे अन्दर आया।" इन्द्रजाल करने वाले द्वारा जो दिखाया जाता है, उसका विचार ऐसा ही होता है। ऐसे विचारों में कुछ तो देखा जाता है, लेकिन कोई पर्याप्त स्पष्टीकरण नहीं दिया जा सकता। संसार भी इस प्रकार अनिर्वचनीय है और इसलिए, सम्भवतः एक स्वप्न या एक भ्रमात्मक अभिव्यक्ति की तरह है।

चर्चित स्वप्न से जागने के बाद हम कहेंगे, "सचमुच, कोई हाथी नहीं था, कोई छोटा कमरा नहीं था और एक हाथी का कमरे में प्रवेश नहीं था।" सत्य को जान लेने पर संसार उसी प्रकार नकारा जाता है। वेद के शब्द हैं —

प्रकृति को माया जानो।[1]

शि - संसार केवल एक आभास हो, तो शास्त्रों में इसकी रचना का उल्लेख क्यों किया गया है?

गुरु - कोई बच्चा सूरज के बारे में पूछे, तो हम क्या कहें? हम उत्तर देते हैं कि सूर्य पूर्व में उगता है और पश्चिम में अस्त होता है। हम जानते हैं कि भूमी घूमती है और सूर्य का कोई वास्तविक उदय और अस्त नहीं होता। फ़िर भी, हम कहते हैं कि सूरज स्वयं उगता है, बस केवल बच्चे की जिज्ञासा को सन्तुष्ट करने के लिए। इसी तरह, जब विश्व को देखने वाले को इसकी उत्पत्ति के बारे में सन्देह होता है तो शास्त्र, माँ की तरह होने के नाते, विश्व के बारे में कुछ बताते हैं। तत्पश्चात्, शास्त्र प्रश्नकर्ता को कदम पर कदम क्रमशः आगे ले चलते हैं और अन्ततः, सत्य का प्रतिपादन करते हैं। सत्य का अन्तिम विवरण है —

यह नहीं। यह नहीं।[2]

[1] श्वेताश्वतर-उपनिषद् 4.10

[2] बृहदारण्यक-उपनिषद् 2.3.6

1.27 जाग्रत एवं स्वप्न अवस्थाएँ

शिष्य - क्या जाग्रदवस्था स्वप्नावस्था से भिन्न है?

गुरुजी - पारमार्थिक दृष्टिकोण से विचार करने पर ऐसा नहीं है।

शि - तो क्या इसका तात्पर्य यह है कि सब कुछ मानसिक कल्पना है?

गुरु - हाँ।

शि - क्या गुरुजी कृपया समझाएँगे?

गुरु - स्वप्नावस्था में हमें जो संसार दिखाई देता है, वह स्वप्न को देखते समय वास्तविक प्रतीत होता है। हम एक विश्व को जाग्रदवस्था में देखते हैं। यह भी सच लगता है। जाग्रदवस्था में हम सुख-दुःख का अनुभव करते हैं। हम उन्हें सपने में भी वैसे ही अनुभव करते हैं। इसलिए, दोनों अवस्थाएँ समरूप हैं।

शि - जाग्रत में यदि कोई पुस्तक मेज़ पर रखी जाती है, तो वह अगले दिन भी उसी स्थान पर रहती है। हालाँकि, सपने में मेज़ पर रखी पुस्तक, अगले दिन जागने पर वहाँ नहीं मिलेगी। इस अन्तर को ध्यान में रखते हुए, क्या यह नहीं कहा जा सकता कि जाग्रत वास्तविक है, जबकि स्वप्न असत्य है?

गुरु - उदाहरणार्थ, मान लो कि तुम सपने में एक पुस्तक मेज़ पर रखते हो। फ़िर तुम उस सपने में ही कोई दूसरा काम करने चले जाते हो। लौटने पर क्या पुस्तक उसी स्थान पर नहीं मिलेगी?

शि - हाँ, वहीं होगी।

गुरु - इस उदाहरण से तुम्हारी शङ्का दूर हो जानी चाहिए। इस जाग्रदवस्था में यदि कोई पुस्तक किसी स्थान पर रखी जाए, तो वह उसी स्थान पर रहती है। इसी तरह, सपने के समय, एक पुस्तक वहीं पर रहेगी जहाँ उसे रखा जाता है। निःसन्देह, स्वप्नावस्था की एक पुस्तक जागने पर लुप्त हो जाती है, लेकिन जाग्रत की एक पुस्तक के सोने के बाद लुप्त होने की स्थिति भी ऐसी ही है।

शि - एक और अन्तर भी लगता है।

गुरु - वह क्या है?

शि - कुछ और लोग हमें सोते हुए देखते हैं। वे दावा कर सकते हैं कि हम सो रहे थे। तो सपने अवास्तविक हैं।

गुरु - आओ मान लें कि एक सपने के समय, तुम स्वयं को बैठे और दिवास्वप्न देखते पाते हो। तुम्हारे सपने में कुछ लोग तुमको बैठे हुए देखते हैं। जहाँ तक उनका विचार है, उस स्थान पर तुम्हारा बैठना सत्य है, लेकिन तुम जो कल्पना कर रहे हो, वह असत्य है। ऐसा है, न?

शि - हाँ।

गुरु - क्या वास्तव में तुम उन लोगों के पास बैठे थे?

शि - नहीं।

गुरु - कारण यह है कि उस स्थान पर तुम्हारा बैठना और अन्य लोगों द्वारा तुम्हारा अवलोकन करना, दोनों ही स्वप्न के हैं। लोगों द्वारा दूसरे को सोते हुए देखने का विचार भी इसके समान है।

शि - जाग्रदवस्था वर्षों तक चलती है, जबकि स्वप्न एक मिनट या एक घंटे के लिए ही बना रहता है। इस अन्तर के बारे में क्या विचार है?

गुरु - अगर यह तर्क अपनाया जाता, तो तुम्हें निम्नलिखित प्रश्न का उत्तर देना होगा। यदि एक सपना तीस मिनट तक चलता है और दूसरा दस मिनट तक, तो क्या तुम कहोगे कि तीस मिनट वाला सपना दस मिनट वाले सपने से अधिकतर वास्तविक है?

शि - नहीं।

गुरु - इसलिए केवल यह कारण बताकर कि स्वप्न से अधिक समय तक जाग्रत रहती है, यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि स्वप्न की तुलना में जाग्रत अधिक वास्तविक है। इसके अतिरिक्त, समय का बीतना भी कुछ काल्पनिक है। एक सपने में कोई यह सोच सकता है कि एक लम्बा समय बीत चुका है, लेकिन जाग्रदवस्था के सम्बन्ध में, केवल दस ही मिनट बीते होंगे।

शि - मैं स्वीकार करता हूँ कि जाग्रत के संसार और सपने में अनुभूत विश्व में बहुत समानता है। हालाँकि एक नया सन्देह पैदा हो गया है।

गुरु - पूछो बिना किसी झिझक के।

शि - हम इस बात से अवगत नहीं हैं कि जाग्रत में हम जो कुछ भी अनुभव करते हैं, वह असत्य है। क्यों?

गुरु - एक सपना देखते समय, क्या तुम सामान्यतः जानते हो कि वह असत्य है?

शि - नहीं।

गुरु - तुम्हें कब पता चलता है कि सपने में जो देखा गया, वह झूठा है?

शि - केवल तब जब मैं जाग्रत में आता हूँ।

गुरु - इसी तरह, हम तभी बिना त्रुटि के जान सकेंगे कि जाग्रत का संसार मिथ्या है, जब हम जाग्रदवस्था के इस सपने से जाग जाते हैं।

शि - इस सपने से कोई कब जागेगा?

गुरु - जब किसी को यह साक्षात्कार हो जाता है कि वह आत्मा है, जो सभी बन्धनों से रहित और परमानन्द-स्वरूपी है।

शि - ऐसा आत्म-साक्षात्कार कब होगा?

गुरु - जब कोई अपने मन को पूरी तरह से शुद्ध करता है और आत्मा पर दृढ़ता से स्थापित करता है।

शि - इस सम्बन्ध में गुरु और शास्त्र क्या भूमिका निभाते हैं?

गुरु - गुरु के उपदेश — जो शास्त्रानुसार हैं — सत्य का ज्ञान उत्पन्न करते हैं।

शि - क्या शास्त्र और गुरु की शिक्षाएँ इस असत्य संसार के अन्तर्गत नहीं हैं? यदि हैं, तो वे सत्य का ज्ञान कैसे उत्पन्न कर सकते हैं?

गुरु - ये उपदेश भी संसार के हैं। फ़िर भी, उनके कारण सही ज्ञान का उदय हो सकता है। मान लेंगे कि सपने में कोई बाघ हमारा पीछा कर रहा है। हम भय के मारे जाग सकते हैं। उसी प्रकार शास्त्रों के आदेश और गुरु की शिक्षाएँ हमें इस बड़े सपने से जगाते हैं।

शि - तो सृष्टि क्या है?

गुरु - दृष्टि, अर्थात् ग्रहणबोध ही सृष्टि है। ग्रहणबोध के अतिरिक्त कोई सृष्टि नहीं है। किसी वस्तु का ग्रहणबोध ही उसकी उत्पत्ति है।

शि - तो क्या ईश्वर और गुरु वास्तविक हैं या मिथ्या?

गुरु - वास्तव में वे आत्मा हैं जो पारमार्थिक-सत्, शुद्ध-चित् और अमित-आनन्द स्वरूपी है। हालाँकि, गुरु का शरीर और ईश्वर का कोई भी रूप झूठे हैं। वास्तव में, न तो कारण है, और न ही कार्य। जब कोई वास्तविक सृष्टि नहीं है, तो एक सृष्टिकर्ता के रूप में ईश्वर की भूमिका, उनका वास्तविक स्वरूप जैसे, सत्य कैसे हो सकती है? यह कहा जाता है —

न प्रलय है, न उत्पत्ति, न बद्ध है, न साधक, न मुमुक्षु है और न मुक्त — यही परमार्थ सत्य है।[1]

जब तक कोई यह समझता है कि वह बद्ध है, तब तक उसे बन्धन रहता है। वह जो मानता है कि वह मुक्त है, वह सचमुच मुक्त है। इसीलिए कहा गया है —

जो स्वयं को मुक्त मानता है, वह मुक्त है। जिसे ऐसा लगता है कि उसको बन्धन है, वह बद्ध है।[2]

इसलिए, उसे इस मिथ्या धारणा से छुटकारा पाना चाहिए कि वह बद्ध है।

शि - क्या किसी का इस मिथ्याभूत विचार को हटाना कि वह बद्ध है मोक्ष पाने का उपाय है?

गुरु - हाँ। अब तक मैं "*दृष्टि-सृष्टि-वाद*" ('ग्रहणबोध ही सृष्टि है' दृष्टिकोण) को मन में रखते हुए बोल रहा था। हालाँकि, कई लोगों के लिए, यह उपयुक्त नहीं है, क्योंकि उनमें तीव्र वैराग्य के न होने के कारण, वे इसे सही ढंग से ग्रहण नहीं कर सकते। लोग स्वीकार करते हैं कि स्वप्न

[1] गौडपाद-कारिका 2.32

[2] अष्टावक्र-गीता 1.11

असत्य है। कहा जाए कि जाग्रत भी उतना ही असत्य है, तो वे इस विषय में आश्वस्त नहीं होंगे या व्याकुल होंगे। चूँकि केवल कुछ ही लोग *दृष्टि-सृष्टि-वाद* को सही ढंग से समझने, उसे अपनाने और मुक्त होने का सामर्थ्य रखते हैं, इसलिए शास्त्र केवल चुनिन्दा स्थानों पर ही इसे सिखाते हैं।

1.28 बन्धन का स्वरूप

शिष्य - क्या वास्तव में बन्धन का अस्तित्व है?

गुरुजी - नहीं। बन्धन वास्तविक हो, तो उसे ज्ञान से कैसे नष्ट किया जा सकता?

शि - बन्धन किसके लिए है?

गुरु - जिसे यह भ्रम है कि वह बद्ध है।

शि - किसकी मिथ्या धारणा है कि वह बद्ध है?

गुरु - पहले तुम इसका उत्तर दो।

शि - आत्मा को।

गुरु - आत्मा सच्चिदानन्द-स्वरूपी है। उसको किसी प्रकार का बन्धन नहीं है। यह शास्त्र सिद्धान्त है।

शि - अगर बन्धन आत्मा को नहीं है, तो मन के लिए होना चाहिए।

गुरु - मन एक जड़ वस्तु है। उसका बन्धन कैसे हो सकता है? किसी जड़ वस्तु के लिए बन्धन होना सर्वथा असम्भव है।

शि - यदि बन्धन न आत्मा का है और न मन का, तो बन्धन कैसे हो सकता है?

गुरु - क्या तुमने सभी सम्भावनाओं के बारे में सोच लिया?

शि - मैंने आत्मा और मन के संयोजन पर विचार नहीं किया, क्योंकि वह अर्थहीन है।

गुरु - क्यों?

शि - आत्मा का स्वभाव मन के स्वभाव से पूर्णतः अलग है; इसलिए वे कैसे सम्मिलित हो सकते हैं?

गुरु - क्या गर्मी एवं प्रकाश लोहे के गुण हैं?

शि - नहीं।

गुरु - क्या वे आग के गुण हैं?

शि - हाँ।

गुरु - जब लोहे के एक खण्ड़ को अधिक समय तक गर्म किया जाता है, तब क्या होता है?

शि - लोहा श्वेत-तप्त हो जाता है और चमकता है।

गुरु - सही है। यदि तुम पहले से ही नहीं जानते थे कि गर्मी और प्रकाश आग के गुण हैं, तो क्या तुम उन्हें गर्म लोहे के गुण नहीं मानोगे, क्योंकि वे उसमें दिखाई देते हैं?

शि - हाँ।

गुरु - मन जड़ है और आत्मा चैतन्य-स्वरूपी है। बन्धन केवल जीव के लिए है जो गर्म लोहे की तरह, मन और आत्मा का मिश्रण है। ऐसा नहीं है कि बन्धन केवल आत्मा या केवल मन के लिए है। वास्तव में जीव ही आत्मा है। जीव तब तक बन्धन का अनुभव करता है जब तक वह अपने वास्तविक स्वरूप से अनजान रहता है। जब जीव को अपने वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार हो जाता है, तो वह पुनर्जन्म से मुक्त हो जाता है।

शि - ऐसे में, मोक्ष भी स्थाई नहीं हो सकता।

गुरु - क्यों?

शि - क्योंकि जिसका आदि है, उसका अन्त भी होना चाहिए। मोक्ष तब उत्पन्न होता है जब ज्ञान पैदा होता है और इसलिए, उसका आरम्भ होता है।

गुरु - यह आपत्ति मान्य नहीं है क्योंकि कोई वास्तविक बन्धन नहीं है। बन्धन असत्य है और अज्ञान के कारण है। जब ज्ञान से अज्ञान का नाश हो जाता

है, तो सारे बन्धन समाप्त हो जाते हैं। ब्रह्म के रूप में अपने वास्तविक स्वरूप में बने रहने के अतिरिक्त, मोक्ष और कुछ नहीं है। हम यह नहीं कहते कि मोक्ष वास्तव में आत्मा द्वारा प्राप्त कुछ है।

1.29 मोक्ष का उपाय

शिष्य - मोक्ष का साधन क्या है?

गुरुजी - केवल ब्रह्म-ज्ञान ही मोक्ष का साक्षात् साधन है। शास्त्र कहते हैं —

मोक्ष केवल ज्ञान से प्राप्त होता है।[1]

उसे जानने पर ही कोई अमर होता है। अमरता का और कोई उपाय नहीं है।[2]

शि - क्या इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि कर्म मुक्ति का साक्षात् हेतु नहीं है?

गुरु - हाँ। इस सम्बन्ध में शास्त्र निर्णायक हैं। उदाहरणार्थ, महानारायण-उपनिषद् सिखाता है —

कर्मों से मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती।[3]

शि - ज्ञानोदय कब होता है?

गुरु - जब मन शुद्ध होता है, तब ज्ञान उत्पन्न होता है।

शि - ईश्वर के प्रति समर्पण की भावना से कर्म करने पर, क्या मन शुद्धि प्राप्त नहीं करेगा?

गुरु - हाँ, करेगा।

शि - तो क्या कर्म को भी मोक्ष का कारण नहीं कहा जाना चाहिए? ऐसा इसलिए क्योंकि ईश्वर के प्रति समर्पण की भावना से कर्म करने पर मन

---

[1] (अज्ञात एवं बार-बार उद्धृत) स्मृति-वचन

[2] तैत्तिरीय-आरण्यक 3.13.1.2

[3] महानारायण-उपनिषद् 12.14

शुद्ध हो जाता है। शुद्ध मन में ज्ञानोदय होता है और इससे मोक्ष की प्राप्ति होती है।

गुरु - तुम्हारा तर्क ही दर्शाता है कि कर्म मोक्ष का साक्षात् साधन नहीं है। सभी जानते हैं कि मिट्टी घड़े का कारण है। उसी प्रकार, घड़ा बनाने वाला भी उसका कारण है। अब क्या कुम्हार का पिता भी घड़े का कारण है? अन्ततोगत्वा, अपने पिता के बिना, कुम्हार पैदा ही नहीं हुआ होता और कुम्हार के बिना घड़ा पैदा ही नहीं हुआ होता।

शि - कुम्हार के पिता को कारण नहीं माना जा सकता, क्योंकि वैसे मानने से, कुम्हार के दादा, परदादा आदि को भी कारण मानने के लिए हम विवश होंगे।

गुरु - वही तर्क लागू किया जाए, तो यह देखा जा सकता है कि कर्म कभी भी मोक्ष का साक्षात् कारण नहीं होता। इसके अतिरिक्त, जो कर्म से उत्पन्न होता है, उसका आरम्भ होता है और इसलिए, उसका अन्त होता है। इसलिए, यदि मोक्ष कर्म से उत्पन्न होता है, तो वह स्थाई नहीं हो सकता। हालाँकि, शास्त्र कहते हैं कि मोक्ष स्थाई है। इसलिए, यह समझना चाहिए कि केवल ज्ञान ही मोक्ष का साक्षात् कारण है, कुछ और नहीं।

1.30 अद्वैत ग्रन्थों में मतभेद

शिष्य - अद्वैत ग्रन्थों में हमें मतभेद मिलते हैं। उदाहरणार्थ, कुछ लोग कहते हैं कि जीव अविद्या में ब्रह्म के प्रतिबिम्ब है, जबकि कुछ दूसरे इसे अविद्या से उपहित ब्रह्म मानते हैं। कोई अनेक जीवों के अस्तित्व की बात करते हैं, जबकि कुछ और कहते हैं कि केवल एक ही जीव है। इस प्रकार के मतभेदों का कारण क्या है?

गुरुजी - अद्वैत-दर्शन में — जो शास्त्रों से अवगत है और भगवत्पाद जी द्वारा विशद किया गया है — कुछ विविधता है, जैसे कि समुद्र में विलय होने

से पहले गंगा की शाखाएँ अलग-अलग होती हैं। परन्तु, सबके सब अद्वैती इस बात पर सहमत हैं —

ब्रह्म सत्य है; जगत् मिथ्या है; तथा जीव ब्रह्म ही है, उससे भिन्न नहीं।[1]

इतना ही नहीं, भगवत्पाद जी के अनुयायी एकमत हैं कि केवल ज्ञान ही मोक्ष का कारण है।

देखे गए मतभेद संसार, ईश्वर और जीवात्मा के विवरण में हैं। विभिन्न क्षमता और स्वभाव वाले आकांक्षियों की आवश्यकताओं को पूरा करने में अलग-अलग विचार काम आते हैं। एक बहुत योग्य और उन्नत आकांक्षी के लिए, *एक-जीव-वाद* (यह वाद कि केवल एक जीव है) आकर्षक है। दूसरों को भी यह सिखाया जाए, तो कठिनाई उत्पन्न हो सकती है। तो उनके लिए, *नाना-जीव-वाद* (यह विचार कि कई जीव हैं) प्रस्तुत किया गया है। सुरेश्वराचार्य जी ने स्पष्ट किया है —

जिस किसी भी प्रकार के प्रतिपादन द्वारा व्यक्ति को अन्तरात्मा का ज्ञान प्राप्त होता है, वही परिकल्पना यहाँ उपयुक्त है; परिकल्पना सख्ती से व्यवस्थित नहीं है।[2]

1.31 ज्ञानी

शिष्य - शास्त्र किसको ज्ञानी या जीवन्मुक्त कहते हैं?

गुरुजी - जिसने आत्मा का अपरोक्ष बोध या साक्षात्कार प्राप्त कर लिया है; जिसने पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिया है कि वह परब्रह्म है।

शि - क्या ज्ञानी पुण्य एवं पाप से परे है?

गुरु - हाँ।

[1] ब्रह्मज्ञानावली-माला 20

[2] बृहदारण्यक-उपनिषद्-भाष्य-वर्तिका 1.4.402

शि - तो ज्ञानी को कोई पुण्य या पाप प्राप्त नहीं होने के नाते, क्या वह किसी भी प्रकार से आचरण करेगा?

गुरु - एक ज्ञानी सामान्यतः ऐसा नहीं करेगा। ज्ञान प्राप्त करने से पहले, उसका मन अत्यन्त शुद्ध हो गया होगा। यह पवित्रता ज्ञानोदय के बाद बनी रहती है। सुरेश्वराचार्य जी ने कहा है —

अद्वैत-तत्त्व-ज्ञानी जैसा चाहे वैसा आचरण करे, तो अशुद्ध वस्तु के सेवन में उसमें और कुत्ते में क्या अन्तर है?[1]

ब्रह्मज्ञानी दूसरों के लिए एक आदर्श है।

शि - आत्म-साक्षात्कार के बाद ज्ञानी का मन कैसे सक्रिय हो सकता है और उसमें सुख-दुःख का अनुभव कैसे हो सकता है?

गुरु - मान लो कि कोई व्यक्ति पहिया घुमा रहा है। यदि वह उस पहिए से अपना हाथ हटा लेता है, तो वह कुछ और चक्करों के बाद ही रुकेगा। ज्ञानी के शरीर का कारण प्रारब्ध है। ज्ञान प्राप्त हो जाने पर, शरीर और मन के साथ तादात्म्य अन्त हो जाता है। फ़िर भी, जब तक प्रारब्ध बना रहता है, चक्र की गति की तरह, ज्ञानी का शरीर और मन कार्य करते रहते हैं। जबकि एक पर्यवेक्षक के दृष्टिकोण से ज्ञानी का प्रारब्ध रहेगा और वह प्रारब्ध के फल का उपभोग करता है, ज्ञानी की अपनी दृष्टि से, उसका न कोई प्रारब्ध है, न सुख-दुःख हैं, न शरीर और न ही मन।

शि - क्या ज्ञानी की परमात्मा में अवस्थिति जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्तियों में अविचलित रहती है?

गुरु - हाँ।

शि - जब ज्ञानी संसार को देखता है, तब उसका अनुभव क्या होगा?

गुरु - "मुझसे अलग कुछ नहीं है; आत्मा के अतिरिक्त कोई ब्रह्माण्ड नहीं है; यह आत्मा है जो विश्व के रूप में प्रकट होती है" — वह इसे स्वानुभव से जानता है।

शि - ज्ञानी करुणा से भरा हुआ क्यों है?

---

[1] नैष्कर्म्य-सिद्धि 4.62

गुरु - ज्ञानोदय से पहले, एक ज्ञानी का मन बहुत शुद्ध हो गया होगा, क्योंकि ज्ञान का उदय केवल अत्यन्त शुद्ध मन में ही होता है। इसलिए करुणा को पहले ही विकसित कर लिया होगा। वह तत्त्व-साक्षात्कार के बाद और अधिक उत्कर्ष से प्रकट होती है। ज्ञानी सदा तृप्त रहता है। जो कुछ पाने योग्य है, वह उसे मिल गया है। इसलिए, यह कहा जा सकता है कि एक ज्ञानी का जीवन दूसरों की भलाई के लिए ही होता है।

शि - क्या ज्ञानी ईश्वर की भक्ति कर सकता है?

गुरु - जब ज्ञानी संवेदना का अनुभव कर सकता है और करता भी है, तो उसे ईश्वर की भक्ति करने में असमर्थ क्यों होना चाहिए? भगवान के दिव्य गुण, आकर्षण और महिमा अनन्त हैं। अतः, ज्ञानी का शुद्ध मन ईश्वर की ओर तीव्रता से आकर्षित होता है। उसकी भक्ति किसी भी अपेक्षा से सर्वथा प्रेरित नहीं है। हम भागवत-पुराण में पढ़ते हैं —

यहाँ तक कि जो ऋषि केवल आत्मा में आनन्द लेते हैं और बिना किसी बन्धन के हैं (या जिन्होंने ग्रन्थों का अध्ययन भी छोड़ दिया है), वे बिना किसी अपेक्षा के, भगवान के प्रति समर्पित हैं। ऐसी है प्रभु की श्रेष्ठता।[1]

शि - मृत्यु के बाद, ज्ञानी या जीवन्मुक्त किस लोक में जाते हैं?

गुरु - किसी भी लोक को नहीं। वह ब्रह्म के रूप में ही रहता है। उसकी मृत्यु के बाद, हम उसे '*विदेह-मुक्त*' कहते हैं। शास्त्र कहते हैं कि जिसने ज्ञान प्राप्त कर लिया है, वह अमर होता है। उसे यहीं ब्रह्म-साक्षात्कार होता है। मृत्यु के बाद, वह ब्रह्म से अभिन्न रहता है।

शि - क्या ज्ञानी समाधि की इच्छा करेगा? क्या उसे उस स्थिति में रहने की कोई आवश्यकता है?

गुरु - ज्ञानी को समाधि में रहने की न तो तृष्णा होती है और न ही आवश्यकता। समाधि हो या विक्षेप, वे मानसिक अवस्थाएँ हैं। ज्ञानी

[1] भागवत-पुराण 1.7.10

इन सबसे परे है। ज्ञानी की समाधि के अनुभव की गहराई को मन में रखते हुए, कहा जाता है कि एक ज्ञानी दूसरे से श्रेष्ठ है। यह एक पर्यवेक्षक की दृष्टि में है। अर्थात्, एक पर्यवेक्षक की दृष्टि में श्रेणीकरण है, जैसे, "वह श्रेष्ठतर ज्ञानी है।" लेकिन जहाँ तक ज्ञानियों का विचार है, ऐसा कोई भेद सर्वथा नहीं है। क्रियाकलापों से लगे रहने वाला ज्ञानी "*ब्रह्मविद्*" कहा जाता है। यदि किसी ज्ञानी को निर्विकल्प-समाधि में जाने और अपने आप उससे बाहर आने का अभ्यास है, तो वह "*ब्रह्मविद्वर*" है। यदि वह दूसरों के प्रयासों से ही निर्विकल्प-समाधि से जाग्रत हो सकता है, तो वह "*ब्रह्मविद्वरीयान्*" है। "*ब्रह्मविद्वरिष्ठ*" वह है जो कभी भी निर्विकल्प-समाधि से नहीं निकलता। समाधि में रहते हुए उसके शरीर का पतन हो जाता है। *ब्रह्मविद्वरिष्ठ* का प्रारब्ध सबसे अच्छा होने के नाते, उसे श्रेष्ठतम ज्ञानी माना जाता है। ये सभी श्रेणीकरण दूसरों के दृष्टिकोण से हैं, न कि ज्ञानी के दृष्टिकोण से।

शि - ज्ञानी का सुख-दुःख के समय, आचरण कैसा होता है?

गुरु - चूँकि वह जानता है कि वह स्वयं आत्मा है, जो किसी भी दुःख से अस्पृष्ट है, और चूँकि उसका मन अत्यन्त शुद्ध है, वह विचलित या विषण्ण नहीं होता। वह एक सैनिक की तरह है, जो घायल होने पर भी गोलीबारी नहीं रोकता। एक ज्ञानी द्वेष को अवसर नहीं देता, भले ही कोई दूसरा व्यक्ति उसे कष्ट दे।

शि - क्या ज्ञानी सपने का अनुभव कर सकता है?

गुरु - क्यों नहीं? उन्हें भी सपने आते हैं। जिस प्रकार ज्ञानी जाग्रदवस्था के विश्व को इस तरह देखता है की उसका स्वयं से भिन्न कोई अस्तित्व नहीं है, ठीक उसी प्रकार वह स्वप्न के जगत् को आत्मा के अतिरिक्त सत्ता न होने के रूप में देखता है। मैंने तुम्हें वस्तुस्थिति के बारे में बताया है।

शि - क्या सभी ज्ञानियों की नाना प्रकार की सिद्धियाँ (अलौकिक शक्तियाँ) होंगी?

गुरु - नहीं। यदि किसी ज्ञानी का प्रारब्ध ऐसा है कि उसे सिद्धियाँ होनी चाहिए, तो हम उन्हें उनमें देख सकते हैं। यदि ज्ञानी चाहे, तो सिद्धियाँ प्राप्त कर सकते हैं, लेकिन यह असम्भाव्य है कि वह उन्हें चाहे।

शि - क्या सिद्धियाँ उन्नत आध्यात्मिक अवस्था की प्राप्ति का संकेत देती हैं?

गुरु - नहीं।

शि - क्या किसी ज्ञानी पर सिद्धियों का कोई महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है?

गुरु - नहीं, वह उनकी उपस्थिति और अनुपस्थिति के प्रति उदासीन रहता है। यदि किसी ज्ञानी में सिद्धियाँ होंगी और किसी अवसर पर किसी सिद्धि को लगाने के लिए धर्म से जुड़ी आवश्यकता हो, तो वह बिना किसी आसक्ति के, संसार की भलाई के लिए, उस सिद्धि का उपयोग कर सकते हैं। उनके ऐसा करने से, उनका वैराग्य तथा आत्मा में उसकी अडिग संस्थिति पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ेगा।

शि - ज्ञानी बनने के कुछ फल क्या हैं?

गुरु - ज्ञानी का पुनर्जन्म नहीं होता। शरीरधारण करके भी वह बन्धन से मुक्त रहते हैं। ज्ञानी वह बन जाते हैं, जिसने वह किया है जो कुछ भी करनी है और वह प्राप्त कर लिया है जो कुछ भी प्राप्त करनी है। वह सर्वत्र अपने को, आत्मा को, ही देखते हैं। वह आनन्द-पूर्ण है। वह अपने शिष्यों को प्रबुद्ध और मुक्त कर सकते हैं। देहधारण करते हुए ही मुक्त होना सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि है। मुण्डक-उपनिषद् कहता है —

परमात्मा — जो कारण के रूप में श्रेष्ठ और कार्य के रूप में निकृष्ट दोनों है — उसका साक्षात्कार पाए जाने पर हृदय की गांठ विध्वस्त हो जाती है, सभी सन्देह समाप्त हो जाते हैं और व्यक्ति के कर्म लुप्त हो जाते हैं।[1]

[1] मुण्डक-उपनिषद् 2.2.8

विभाग 2

प्रेरणाप्रद कथाएँ

परमपूज्य गुरुजी की स्वकल्पित कहानियों को और उनके द्वारा दोहराई गई शास्त्रग्रन्थों में उपलब्ध कथाओं को उनकी अपनी व्याख्याओं और निष्कर्षों के साथ यहाँ प्रस्तुत किया गया है। 54 शीर्षकों में प्रस्तुत की गई इस सामग्री का आधार है, गुरुजी के सार्वजनिक प्रवचन और उनसे व्यक्तिगत संवाद।

2.1 लालसा का छलपूर्ण आक्रमण

बन्दरों का एक झुण्ड एक जंगल में रहता था। एक दिन, उनके नेता ने घोषणा की, "मनुष्य एकादशी के दिन उपवास रखते हैं और ऐसा करके पुण्य कमाते हैं। हम भी एकादशी के अवसर पर व्रत करेंगे।" अतः अगली एकादशी के अवसर पर, सभी इकट्ठे हुए और भूमि पर बैठ गए। कुछ समय बाद, उनमें से एक ने कहा, "हम यहाँ भूमि पर अचल बैठे हुए असुरक्षित हैं। यहाँ से होकर जाता हुआ हाथियों का झुण्ड हमें रौंद सकता है। यह भी सम्भव है कि यहाँ से होकर जाता हुआ कोई बाघ हम पर झपट्टा मार दे। और तो और, चूँकि हम वृक्ष-निवासी हैं, निरन्तर भूमि पर रहना हमारे लिए असुविधाजनक है। अतः, क्यों न हम पेड़ों के तनों पर चढ़ जाएँ और शाखाओं के मूल में बने रहें? इससे हम और अधिक सुरक्षित रहेंगे और साथ ही, शाखाओं के अन्तिम भाग में लगे फलों से दूर भी रहेंगे।" उसका सुझाव सभी को अच्छा लगा और उन्होंने उस सुझाव को कार्यान्वित कर दिया।

कुछ समय बीता। दूसरा बन्दर बोला, "कोई चीता हम पर यहाँ आक्रमण कर सकता है। यदि हम शाखाओं के अन्तिम छोर पर चले जाते, तो हमारे लिए और अच्छा होगा। चीते वहाँ न आ सकेंगे क्योंकि वह भाग उनके भार को नहीं वहन कर पाएगा। इसके अतिरिक्त, हम अगले वृक्ष पर कूदकर आसानी से स्वयं को बचा सकते हैं। हम स्वयं को साँपों से भी आसानी से बचा सकते हैं। हम फलों की ओर पीठ करके, भूमि और पेड़ों के तनों पर ध्यान लगाए हुए बैठ सकते हैं।" इस विचार को भी सभी ने सराहा और तुरन्त इसे लागू किया।

कुछ और वक्त बीता। तब एक बन्दर ने कहा, "निरन्तर भूमि को देखते रहना बहुत उबाऊ है। क्यों न हम बारी-बारी से विपत्ति को चिह्नित कर लें? हममें से शेष लोग चारों ओर देखने के लिए स्वतन्त्र हो सकें और अपनी ऊबन टाल सकें। निश्चित रूप से, कोई व्रत तोड़ा नहीं जाएगा, भले ही हमारी दृष्टि क्षणमात्र के लिए फलों पर क्यों न पड़ जाए।" "हाँ, सही है," दूसरों ने माना। शीघ्र ही वे बार-बार फलों पर अपनी दृष्टि लगा रहे थे।

अधिक समय नहीं बीता कि एक बन्दर ने अपना मन्तव्य दिया — "जब हम यहाँ बैठे हैं, हम फलों के विषय में यह जानने के लिए निरीक्षण कर सकते हैं कि कौन से फल पक गए हैं और रसीले हैं। यह कार्य कल हमारे आहार ढूँढने को सरल बना देगा। अन्ततोगत्वा, हम तब भूखे रहेंगे और खाने के लिए सही फल चुनने में अधिक समय नहीं लगाना चाहेंगे।" अस्वीकृति की कोई ध्वनि सुनाई न पड़ी। शीघ्र ही, बन्दर फलों को छूने लगे और उनके हाथ अच्छे वाले फलों पर कुछ समय तक रुकने लगे।

तब एक बूढ़े बन्दर ने कहा, "हम कल प्रातःकाल न केवल भूखे होंगे, किन्तु निर्बल भी। तब चारा खोजने के लिए निकलना कठिन होगा। अतः, आइए हम अच्छे फल अभी तोड़ लें और उन्हें कल खाए जाने के लिए उपयुक्त रखें।" "एक बुद्धिमत्तापूर्ण सुझाव" — ऐसा दूसरे बन्दरों ने सोचा और फल तोड़ना प्रारम्भ कर दिया।

कुछ समय बाद, एक दूसरा बूढ़ा बन्दर बोला, "अच्छे फलों को मात्र हाथों से छूकर और परखने से ही नहीं पहचाना जा सकता। उन्हें सूँघना भी आवश्यक है। वैसे भी, कोई फल छूने में तो अच्छा लग सकता है, परन्तु उसकी गन्ध बुरी हो सकती है। निश्चय ही, हम सभी बदबूदार फल को खाना नहीं चाहेंगे।" दूसरे वानर भी सहमत हो गए। अतः, वे सब के सब तोड़े हुए फलों को सूँघने लगे, व जिनकी गन्ध उन्हें अच्छी न लगी, उन्हें फेंक देने लगे।

कुछ और समय बीता। एक और बूढ़े बन्दर ने कहा, "अपने अनुभव से तो मैं यह जानता हूँ कि यहाँ तक कि कोई अच्छा दिखने वाला, छूने में अच्छा लगने वाला और सुगन्धित फल भी अन्दर से सड़ा हुआ अथवा कीड़ा लगा हुआ हो सकता है। इसलिए, यह निश्चित करने के लिए कि हम जो फल कल खा रहे होंगे, वे सच में अच्छे हों, यह आवश्यक है कि हम प्रत्येक फल को दाँतों से काटकर चखें। निश्चित रूप से, कल प्रातः हम दोषपूर्ण फलों को खाकर पेट में पीड़ा नहीं झेलना चाहते हैं। हमारा एकादशी-व्रत अटूट बना रहेगा, भले ही हम में से प्रत्येक बन्दर फल के एक टुकड़े को यह ध्यान रखते हुए चखे कि वह टुकड़ा उसके द्वारा निगला न जाए।" यह सुझाव बुद्धिमानी-भरा माना गया और लागू भी हो गया।

परन्तु, कुछ ही क्षणों में, बन्दरों ने फलों के स्वादिष्ट टुकड़ों को गटकना प्रारम्भ कर दिया और उसी से उनका उपवास समाप्त हो गया।

मन को अस्थिर करने में इन्द्रियों की शक्ति को कम आँकना, अपने कृत्यों का त्रुटिपूर्ण प्रकार से स्वयं ही पुष्टि करना, अति-आत्मविश्वास रखना और वहाँ समझौता कर लेना जहाँ नहीं होना चाहिए — ये उन कारकों में से हैं जो व्यक्ति का नैतिक अथवा आध्यात्मिक पतन कराते हैं।

2.2 क्रोध की हानिकारिता

शङ्कर और हरि एक पाठशाला में संस्कृत साहित्य के आवासीय छात्र थे। वे दो अन्य विद्यार्थियों के साथ एक कक्ष में रहते थे। वह पूर्णिमा का दिन था। उस दिन अनध्याय था और छात्र अपने अपने कमरों में थे। कमरे के एक कोने में बैठा हुआ शङ्कर, महाकवि कालिदास के रघुवंश के उस अंश को पढ़ रहा था जिसे उसे उसके गुरुजी ने दो दिन पहले पढ़ाया था। हरि और उसके कमरे में रहने वाले अन्य दोनों मित्र आपस में बातें कर रहे थे।

हरि - क्या तुमने किसी हाथी के बारे में सुना है जो कि चूहों से डरता हो और जो किसी चूहे के दिख जाने पर कूदता हो, दौड़ता हो और धरती पर भूचाल मचा देता हो?

साथी - नहीं।

हरि - मैं एक ऐसे हाथी को जानता हूँ। ऐसा हाथी है शङ्कर! वह इतना मोटा है कि उसका भार लगभग एक हाथी के समान होगा। वह चूहों से तो बहुत डरता है। कल सन्ध्या, जब वह पीपल के पेड़ के नीचे बैठा था, तभी पास से एक चूहा निकला। हमारा हाथी तो कूद पड़ा और भाग लिया। तभी वह एक केले के छिलके पर फिसल गया और गिर पड़ा। एक छोटा सा भूकम्प ही हुआ। बेचारी धरती माता! उसे कितनी चोट लगी होगी!

हरि और उसके मित्र ठठाकर हँसने लगे। शङ्कर, जो वहाँ बैठा सब सुन रहा था, क्रोधित हो गया। उसका मुखमण्डल लाल हो गया और साँसें चढ़ गईं; उसने हरि को झिड़ककर अपशब्द कहे। हरि मुड़ा और कमरे से बाहर चला गया। कुछ मिनटों के बाद, शङ्कर के दूसरे दोनों मित्र भी किसी काम से कमरे से बाहर चले गए।

जैसे ही वे दोनों बाहर गए, शङ्कर दबे पाँव कमरे में हरि वाले कोने में गया, उसने हरि की रघुवंश पुस्तक उठाई, उसे छिपा दिया और फ़िर से अपने स्थान पर बैठ गया। हरि ने प्रवेश किया। वह अपनी पुस्तक के न मिलने पर व्याकुल हो उठा, परन्तु उसने कुछ नहीं कहा। उसने अपने आप मान लिया कि यह तो शङ्कर की ही करतूत है। अतः, जब शङ्कर लघुशङ्का के लिए बाहर गया, तब हरि ने जल ले आकर शङ्कर की खाट पर डाल दिया। जब शङ्कर लौटा, तब उसने नहीं पहचाना कि उसकी अनुपस्थिति में क्या हो गया था।

हरि और शङ्कर को पढ़ाने वाले एक शिक्षक ने हॉल से वह सब देखा जो हुआ था। वे कमरे में आए। दोनों लड़कों ने उन्हें प्रणाम किया। वे बैठ गए और उन दोनों को भी बैठने को बोले। फ़िर, उन्होंने दोनों को एक कहानी सुनाई।

शिक्षक - कँपकँपाती हुई जाड़े की एक रात में, एक व्यक्ति अपने शरीर को गर्म रखने के लिए, कंबल ओढ़कर सो रहा था। तभी जब उसे ऐसा अनुभव हुआ कि उसके टखनों के पास कुछ घूम रहा है, वह उठ गया। मन्द प्रकाश में उसे ऐसा लगा कि वहाँ कोई चूहा है। बिना विचार किए, उसने अपने पास में रखी पानी की बोतल उठाई और उस चूहे की ओर दे मारी। उस बोतल से चूहे की पूँछ तो छिल गई, साथ ही वह उस व्यक्ति के पैर से टकराकर टूट गई। वह वेदना से कराह उठा और उसका बिछौना भी गीला हो गया। उसने चूहे को अपशब्द कहते हुए चारों ओर ढूँढ़ा। उसने उस चूहे को एक कोने में छिपा हुआ पाया जो उससे बहुत दूर न था। चूहे को मार डालने की इच्छा से, उसने तेज़ी से अपना हाथ चलाया और उस चूहे की पूँछ को हाथ से पकड़ लिया। भाग जाने के लिए आतुर, उस चूहे ने उसे दाँतों से काँटा। तीव्र वेदना का अनुभव करते हुए, उस व्यक्ति ने अपनी पकड़ ढीली कर दी। चूहा भाग गया। अच्छा, शङ्कर, अब बताओ कि उस व्यक्ति के विषय में तुम क्या सोचते हो?

शङ्कर - वह तो एकदम मूर्ख था।

शिक्षक - तुमने ऐसा क्यों कहा?

शङ्कर - उस व्यक्ति ने उस चूहे को बोतल से मारना चाहा, जोकि उस उद्देश्य की पूर्ति के लिए निश्चित रूप से उचित निर्णय नहीं था। वह यह नहीं समझ पाया कि इस क्रिया के फलस्वरूप, वह स्वयं को ही घायल कर बैठेगा और चूँकि उसका बिछौना भीग जाएगा, इसलिए वह आराम से सो भी नहीं पाएगा। चूहे को पूँछ से पकड़ना भी एक मूर्खतापूर्ण कृत्य था, क्योंकि वास्तव में इससे उसने ही चूहे को उसे दाँतों से काटने को विवश किया।

शिक्षक - जब हरि ने तुम्हारी हँसी उड़ाई, तब तुम स्वयं पर ही हँस सकते थे। नहीं तो तुम पूरे विषय को ऐसा विचार कर छोड़ सकते थे — "मैं मोटा तो हूँ सही। यह भी सच है कि मुझे चूहों से डर लगता है, और तो और, कल ही, चूहे को देखते ही, मैं कूद उठा, भागा और गिर भी गया। हरि का कहा हुआ यद्यपि व्यंग्यात्मक अतिशयोक्ति था, तथापि असत्य तो नहीं था।" इसके बदले, तुम तो अपने आप को ही खो बैठे। ठीक वैसे ही जैसे कहानी के उस व्यक्ति को चूहे ने विक्षुब्ध कर दिया था, हरि के उपहास ने तुम्हें व्याकुल कर दिया। बोतल ने उस व्यक्ति को चोटिल किया और उसकी शय्या को भिगा दिया। तुम्हारे क्रोध ने भी तुम्हें दो प्रकार से प्रभावित किया।

शङ्कर - सो कैसे?

शिक्षक - क्या तुमने क्रोध में हरि को जो कुछ कहा, उन सभी से तुम तात्पर्य रखते हो?

शङ्कर - नहीं, मैं तो इतना भड़क गया था कि तर्कसंगत ढंग से सोचकर, अपने शब्दों का चयन नहीं कर पाया।

शिक्षक - तर्कपूर्वक सोचने और बुद्धिमत्ता से कार्य करने की क्षमता मनुष्य की बहुत मूल्यवान सम्पत्ति है। तुमने अस्थायी रूप से वह क्षमता खो दी थी। क्या ऐसा नहीं हुआ था?

शङ्कर - मैं स्वीकार करता हूँ कि मैंने अपनी तर्कसंगत विवेचन की क्षमता तब खो दी थी।

शिक्षक - वह तुम्हारी एक बड़ी तात्कालिक असफलता थी ठीक उस व्यक्ति के पैर पर चोट लगने के समान। हरि को भलाबुरा कहने के बाद, तुम अपने अध्ययन को चालू रखना चाहते थे। क्या तुम पहले जैसे ही पढ़ाई पर ध्यान एकाग्र रख पाए?

शङ्कर - कुछ समय के लिए तो ऐसा नहीं कर सका। मेरा मन उत्तेजना से भर उठा था और हरि द्वारा मेरे मित्रों की उपस्थिति में मेरी खिल्ली उड़ाए जाने का विचार बार-बार आता ही रहा।

शिक्षक - जैसे वह व्यक्ति उस रात आराम से सो नहीं पाया क्योंकि शय्या गीली हो गई थी, ठीक वैसे ही तुम भी अपनी मानसिक उत्तेजना के कारण कुछ समय के लिए अपनी पढ़ाई पर ध्यान नहीं केन्द्रित कर पाए। वह व्यक्ति अपने द्वारा बोतल फेंके जाने के फल को समझ नहीं पाया। उसने केवल यही सोचा कि उसे उस चूहे से छुटकारा मिलने वाला है। तुम अपने क्रोध के फल के बारे में न सोच सके। तुम केवल हरि को नीचा करना चाहते थे। क्या तुम सहमत हो?

शङ्कर - हाँ।

शिक्षक - हरि, शङ्कर को बताओ कि तुमने उसके बिछौने के साथ क्या और क्यों किया है।

हरि - शङ्कर, तुमने मेरी पुस्तक छिपाई थी। उसके प्रतिकार में, मैंने तुम्हारे बिछौने पर पानी डाल दिया।

शिक्षक - चूहे से खीझकर, उस व्यक्ति ने चूहे की पूँछ को पकड़ लिया था और चूहे ने उस व्यक्ति को काट लिया था। हरि के द्वारा चिढ़ाए जाने पर, उसे दण्ड देने के लिए तुमने उसकी पुस्तक छिपा दी। चूँकि तुमने ऐसा किया, इसलिए अब तुम्हारी शय्या गीली है।

शङ्कर - मैं अब स्पष्ट देख पा रहा हूँ कि उस मूर्ख व्यक्ति और मुझमें बहुत समानता है।

शिक्षक - मैं यह जानता हूँ कि क्रोध तुम्हारी नाक पर रहता है। अपने आपको बदलने का प्रयास करो। स्मरण रखना, क्रोध उसी व्यक्ति के लिए

हानिकारक होता है जो उसे स्थान देता है। यह अस्थायी रूप से उसे तर्कसंगत सोच और समझदार व्यवहार के अपने बहुमूल्य ईश्वर प्रदत्त उपहार से वंचित करता है। वह मन को उत्तेजित कर देता है एवं शान्ति को नष्ट कर देता है। वह न्यूनतम मात्रा में भी प्रसन्नता नहीं देता है। क्रोधित होने पर, कोई भी व्यक्ति प्रसन्न नहीं होता है। भगवान कृष्ण ने क्रोध को नरक के द्वारों में से एक बताया है।

शङ्कर - यदि मैं क्रोध करना छोड़ दूँ तो क्या लोग मेरी परिणामी विनम्रता का बुरा लाभ नहीं उठाएँगे?

शिक्षक - व्यक्ति को धैर्य रखना चाहिए और गुस्से को अवसर नहीं देना चाहिए। इसका अर्थ यह नहीं है कि वह लोगों को अपने ऊपर धमधमाने दे। वह अडिग रह सकता है और यहाँ तक कि जब स्थिति के अनुसार आवश्यक हो, तब कड़े मौखिक उत्तर दे सकता है। एक अधिकारी उस आलसी व्यक्ति को डाँट सकता है जो कि मृदु भाषा में दिए गए निर्देशों का पालन नहीं करता हो। ऐसी स्थितियों में, क्रोध को बहाना बनाया जा सकता है, परन्तु मानसिक सन्तुलन को बनाए रखना चाहिए।

शङ्कर - क्रोध पर विजय के महत्त्व को मैं समझता हूँ और स्वयं में सुधार लाने का मैं पूरा प्रयास करुँगा।

शिक्षक - हरि, शङ्कर की खिल्ली उड़ाना या उसे भड़काना तुम्हारे लिए कदापि आवश्यक नहीं था। प्राय:, लोग निन्दा और अपमान को बुरा मानते हैं। तुमने जो किया, उसके कारण शङ्कर ने तुम्हें बहुत फटकार लगाई। उसकी डाँट ने तुम्हें चोट पहुँचाई। क्या ऐसा नहीं हुआ?

हरि - हाँ, तभी तो मैं कमरे से बाहर चला गया था। कुछ समय के लिए मुझे बहुत व्यग्र अनुभव होता रहा।

शिक्षक - शङ्कर ने मूर्खतापूर्वक तुम्हारी पुस्तक छिपा दी थी, परन्तु तुम्हारा प्रत्युत्तर भी तो विवेक-शून्य ही था। यदि शङ्कर बाद में यह जान जाता कि तुमने ही उसके बिछौने को भिगोया था, तो उसने तुम्हारे इस कृत्य के लिए तुम्हें चोट पहुँचाई होती। तुम तो महाभारत से परिचित हो। तुम जानते हो कि जब द्रोण ने द्रुपद से सहायता माँगी, तो द्रुपद ने उनका अपमान कर

दिया। इसी कारण, कौरवों और पाण्डवों को प्रशिक्षित करने के उपरान्त, द्रोण ने अर्जुन के हाथों द्रुपद को बँदी बनवा लिया और उसके राज्य का आधा भाग भी ले लिया। वहीं दूसरी ओर, द्रुपद ने एक यज्ञ का आयोजन किया और एक ऐसा पुत्र पाया जोकि द्रोण का वध कर सके। महाभारत के युद्ध में जब युधिष्ठिर द्वारा यह बताए जाने पर कि उनका पुत्र अश्वत्थामा मारा गया, द्रोण ने अपने शस्त्र नीचे रख दिए, तभी धृष्टद्युम्न ने उनका वध कर दिया। इसके बाद, अश्वत्थामा ने धृष्टद्युम्न का वध करके अपने पिता की मृत्यु का प्रतिशोध ले लिया। प्रतिक्रियाओं की कैसी अनोखी शृंखला है!

हरि - भविष्य में मैं दूसरों की भावनाओं को ध्यान में रखने का प्रयास करूँगा और मूर्खतापूर्ण रीति से प्रतिशोध की कार्यवाही प्रारम्भ करने से दूर रहूँगा।

शिक्षक - तुम दोनों को एक-दूसरे से क्षमा माँगनी चाहिए और अपनी मित्रता यथापूर्व बनाए रखनी चाहिए।

लड़कों ने जैसा कहा गया, वैसे ही किया। तत्पश्चात्, शङ्कर ने हरि की पुस्तक लौटा दी; हरि ने शङ्कर के बिछौने को धूप में सूखने के लिए रख दिया।
क्रोध उस व्यक्ति को अनेक विधियों से हानि पहुँचाता है जो उसे स्थान देता है। जैसा कि स्वयं भगवान ने घोषित किया है, क्रोध नरक का एक द्वार है। इस प्रकार, यह सभी के लिए श्रेयस्कर है कि क्रोध को कोई स्थान न दिया जाए। व्यक्ति को धैर्य रखना चाहिए। हालाँकि, यदि स्थिति की आवश्यकता होती है, तो वह बनावटी क्रोध दिखा सकता है, तब भी उसे मानसिक रूप से उत्तेजित नहीं होना चाहिए।

2.3 धर्म का निर्णय वेद करते हैं

एक न्यायवादी ने तर्क दिया, “महामहिम, मेरे मुवक्किल को दोषी नहीं ठहराया जाना चाहिए। यह सच है कि उसने चोरी की है। परन्तु उसका एक कारण है। वह चोरी करने के लिए विवश था क्योंकि उसका परिवार भूख

से मर रहा था। उन चुराए गए पैसों से, उसने न केवल स्वयं की, अपितु अपने परिवार की भी सहायता की। जब वह चोरी कर रहा था, तब उसने किसी सम्पत्ति को हानि नहीं पहुँचाई। यहाँ तक कि वास्तव में उसने ताले को भी नहीं तोड़ा, क्योंकि उसने नकली चाबी का प्रयोग किया। उसने जितना पैसा चुराया, वह तो उस धनिक व्यक्ति के काले धन के भण्डार की तुलना में कुछ भी नहीं था। मेरे मुवक्किल ने काले धन को खुले में लाकर, वस्तुतः शासन की सेवा की है। इतना ही नहीं, उस धनी व्यक्ति के पास इतना धन है कि यह छोटी सी धनहानि से, उसका कुछ भी नहीं होना चाहिए।"

न्यायाधीश इस प्रकार के तर्क पर कैसे प्रतिक्रिया देंगे? वे सम्भवतः घोषणा करेंगे, "मेरी इस तरह के तर्कों में कोई रुचि नहीं है जो देश के नियमों की अवहेलना करते हैं। भारतीय दण्ड संहिता के अधीन, चोरी करना एक अपराध है। यहाँ तक कि आप भी स्वीकार कर रहे हैं कि आपके मुवक्किल ने चोरी की है। इसलिए, मैं आपके मुवक्किल को दण्ड देने के लिए नियमबद्ध हूँ।" फ़िर, वे उस न्यायवादी के मुवक्किल को दोषी ठहराते और चोर को जेल भेज देते।

किसी कार्य के दण्डनीय अपराध होने अथवा न होने का निश्चय, न्यायाधीश दण्ड संहिता के आधार पर ही करते हैं, न कि दण्ड संहिता से विरुद्ध काल्पनिक तर्क के आधार पर।

इसी तरह, धर्म क्या है और अधर्म क्या है — इसका निर्णय करने के लिए, किसी व्यक्ति को वेद की ओर मुड़ना चाहिए, न कि केवल शास्त्रों से स्वतन्त्र तर्क की ओर। चूँकि दण्ड संहिता मनुष्यों की ही बनाई हुई है, उसमें कुछ अवसरों पर सुधार की आवश्यकता पड़ती है। मगर ईश्वर से निकले हुए वेद सदैव दोष-रहित हैं।

2.4 सत्यकथन पर आलोक

एक व्यक्ति ने कुछ वस्तुएँ चुरा लीं। वह पकड़ा गया और उससे यह शपथ लिया गया कि वह सच ही सच उत्तर देगा। वह बोला, "जब तक प्राण है, मैं सत्य बोलूँगा।" फ़िर, उसकी प्रतिपरीक्षा की गई। उसने स्पष्टतः इससे मना कर दिया कि उसने कुछ भी चुराया था। उसके साक्ष्य के आधार पर, उसे छोड़ दिया गया। उसका एक मित्र, जिसने उस नीच कृत्य में भाग लिया था, उससे पूछा, "यह शपथ लेने के बाद भी, तुमने इतनी ढिठाई से क्यों असत्य बोल दिया?" उस व्यक्ति ने उदासीनतापूर्वक उत्तर दिया, "मैंने झूठ नहीं बोला। जो कुछ भी मैंने कहा, वह सब सत्य ही था। मैं प्राण रहने तक सत्य बोलने के लिए वचनबद्ध था। मेरे हाथ में एक कीड़ा था। उत्तर देने के पहले, मैंने उस कीड़े को मसलकर मार डाला। इस प्रकार मेरा कथन, 'जब तक प्राण है, मैं सत्य बोलूँगा,' बना ही रहा।"

यह सत्य-आभास का उदाहरण है। जब किसी व्यक्ति के मन में कुछ होता है, परन्तु वह ऐसे वक्तव्य की सहायता लेता है कि सुनने वाले को कुछ और समझ में आ जाए या वह भ्रमित हो जाए, तो वह सच्चाई से भटकने का दोषी है। शास्त्र नियम के अनुसार, सत्य बोलने के लिए व्यक्ति को अपने शब्दों का अपने विचारों से तालमेल बैठाना चाहिए। सत्यता के सम्बन्ध में ध्यान में रखा जाने वाला अगला बिन्दु यह है कि व्यक्ति प्रिय वाणी में बोले। किन्तु मीठा बोलने का यह तात्पर्य कभी भी नहीं है कि असत्य बात बोली जाए।

एक उत्पाती व्यक्ति ने अपने एक मित्र को मूर्ख बनाने का निश्चय किया। वह अपने मित्र के पास गया और उत्साहित स्वर में बोला, "क्या तुम्हें यह पता है कि तुमने लॉटरी में दस लाख रूपये जीते हैं? तुम यहाँ इतनी शान्ति से कैसे बैठे हो?" वह मित्र अवाक् रह गया। उसके आश्चर्य के कुछ कम होने पर, उसने सपनों के महल बनाना प्रारम्भ कर दिया। इस बीच, वह नटखट व्यक्ति वहाँ से चला गया। अन्त में, उस व्यक्ति ने अपने लॉटरी टिकट की संख्या को देखकर प्रसन्न होने के लिए समाचार पत्र उठाया। जब वह उस संख्या को न पा सका, तो उसका हर्ष निराशा में बदल गया। यह एक सुखद असत्य का उदाहरण है।

किसी को दायित्वहीन ढंग से व्यथित करने वाले सत्य को नहीं बोलना चाहिए। एक व्यक्ति भारी हृदयाघात के बाद अस्पताल में स्वास्थ्यलाभ कर रहा था। तब एक दिन, सड़क दुर्घटना में उसके बेटे की मृत्यु हो गई। जिस व्यक्ति ने इस दुर्घटना को प्रत्यक्ष देखा था, वह अस्पताल पहुँचा और उस हृदय-रोगी से चिल्लाते हुए कहा, "क्या तुम जानते हो कि क्या हो गया है? तुम्हारा बेटा मर गया है!" अपने बेटे से बहुत प्यार करने वाला वह रोगी, इस हृदय-विदारक समाचार को सहन नहीं कर सका। उसका हृदय तो पहले से ही दुर्बल था और उसने अपनी आख़िरी साँस ली। जिस व्यक्ति ने यह अप्रिय समाचार दिया, उसका आचरण निन्दनीय था।

इसकी सारभूत शिक्षा यही है कि व्यक्ति को सत्य बोलना चाहिए। इसके अतिरिक्त, व्यक्ति के शब्द दूसरों के लिए प्रिय एवं हितकारक होने चाहिए। व्यथित करने वाले सत्य को असावधानी से नहीं बोलना चाहिए और दूसरों को भटकाने के उद्देश्य से शब्दों का चयन नहीं करना चाहिए।

2.5 सत्य और मौन

एक बार, तीन व्यक्ति उन्हें ले जाने के लिए आए दिव्य यान पर बैठकर स्वर्ग की ओर जा रहे थे। मार्ग में उन्होंने एक साँप को देखा, जो अपने आहेर, एक मेढक को निगलने ही वाला था। उनमें से एक ने ताना दिया, "अरे साँप, क्या तुम्हें इस मेढक पर दया नहीं आती? इसे जीवनदान दे दो।" चिड़चिड़े साँप ने शाप देते हुए कहा, "तुमने मुझे मेरे आहार से वंचित करने की धृष्टता कैसे की? तुम नरक में जाओ।" दुःख की बात है कि वह व्यक्ति नरक में चला गया।

इसे देखकर सम्भ्रान्त दूसरे व्यक्ति ने साँप का पक्ष लिया और बोला, "हे नाग, मेढक तुम्हारा प्राकृतिक आहार है। तुम इसे अवश्य खा सकते हो।" अब उस मेढक की त्योरी चढ़ गई और उसने कहा, "तुम्हारा ऐसा सुझाव देने

का साहस कैसे हुआ कि मुझे खा लिया जाए! तुम्हें कोई दया नहीं है। तुम्हें नरक की यातनाएँ झेलनी पड़ें।" वह व्यक्ति उस दिव्य वाहन से गिर गया।

तीसरा व्यक्ति मौन रहा और स्वर्ग पहुँच गया।

यह कहानी दर्शाती है कि कुछ अवसरों पर मौन रहना सत्य बोलने की अपेक्षा कहीं श्रेष्ठतर है।

2.6 सत्यशीलता के सूक्ष्म पहलू

द्रोणाचार्य की मृत्यु के बाद, कर्ण कौरव सेना का सेनापति बन गया। कर्ण के साथ युद्ध में युधिष्ठिर, नकुल और सहदेव पराजित हुए और घायल हो गए। अपमानित और बहुत वेदनाग्रस्त, युधिष्ठिर कुछ विश्रान्ति के लिए युद्धभूमि से अपने शिविर में वापस चले गए। लड़ाई तो चलती रही। कुछ समय बाद, अर्जुन युधिष्ठिर के बारे में चिन्तित होकर, उन्हें देखना चाहता था। इसलिए, उसने पाण्डव-सेना को भीम के सञ्चालन में छोड़कर, युधिष्ठिर के शिविर में उसे ले चलने को कृष्ण से कहा।

जब कृष्ण और अर्जुन अपना अभिवादन कहने के लिए आए, तब युधिष्ठिर ने भूल से मान लिया कि कर्ण को अर्जुन ने मार दिया है। उन्होंने विवरण जानना चाहा। अर्जुन ने उन्हें विस्तारपूर्वक बताया कि उस समय तक, वह कर्ण की इहलीला समाप्त करने में सफल नहीं हुआ था। उसने कहा कि वह अवश्य ऐसा करेगा।

अर्जुन की बात सुनकर युधिष्ठिर बहुत असन्तुष्ट होकर क्रोधित हो उठे। उन्होंने अर्जुन की कठोर निन्दा करते हुए कहा, "कर्ण को हराने में असमर्थ और भयभीत होकर, तुम भीम के हाथ सेना का आधिपत्य सौंपकर यहाँ भाग आए हो। अगर तुमने बहुत पहले ही मुझसे कह दिया होता कि तुम कर्ण से नहीं लड़ोगे, तो मैं अपना निर्णय अलग प्रकार से लेता। तुमने वचन

दिया धट कि तुम कर्ण को मार दोगे, परन्तु तुमने अपनी प्रतिज्ञा पूरी नहीं की। तुम्हारा रथ विश्वकर्मा द्वारा बनाया गया है और उस पर हनुमान जी के प्रतीक वाला एक ध्वज है। तुम्हारे पास गाण्डीव धनुष है। श्रीकृष्ण स्वयं तुम्हारे सारथि हैं। फ़िर भी, कर्ण के भय के मारे यहाँ भाग आए हो। अपना गाण्डीव कृष्ण को दे दो। कर्ण का वध करके उन्हें यथोचित आवश्यक कार्य करने दो। अथवा, अपना गाण्डीव किसी और को दे दो। तुम इसके योग्य नहीं हो। तुम्हें लज्जा आनी चाहिए! धिक्कार है तुम्हारी शूरता पर! धिक्कार है तुम्हारे गाण्डीव पर!"

युधिष्ठिर की फटकार ने अर्जुन को इतना डंक मार दिया कि वह रोष में आ गया। वह अपना खड्ग निकालने लगा। यह देखकर कृष्ण ने उससे कहा, "यह तुम क्या करना चाहते हो? यहाँ कोई शत्रु नहीं है। तुम अपने खड्ग क्यों निकालना चाहते हो?" अर्जुन ने कहा, "मैं युधिष्ठिर को मारने जा रहा हूँ। मैंने गुप्त रूप से यह प्रतिज्ञा की थी कि यदि कोई मुझसे कहे, 'अपना गाण्डीव दे दो,' तो मैं निश्चित रूप से उसे मार डालूँगा। अब, अपने वचन की पूर्ति में, मैं युधिष्ठिर का वध करने जा रहा हूँ, क्योंकि उसने मुझे दूसरे को गाण्डीव देने के लिए कहकर मेरा अपमान किया है और मुझे इसके सन्धान के लिए अयोग्य माना है।"

कृष्ण ने कहा, "लज्जा करो अर्जुन, कोई भी व्यक्ति जो धर्म के वास्तविक स्वरूप को जानता है, वह वैसा बर्ताव नहीं करेगा जैसा तुम करना चाहते हो। सत्य का पालन करना सर्वोच्च है। तथापि, सत्य का स्वरूप, जैसा महान लोगों द्वारा समर्थित है, आसानी से समझ में नहीं आता है। ऐसे अवसर आते हैं जब कोई व्यक्ति बिना पाप किए, झूठ बोल सकता है। उदाहरणार्थ, किसी को बचाने के लिए या स्वयं को पूर्ण विनाश से बचाने के लिए या किसी पवित्र व्यक्ति की भलाई के लिए, वह झूठ बोल सकता है। ऐसा करने से वह व्यक्ति अधर्म का दोषी नहीं बन जाता। कई बार ऐसे भी अवसर होते हैं कि जब बिना किसी बनावट के सत्य बोलने से पुण्य नहीं मिलता, प्रत्युत पाप लगता है।"

कृष्ण ने तब कौशिक नामक एक व्यक्ति की कथा सुनाई, जो अधिक विद्वान नहीं था, परन्तु सत्यशील होना चाहता था। वह सत्यवक्ता के रूप में प्रसिद्ध था। एक दिन जब वह बैठा था, तब कुछ लोग उसके पास से भागकर निकले। कुछ समय बाद, उसे डकैतों का एक गिरोह दिखाई दिया। डकैत उसके पास आए और उन लोगों के ठिकाने के बारे में पूछा, जिनका वे पीछा कर रहे थे। कौशिक ने सत्य के कथन को अमूल्य मानते हुए, उस ओर सूचित किया जिधर वे लोग गए थे। डाकुओं ने उनका पीछा फ़िर से प्रारम्भ किया और अन्ततः उन लोगों का वध कर दिया। तब कृष्ण ने बताया कि तथ्यपूर्ण कथन मात्र से, कौशिक को न केवल कोई पुण्य नहीं मिला, अपितु उसने पाप अर्जित किया। भगवान ने कहा कि ऐसी परिस्थिति में, कौशिक को चुप रहना चाहिए था। अन्यथा, यदि उसका शान्त रहना भी इसका सूचक हो जाता कि वे लोग किस दिशा में गए हैं, तो वह उन्हें त्रुटिपूर्ण मार्ग बता सकता था।

कृष्ण ने अर्जुन को स्पष्टीकरण देते हुए बताया कि युधिष्ठिर गहरी वेदना से आकुलित थे और कर्ण द्वारा अपमानित थे। कर्ण ने युधिष्ठिर पर आक्रमण कर दिया था, तब भी जबकि युधिष्ठिर ने लड़ाई रोक दी थी। इस प्रकार, युधिष्ठिर एक दुःखित मनःस्थिति में थे जब उन्होंने अर्जुन को भलाबुरा कहा। इसके अतिरिक्त, अपने कठोर वचनों से, उन्होंने अर्जुन को कर्ण का वध करने के लिए उत्तेजित किया, क्योंकि वे जानते थे कि अर्जुन में उतनी पर्याप्त क्षमता है। भगवान ने समझाया कि चूँकि युधिष्ठिर एक श्रेष्ठ व्यक्ति हैं — जो अर्जुन के लिए सम्मानयोग्य हैं और उनके शब्दों की पर्याप्त रूप में पुष्टि की जा सकती है — तो यह अर्जुन के लिए अत्यन्त अनुचित होगा कि वह युधिष्ठिर का वध कर दें; इस प्रकार का कृत्य तो अहिंसा का घोर उल्लंघन होगा, जो सर्वोच्च धर्म है।

अर्जुन ने कृष्ण से यह स्पष्ट रूप से निर्दिष्ट करने का अनुरोध किया कि उसे क्या करना चाहिए, क्योंकि एक ओर, युधिष्ठिर की हत्या करना उनके लिए त्रुटियुक्त था और दूसरी ओर, उसे अपनी प्रतिज्ञा पूरी करनी थी। भगवान बोले, “जब एक महान, बहुत सम्मानित व्यक्ति का अत्यधिक अपमान

किया जाता है, तो वह मृत समान हो जाता है। अथर्ववेद सिखाता है कि एक प्रतिष्ठित नेता के प्रति अनादरपूर्वक बोलना, उसके जीवन को समाप्त किए बिना उसे मारने के समान है। इस शास्त्र वचन की सहायता लेते हुए, युधिष्ठिर का अपमान करके, अपनी प्रतिज्ञा पूरी करो। इसके बाद, उनके चरणों में गिरकर क्षमा माँगो। धर्मनिष्ठ और समझदार होने के कारण, वे तुम्हें क्षमा कर देंगे।"

कृष्ण के कहने पर, अर्जुन ने युधिष्ठिर को बुरी तरह डाँटना प्रारम्भ कर दिया। "आप इस स्थान पर भाग आए हैं जो युद्धभूमि से बहुत दूर है और अपने शुभचिन्तकों के बाहुबल पर अपनी सुरक्षा के लिए पूरी तरह से निर्भर हैं। आप में और शूरवीर तथा शक्तिशाली भीम में कितना अन्तर है! उसके विपरीत, आप मुझमें दोष ढूँढ़ने के लिए सर्वथा योग्य नहीं हैं। आपको जुए की लत है। यह आप ही के कारण से है कि हमने अपना राज्य खो दिया और हमें गम्भीर कठिनाइयाँ झेलनी पड़ीं," अर्जुन ने कहा।

जैसे ही उसने अपनी निन्दा समाप्त की, वह पछतावे से अभिभूत हो गया। उसने फ़िर से अपना खड्ग निकाला। ऊपर-ऊपर से आश्चर्यचकित कृष्ण ने पूछा, "अरे! अब क्या समस्या है?" अर्जुन ने कहा कि वह अपना देह-त्याग करना चाहता है क्योंकि उसने अपने बड़े भाई के प्रति अनुचित व्यवहार किया था, जो वास्तव में उसके द्वारा पूजा के योग्य हैं।

भगवान ने उसे यह कहते हुए रोक दिया, "सोचो कि यदि तुम युधिष्ठिर को मार डालते तो कितना भयानक होता। उस अधर्म कृत्य से बचने के लिए ही तुमने उनकी असभ्य शब्दों में निन्दा की। तो फ़िर तुम शोक में क्यों डूबे हो? तुम आत्महत्या करना चाहते हो, परन्तु वह ऐसा काम है जो बुद्धिमान लोग कभी नहीं करते। यदि तुम अपने आप को मार डालोगे, तो उससे तुम्हें जो पाप लगेगा, वह अपने भाई को मार डालने से लगने वाले पाप से अधिक होगा; तुम नरक में अत्यधिक दुःख भोगोगे। आत्मस्तुति आत्महत्या के समतुल्य है। इसलिए, अपनी स्तुति करो और इस तरह, तुम यह जो आत्महत्या करना चाहते हो, उसके समान कार्य कर दोगे।"

अर्जुन तब शेखी बघारने लगे, “पिनाक धनुष के धारक और एकमात्र भगवान शिव जी के अतिरिक्त, धनुर्विद्या में मेरे समान कोई नहीं है। मैं पूरे ब्रह्माण्ड को, इसके निवासियों के साथ, अकेले ही नष्ट कर सकता हूँ। मैं ही वह हूँ, जिसने अतीत में विभिन्न दिशाओं में शासन करने वाले राजाओं को हराया और उन्हें आपके अधीन कर दिया, हे युधिष्ठिर, मैंने अब कौरवों की आधी सेना को नष्ट कर दिया है।” भगवान द्वारा अपनी प्रतिज्ञा तोड़ने, युधिष्ठिर का वध करने और आत्महत्या करने के पापों से बचाए जाने के बाद, अर्जुन ने अपने भाई को प्रणाम किया और क्षमा की भीख माँगी!

युधिष्ठिर को प्रसन्न करने के बाद, अर्जुन ने युद्ध के मैदान में लौटने के लिए स्वयं को सन्नद्ध किया। “मेरा जीवन वह करने के लिए है जो आपको भाता है,” उसने कहा। इस बीच, युधिष्ठिर, जो पहले चुपचाप अर्जुन की डाँट को सुन चुके थे, उदास हो गए और उन्हें लगा कि वे नीच हैं। वे बोले, “मैं एक नीच पापी हूँ, जिसने तुम सबको इतना कष्ट पहुँचाया है। मैं मारे जाने के योग्य हूँ। भीम शासन करने में सक्षम है और उसे राजा बनना चाहिए, न कि मुझे जो शक्तिहीन हूँ। मैं वन के लिए प्रस्थान करूंगा।”

युधिष्ठिर जाने के लिए अपनी खाट से उठ खड़े हुए, परन्तु कृष्ण उनके चरणों में गिर पड़े और विनती की, “अर्जुन किसी को भी — जिसने उसे दूसरे को गाण्डीव देने के लिए कहा हो — मारने की अपनी प्रतिज्ञा को झूठा नहीं ठहरा सकता था। इसलिए, मेरे सुझाव को ध्यान में रखते हुए, उसने आपसे अनादरपूर्वक बात की, और इस तरह, अपने वादे को पूरा कर लिया। हम आपकी शरण चाहते हैं। आपको प्रणाम करते हुए, मैं आपसे विनती करता हूँ कि कृपया हमारे अपराधों को क्षमा करें। आप कर्ण की मृत्यु चाहते थे। आज उसका वध किया जाएगा और धरती उसका रक्त पीएगी।”

पूरी तरह से प्रसन्न होकर युधिष्ठिर ने कृष्ण को ऊपर उठाया और उनसे कहा, “अर्जुन और मैं भ्रमित थे और हम विपत्ति तथा दुःख के सागर में डूब गए होंगे। आपने हमें बचा लिया। आपकी बुद्धिमत्ता वह नाव है जिसने हमें सुरक्षित रूप से किनारे तक पहुँचने में सक्षम बनाया है।”

महाभारत का यह प्रसंग दर्शाता है कि जबकि किसी व्यक्ति को सदैव सत्य का पालन करना चाहिए, परन्तु सत्यशीलता के कई सूक्ष्म पहलू होते हैं। जब विचार-विषय जटिल हों, तो महात्माओं के आचरण और सुझावों का आश्रय लेना चाहिए।

2.7 वेदोच्चारण त्रुटिहीन होना चाहिए

एक निर्धन पण्डित की अविवाहित बेटियाँ थीं। उसे नहीं पता था कि उनके विवाह के लिए पैसे कैसे जुटाएँ। एक मित्र ने उससे कहा, "संगीतकारों को बढ़िया पुरस्कार मिलते हैं।" परिणामस्वरूप, उसके मन में गायन सीखने की इच्छा पैदा हुई। उसने पाया कि अपने स्वर को प्रशिक्षित करने के लिए, उसे लम्बे समय तक गायन का अभ्यास करना होगा। इसलिए, वह अपने गाँव के बाहर स्थित एक पेड़ के नीचे बैठ गया और गायन का अभ्यास करने लगा। परन्तु उससे जो स्वर निकला, वह केवल कर्कश और अपस्वर था।

एक भूत जो कि पहले एक संगीतकार था, उस पेड़ पर रहता था। वह पण्डित द्वारा संगीत की हत्या को सह नहीं पाया। इसलिए, उसने उससे कहा, "मैं एक संगीत जानने वाला भूत हूँ। यह पेड़ मेरा घर है। तुम्हारा कर्णकटु स्वर मेरे लिए यहाँ रहना असम्भव बना रहा है। कहीं और चले जाओ।" पण्डित ने उत्तर दिया, "मैं क्यों जाऊँ? मैं धन कमाना चाहता हूँ और उसके लिए मैं उत्कट अभ्यास करके गीतकार बनना चाहता हूँ। अभ्यास के लिए यह मेरा चुना हुआ स्थान है।"

भूत बोला, "चूँकि जो तुम चाहते हो वह धन है, मैं तुम्हें बताऊँगा कि तुम उसे कैसे कमा सकते हो। मैं राजकुमारी को वश में कर लूँगा। राजा अपने वैद्यों को उसकी देखभाल करने के लिए नियुक्त करेगा। परन्तु, वे उसकी चिकित्सा करने में असमर्थ होंगे। तब तुम राजा से मिलने का अनुरोध

करना। उससे कहना कि राजकुमारी एक भूत के वश में है और उसे तुम झाड़-फूँक करके भगा सकते हो। राजा की अनुमति से, राजकुमारी के पास जाना और वहाँ वैसे ही गाना जैसे तुम अभी गा रहे हो। मैं, जो तुम्हारे कर्कश अपस्वर को नहीं सह पाऊँगा, राजकुमारी को तुरन्त छोड़ दूँगा। वह ठीक हो जाएगी। राजा तुम्हें बढ़िया पारितोषिक प्रदान करेगा। उसके बाद, तुम्हें यहाँ आने और संगीत की हत्या करने की कोई आवश्यकता नहीं होगी।"

वह पण्डित सहमत हो गया और भूत की योजना को उसने सफलतापूर्वक क्रियान्वित कर दिया। परिणामस्वरूप, पण्डित अपनी बेटियों के विवाह के लिए पर्याप्त से अधिक धन प्राप्त करने में सक्षम बन गया; जबकि भूत अपने वृक्ष पर शान्ति से रहने लगा।

जैसे कहानी का वह संगीत जानने वाला भूत उस निर्धन व्यक्ति की कर्कशता से विक्षुब्ध हो गया था, ठीक उसी तरह वैदिक विद्वान जब कोई उनकी उपस्थिति में पवित्र वेद मन्त्रों का त्रुटिपूर्ण उच्चारण करता है, तब वे विक्षुब्ध हो जाते हैं।

जबकि दोषपूर्ण गायन अपवादात्मक रूप से कुछ पुरस्कार दिला सकता है जैसा कि इस कहानी में दर्शित है, वेदों के दोषपूर्ण पठन से पाठक को अवश्य पाप लगेगा। शब्दों या स्वरों में त्रुटियों के बिना, वेद को सही ढंग से सीखने और पाठ करने के लिए सावधानी रखनी चाहिए। जबकि ऐसा कोई नियम नहीं है कि किसी व्यक्ति को अवश्य संगीत सीखना चाहिए, परन्तु एक अधिकृत व्यक्ति के लिए, किसी आचार्य से वैदिक मन्त्रों को सीखना और उनका सही ढंग से पाठ करना विहित कर्तव्य है। इस कर्तव्य को पूरा करने से, पाठ करने वाला व्यक्ति पुण्य प्राप्त करता है; उसकी उपेक्षा करके वह पापग्रस्त होता है।

2.8 माता-पिता और सन्तान

एक सुन्दर बच्चा था जिसके माता-पिता निर्धन थे। एक धनवान निस्सन्तान दम्पती निकट ही रहते थे। उन्होंने उस बच्चे के माता-पिता से सम्पर्क किया और अनुरोध किया, "कृपया हमें आपके बच्चे को गोद लेने दीजिए।" माता दुविधा में थी। वहीं पिता ने कहा, "हम निर्धन हैं और अपने प्रिय बच्चे को अच्छा खाना, कपड़े या सुविधाएँ नहीं दे सकते। हमारा बच्चा, अन्ततोगत्वा, निकट के घर में रहेगा और इसलिए, हम इसे हर दिन देख सकते हैं। यह बच्चे के हित में होगा कि हम इसे सौंप दें।" अनिच्छापूर्वक माता सहमत हो गई।

बच्चे को नए घर में सभी सुविधाएँ दी गईं। हालाँकि, समय बीतने के साथ, उस धनी दम्पती ने बच्चे के माता-पिता को उसे देखने आने से मना कर दिया। माता अचम्भे में पड़ गई और फूट-फूटकर रोने लगी। परन्तु, बेचारी महिला स्वयं को समझाने के अतिरिक्त क्या कर सकती थी? एक दिन, उस धनिक के सेवक ने उस महिला से कहा, "बच्चे को चेचक हो गई है और कोई भी इसके समीप नहीं जाना चाहता।" ओछे की प्रीत, बालू की भीत! "ओह, मेरा बेटा," माता रोने लगी, और उस धनिक के घर पहुँचकर, अपने प्रिय बच्चे को अपनी बाहों में भर लिया।

यह कहानी दर्शाती है कि माता का अपने बेटे के प्रति प्रेम तीव्र और निरुपाधिक होता है। माता-पिता अपनी सन्तानों के कल्याण के लिए प्रयास करते हैं। वे अपनी सन्तान के लिए अनगिनत कष्टों और असुविधाओं को सहते हैं। इसलिए, यह आश्चर्यजनक नहीं है कि वेद घोषणा करते हैं, "माता को देवता के समान सम्मान दें (मातृदेवो भव)। पिता को देवता के समान सम्मान दें (पितृदेवो भव)।" मनु ने कहा है कि माता तो पिता से दस गुनी अधिक सम्माननीया है। किसी भी स्थिति में, एक व्यक्ति के लिए अपने माता-पिता में से किसी के प्रति कृतज्ञता के आभार का ऋण चुकाना

असम्भव है। यदि वह उनके प्रति कृतघ्न होता, तो वह एक ऐसा जघन्य पाप कर रहा होगा जिसका कोई प्रायश्चित्त नहीं है।

शास्त्र तो पुत्र के अपने माता-पिता के प्रति कर्तव्यों की बात करते हैं। जब उसके माता-पिता जीवित हों, उसे उनकी बात माननी चाहिए। उनके चल बसने के पश्चात्, उनको वार्षिक श्राद्ध-तर्पण का विधिवत् अनुष्ठान करना चाहिए। कम से कम, एक बार गयाक्षेत्र में श्राद्ध करना अत्यन्त प्रशस्त माना गया है।

एक व्यक्ति किसी दूसरे शहर में रहने वाले अपने सम्बन्धी को कुछ पैसे भेजना चाहता था। इसलिए, वह डाकघर गया और उसने एक मनी-ऑर्डर फॉर्म प्राप्त किया। उसे भरकर उसने जितनी धनराशि वह अपने सम्बन्धी को भेजना चाहता था, उतनी धनराशि के साथ उपयुक्त काउंटर पर प्रस्तुत किया। उसकी वह धनराशि तो डॉकघर में ही रही, परन्तु उतनी ही धनराशि का नकद उसके सम्बन्धी को पहुँचा दिया गया।

इसी प्रकार किसी व्यक्ति के द्वारा जो कुछ श्रद्धापूर्वक विधिवत् किए गए श्राद्धकर्म में दान किया जाता है, वह ईश्वर की शक्ति से, उन लोगों तक लाभदायक रूप में पहुँच जाता है, जिनके हेतु श्राद्ध किया गया है, भले ही वे पितृलोक में हों अथवा धरती पर पुनर्जन्म पा चुके हों। और तो और, श्राद्धकर्म से कर्ता को भी लाभ मिलता है, क्योंकि उसे बहुत पुण्य मिलता है और वह पितरों का आशीर्वाद प्राप्त करता है। यदि वह श्राद्धकर्म करने से बचता है, तो वह शास्त्र-विहित कर्तव्य को त्यागने का दोषी होगा और पाप का भागी बनेगा।

माता-पिता को अपनी ओर से, अपनी सन्तान में अच्छे आचार और धार्मिकता का समावेश करने का प्रयास करना चाहिए।

2.9 कृतज्ञता

एक व्यक्ति ने एक धनी व्यापारी के विरुद्ध उसे ठगने का तथा असावधानी के कारण, अपने अधीनस्थ लोगों को चोट पहुँचाने का आरोप लेकर, न्यायालय में आपराधिक कार्यवाही करने की धमकी दी। धनिक व्याकुल हो गया और उसने इस समस्या पर न्याय की प्रक्रिया को समझनेवाले अपने एक मित्र से गम्भीरतापूर्वक चर्चा की। उस मित्र ने उससे कहा कि वह बड़े सङ्कट में पड़ने वाला है। उसने धनिक को यह परामर्श दिया कि वह तत्काल किसी श्रेष्ठ न्यायवादी को उस कार्य में लगाए; उसने एक न्यायवादी के नाम का परामर्श भी दिया। उस धनिक ने तुरन्त उस न्यायवादी को फ़ोन किया और उससे मिलने का समय माँगा। उसने संक्षेप में अपनी समस्या के विषय में भी बता दिया। उस न्यायवादी ने उसे बताया कि वह दो दिन बाद छुट्टी पर बाहर जाने वाला है और इसलिए, इस अभियोग को नहीं देख पाएगा। धनिक ने बहुत आग्रह किया। तथापि, न्यायवादी अपने निश्चय पर दृढ़ ही रहा।

उसी सन्ध्या, न्यायवादी उस धनिक को अपने घर पर प्रतीक्षारत पाकर आश्चर्यचकित हो गया। उस सम्भाव्य पक्षकार ने इतना आग्रह किया कि अन्ततः, उस न्यायवादी ने उससे कहा, “आप अभियोग का विवरण कल प्रातःकाल मेरे कार्यालय में भेज दीजिए। मैं कागजों को पढ़ूँगा और फ़िर अभियोग को स्वीकार अथवा अस्वीकार करने के अपने निर्णय के बारे में आपको फ़ोन पर बताऊँगा।” अगले प्रातः जब न्यायवादी अपने कार्यालय पहुँचा, तो वहाँ उसने उस धनी व्यक्ति को स्वयं ही उपस्थित पाया। समस्या के विवरण को सुनने और यथोचित प्रलेखों को पढ़ने के बाद, न्यायवादी ने कहा, “आपका पक्ष बहुत दुर्बल है। आपके बचाव के लिए बहुत तैयारी और पढ़ने की आवश्यकता है। मुझ पर समय का बहुत दबाव है और कल छुट्टी पर निकलने की योजना भी है। इसलिए, मैं परामर्श देता हूँ कि आप किसी अन्य न्यायवादी से सम्पर्क करें।” “कृपया मुझे मना न करें,” धनवान व्यक्ति ने अनुरोध किया, “मैं आपके पास सङ्कट में सहायता माँगने आया हूँ जैसे विभीषण भगवान राम के पास गए थे। मैं आप पर विश्वास कर रहा हूँ। कृपया मुझे निराश न करें। इस अभियोग से सम्बन्धित आपका शुल्क

और अन्य खर्च कितना भी हो, पर चिन्ता नहीं; मैं भुगतान करने के लिए सिद्ध हूँ। पैसा तो कोई मापदण्ड नहीं है।" उस व्यक्ति की विनती से प्रभावित होकर न्यायवादी ने अपनी छुट्टियाँ निरस्त कर दीं और उस व्यक्ति का अभियोग स्वीकार कर लिया।

शीघ्र ही, उस धनी व्यक्ति को बँदी बना दिए जाने का अधिकारपत्र निकल गया। उसने तुरन्त अपने न्यायवादी को फ़ोन किया और सिसकते हुए रुक-रुककर बोलने लगा, "मेरी सहायता कीजिए! यदि मुझे कारागृह में चौबीस घंटे भी बिताने पड़े, तो मैं क्लेश से मर जाऊँगा।" न्यायवादी ने प्रभावपूर्ण ढंग से अभियोग पक्ष के द्वारा उसे छोड़े जाने के विरुद्ध उठाए गए बिन्दुओं का खण्डन किया और न्यायाधीश महोदय को उस व्यक्ति को प्रतिभूति देने के लिए मनवा लिया। उसके छूटने के बाद, उस व्यक्ति के मित्र ने उससे कहा कि वह न्यायवादी बहुत प्रभावशाली है। तथापि, वह धनी विशेष रूप से कृतज्ञ नहीं था और उसने कहा, "वैसे तो सम्भवतः, मुझे प्रतिभूति पर बाहर निकालना एक सरल कार्य था।"

शीघ्र ही, मुख्य अभियोग सुनवाई के लिए प्रस्तुत किया गया। न्यायवादी ने बचाव कार्य बड़े ही प्रतिभाशाली ढंग से किया। इसके अतिरिक्त, अभियोजन पक्ष के लिए अज्ञात कारणों से, उसका मुख्य साक्षी पुलिस को बताई गई बातों से पीछे हट गया। अतः, उस धनिक को मुक्त कर दिया गया। उसने केवल यूँ ही अपने न्यायवादी को धन्यवाद दिया और, उल्लास से भरपूर, आनन्द लेने के लिए बाहर चला गया। उस सायंकाल, जब वह अपने घर में आराम कर रहा था, उसके सेवक ने फ़ोन उठाया और उसे बताया कि उसका न्यायवादी उससे बात करना चाहता है। हालाँकि, उसने अपने सेवक से यह बताने के लिए कहा कि वह बाहर गया है। न्यायवादी ने उसे वापस फ़ोन करने के लिए एक सन्देश छोड़ दिया। मगर उस धनी व्यक्ति ने न्यायवादी से सम्पर्क करने का कष्ट नहीं उठाया। इसके बदले, अगले दिन वह एक महीने लम्बी छुट्टी पर चला गया।

जब वह वापस लौटा, तो उसे न्यायवादी की ओर से बिल मिला। उसने अपने सचिव को बुलाकर उससे कहा कि वह न्यायवादी से मिले और किसी

भी तरह से जितना सम्भव हो सके शुल्क कम करवाए। सचिव ने जैसा कहा था वैसा ही किया। सचिव की सौदेबाजी से जुगुप्सित न्यायवादी ने कहा, "मैं उससे जुगुप्सित हूँ। मुझे कभी भी उसका अभियोग नहीं लेना चाहिए था। वह जितना चाहता है, भुगतान करे अथवा कुछ भी न दे।" उस धनिक व्यक्ति ने तब जो भुगतान करना था, उसका लगभग 50 प्रतिशत ही भुगतान किया।

उसके मित्र ने, जिसने उसे न्यायवादी के नाम का परामर्श दिया था, उससे कहा, "इससे पहले, तुमने उनके घर और कार्यालय में प्रतीक्षा की और उनसे अपनी सहायता करने का अनुरोध किया। तुमने तो यहाँ तक कह दिया कि मैं आपसे सहायता माँगने आया हूँ, जैसे विभीषण राम के पास गए थे। फ़िर भी, अभियोग जीत जाने पर, तुम न केवल उससे मिलने नहीं गए, अपितु उससे फ़ोन पर बात करने से भी बचते रहे। तुमने पहले कहा था कि धनराशि कोई मापदण्ड नहीं है। अब तुम तुम्हें मिले साधारण बिल का भुगतान करने को भी उद्यत नहीं हो। क्या तुम्हें स्वयं पर लज्जा नहीं आती?" वह धनी व्यक्ति ने उदासीनता से उत्तर दिया, "इसमें मेरे लिए लज्जित होने की कोई बात नहीं है। वास्तव में, मेरे विरुद्ध अभियोग निर्बल था। उस न्यायवादी की भूमिका महत्त्वहीन थी। अतः, मैं उसे इतना अधिक भुगतान क्यों करूं? यहाँ इस अवसर पर विभीषण और राम का सन्दर्भ मत लाओ क्योंकि राम ने विभीषण को सुरक्षा प्रदान करने के लिए, कोई बिल तो प्रस्तुत नहीं किया था। पैसे के अपने लालच के कारण ही इस न्यायवादी ने अपनी छुट्टी रद्द कर दी और मेरा अभियोग अपने हाथ में ले लिया। उसने मुझ पर कोई उपकार नहीं किया है।"

ऐसे भी लोग हैं जो भगवान से भी वैसे ही व्यवहार करते हैं जैसे उस धनी व्यक्ति ने न्यायवादी के प्रति किया।

एक बार, एक ग्रामीण अपने गाँव से कुछ दूरी पर स्थित एक ताड़ के पेड़ की चोटी पर चढ़ गया था, जब उसने एक बाघ की गड़गड़ाहट सुनी। फ़िर उसने देखा कि बाघ पेड़ के तल तक आकर, वहाँ बैठा है और ऊपर देख रहा है। वह पेड़ पर बहुत असहज अनुभव कर रहा था और जानता था कि वह वहाँ

अधिक समय तक नहीं रह सकता। इसलिए, बाघ को भगाने के प्रयास में, उसने अपना हाथ लहराया और उस पर चिल्लाया। उत्तर में बाघ गुर्राया।

प्राण के भय से, उस व्यक्ति ने अपने इष्ट-देवता से प्रार्थना की, "हे देवी, अगर मैं इस सङ्कट से उबरकर सुरक्षित घर पहुँच जाऊँ, तो मैं आपके लिए एक बकरी की बलि दूँगा। मैं असहायक हूँ।" इसके बाद, उस व्यक्ति ने बाघ को धीरे-धीरे उठते और उससे दूर जाते देखा। कुछ साहस जुटाकर वह थोड़ा नीचे उतरा। उसने फ़िर से नीचे देखा और पाया कि बाघ पास में नहीं था और सतत दूर जा रहा था। उसका भय उतर गया। उसने सोचा, "बलिदान के लिए एक बकरा क्रय करने के लिए मुझे सैकड़ों रुपये ख़र्च करने पड़ेंगे। लोग देवी को न केवल बकरियाँ, अपितु मुर्गियाँ भी, चढ़ाते हैं। एक बकरी की तुलना में एक मुर्गी बहुत सस्ती है। तो, क्यों न मैं एक मुर्गी चढ़ाऊँ?" इसलिए, उन्होंने मानसिक रूप से देवी को बताया, "देवी, मैं आपको एक बकरी के बदले, एक मुर्गी चढ़ाऊँगा।" फ़िर वह और उतरने लगा।

जब उसका उतरना आधे से अधिक पूरा हो गया, तो उसने चारों ओर देखा और पाया कि बाघ दिखाई नहीं दे रहा था। उसका भय और भी कम हो गया। उसने सोचा, "मुर्गी भी महंगी होती है। तो क्यों न मैं एक और प्राणी की बलि दे दूं जो कुछ मात्रा में मुर्गी के आकार का हो?" परिणामस्वरूप, उसने देवी से कहा कि वह एक बड़े चूहे की बलि दे देगा। वह शीघ्र ही धरती पर पहुँच गया। उसने इधर-उधर देखा और पाया कि बाघ कहीं नहीं है।

अब उसने सोचा, "यह सत्य है कि एक बड़े चूहे को फन्दे में फँसाकर उसका वध करने में मेरा कुछ व्यय होने वाला नहीं है। फ़िर भी, एक बड़े चूहे को पकड़ना कठिन है। देवी ने मेरा जीवन बचाया है। मेरी प्रार्थना को सुनने के बदले में, मुझे उन्हें एक जीवन की बलि देनी चाहिए। यह आवश्यक नहीं है कि मैं एक बड़ा चूहा ही दूँ; किसी भी जीव से काम चल जाएगा।" इस प्रकार निश्चय करते हुए, उसने एक छोटे से केकड़े को उठाया जोकि धरती पर पड़ा था और उसे कुचल दिया। वह सन्तुष्ट था कि उसने देवी से अपना वचन पूरा कर लिया है; उसने जो किया था, उससे बहुत प्रसन्न होकर, सुरक्षित होने के सन्तोष से, वह घर चला गया।

सङ्कट में होने पर लोग प्रायः मानवीय अथवा दैवीय सहायता माँगते हैं। कठिनाई के दूर होने पर, लाभ पहुँचाने वाले की अनदेखी करने या उसे भूल जाने की प्रवृत्ति अनुचित है और इस भावना का प्रतिरोध करना चाहिए। कृतघ्नता एक पाप है, जिसका कोई प्रायश्चित्त नहीं है। एक सच्चे भक्त का मन भगवान पर केन्द्रित रहता है, चाहे सब कुछ ठीक हो अथवा वह गम्भीर समस्या में पड़ गया हो। भागवत-पुराण में कहा गया है — कुन्ती ने भगवान कृष्ण से इस सीमा तक अनुरोध किया, "हे जगद्गुरो, विपत्तियाँ सदैव हम पर पड़ती रहें, क्योंकि जब जब आप हमारी सहायता के लिए आते रहेंगे, तब तब हम आपका जन्म-मृत्यु चक्र से मुक्ति प्रदान करने वाला यह अमोघ दर्शन प्राप्त करेंगे।" रामायण में कहा गया है — "अपने आत्म-संयम के नाते, राम अपने साथ किए गए सैकड़ों अपकारों को नहीं स्मरण करते, परन्तु किसी के द्वारा अपने पर किए गए एक ही उपकार से तृप्त हो जाते हैं।"

2.10 दानपुण्य के लाभ

लोग सोचते हैं कि धन से उन्हें बहुत सुख मिलेगा और उनकी मनोकामनाओं की पूर्ति होगी। धन के लिए, व्यक्ति अनुचित कर्म करने की सीमा तक चला जाता है। जो सरकार को देना है, उसे देने में उसका मन नहीं लगता। अतः, उसके लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह झूठा लेखापत्र बनाए। पकड़े जाने पर, वह अपने आप को बचाने के लिए घूस देता है। उसे ऐसा लगता है कि किसी न किसी प्रकार से अधिक से अधिक पैसे सञ्चित कर लेना चाहिए। परन्तु, बाद में यह समस्या खड़ी हो जाती है कि वह उसे कहाँ रखे। यदि वह उस धन को बैंक में जमा करता है, तो कर की समस्या होगी। इसलिए, उसे उस धन को पेटी में रखना पड़ेगा, उसे तालाबन्द करना पड़ेगा और यह सुनिश्चित करना पड़ेगा कि वह पेटी सुरक्षित स्थान पर रखी जाए।

सन्ध्यावन्दन करते समय भी उस पेटी का विचार उसके मन में आता रहता है। जब वह भगवान की पूजा करने बैठता है, फ़िर से उस पेटी का विचार उसके मन में आ जाता है। वह आख़िर इस विचार से कब मुक्त हो पाता है? केवल उसी दिन जब वह अन्तिम साँस लेता है और दूसरे लोक की यात्रा प्रारम्भ करता है। उसका उत्साहपूर्वक संरक्षित धन, बिना उसकी जानकारी के, पूरी तरह से औरों के हाथ में चला जाता है।

ऐसा व्यक्ति यही चाहता है कि वह मृत्यु के बाद अपना धन लेकर दूसरे लोक में चला जाए। उसने सोचा होगा, "मैंने किसी न किसी प्रकार धन कमाया है और अब तक अपने पास सुरक्षित रखा है। यहाँ तक कि मरने के बाद भी मैं इससे अलग नहीं होना चाहता। यदि सम्भव हो, तो मैं इसे अपने सिर पर रखना चाहता हूँ और अपने साथ ले जाना चाहता हूँ।" ऐसे व्यक्ति के लिए, नीलकण्ठ दीक्षित ने विनोदपूर्ण, परन्तु मूल्यवान, परामर्श दिया है। उन्होंने कहा है, "यदि आप मृत्यु के बाद अपना धन अपने साथ ले जाना चाहते हैं, तो उसे अपने जीते ही किसी अच्छे और योग्य व्यक्ति को दान कर दें। ऐसा करने पर क्या होगा? वह धन पुण्य में परिवर्तित हो जाएगा। भले ही मृत्यु के बाद आपका सिर हो या न हो, यह निश्चित है कि धन पुण्य के रूप में आपका साथ देगा।"

शास्त्र तो लालच के प्रतिरोधी औषधि के रूप में योग्य व्यक्ति को उपहार देने का विधान करते हैं। अतः, दान दूसरों को सुख देने के साथ-साथ, दाता के आध्यात्मिक कल्याण में बहुत सहायक होता है। कुछ धन खोने वाला व्यक्ति दुःखी लगता है। परन्तु, जब वह स्वेच्छापूर्वक उतना ही धन अपने परीक्षा-शुल्क भरने की स्थिति में असमर्थ किसी निर्धन छात्र को देता है, तो वह प्रसन्न हो जाता है, न कि दुःखी। इस प्रकार, दान, न केवल प्राप्त करने वाले को किन्तु दाता को भी, मुदित कर सकता है।

2.11 क्षमता के अनुरूप दान

एक व्यक्ति को किसी मुनि ने प्रतिदिन एक शाक दान करने का उपदेश दिया और कहा कि ऐसा करने से उसे महान पुण्य प्राप्त होगा। उस निर्धन व्यक्ति ने सख्ती से इस उपदेश का पालन किया। मृत्यु के बाद, उसने एक राजपरिवार में जन्म लिया और बड़ा होकर राजा बन गया। वह अपने पिछले जन्म में किए गए कार्यों को स्मरण करने में सक्षम था। अतः, वह प्रतिदिन एक शाक का दान करता रहा। आश्चर्य की बात है कि मृत्यु के बाद, उसका पुनर्जन्म भिखारी के रूप में हो गया। वह व्यक्ति इसका कारण समझने में असमर्थ था; इसलिए उसने उस मुनि से परामर्श माँगा जिन्होंने पहले उसे आशीर्वाद दिया था।
मुनि से उसे यह पता चला कि राजा बनने के पिछले जन्म में वह बहुत निर्धन था और इसलिए, प्रतिदिन एक शाक का दान उसे बहुत पुण्य देने के लिए पर्याप्त था। दूसरी ओर, अब एक राजा होते हुए, वह समृद्धि से सम्पन्न था। इसलिए, प्रतिदिन केवल एक शाक का दान उसे महत्त्वपूर्ण पुण्य अर्जित कराने के लिए सर्वथा अपर्याप्त था।

उस व्यक्ति को यह अवगत हुआ कि किसी विशेष मात्रा में पुण्य की प्राप्ति हेतु आवश्यक दान की राशि, किसी व्यक्ति की दान करने की आर्थिक क्षमता पर निर्भर करती है।

2.12 भगवान राम और धर्म की गहराई

शास्त्र घोषित करते हैं कि माता-पिता की आज्ञा का पालन करना चाहिए। तथापि कभी-कभी एक उलझन भरी परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है जब माता और पिता के निर्देश परस्पर विरुद्ध होते हैं। तब पिता की आज्ञा का पालन माता के विरोध और माता की आज्ञा का पालन पिता के विरोध में परिणत होता है। भगवान राम को स्वयं ऐसी परिस्थिति का सामना करना पड़ा था। जिस तरह से उन्होंने धार्मिक सङ्कट को हल किया, वह शिक्षाप्रद है।

यह जानकर कि दशरथ ने राम के यौवराज्याभिषेक का आयोजन कर लिया है, कैकेयी की दासी मन्थरा ने रानी के मन में राम के विरुद्ध विष भर दिया। तो जब दशरथ कैकेयी से मिलने गए, तब कैकेयी ने उनसे ऐसा विधिवत् वचन देने को कहा, जिसके अनुसार वे उनकी उत्कट इच्छा को पूर्ण करते। बात को न भाँपकर सम्राट मान गए। कैकेयी ने तब देवताओं का आह्वान किया ताकि वे उनके पति के वचनबद्ध होने के साक्षी बन सकें। पहले किसी अवसर पर दिए गए दो वरदानों का स्मरण दिलाकर, उन्होंने यह माँग रखी कि भरत को युवराज बनाया जाए और राम को चौदह वर्ष के लिए वनवास के लिए भेज दिया जाए। इससे स्तम्भित होकर, दशरथ उनसे अपना मन बदलने के लिए गिड़गिड़ाए और यहाँ तक कि उनके पैरों में भी गिर गए। परन्तु, कैकेयी ने अपना मन बदलने से मना कर दिया। यद्यपि दशरथ राम से अत्यन्त प्रेम करते थे, तथापि वचन के पक्के होने के कारण, वे कैकेयी की माँग को अस्वीकार करने में असमर्थ थे।

जब राम अपने पिता के कक्ष में गए, तब उन्होंने देखा कि महाराज शोकसन्तप्त हैं। जब उन्होंने कारण जानना चाहा, तब कैकेयी ने उन्हें सम्राट के वचन और जो वर उन्होंने महाराज से माँगे थे, उसके बारे में बताया। राम ने उन्हें आश्वासन दिया कि वे निश्चय ही वन जाएँगे और चौदह वर्ष वहीं बिताएँगे। उन्होंने कहा कि यदि वह आज्ञा कैकेयी द्वारा भी दी गई होती, तो वे ससन्तोष भरत को राज्यपद देकर वन चले जाते। राम ने कहा, "भरत को यह पद और भी प्रसन्नतापूर्वक दे दूँगा, क्योंकि यह आज्ञा मेरे पिता द्वारा दी गई है, तत्रापि आपको प्रसन्न करने के लिए एवं आपको दिए गए वचन की मर्यादा को बनाए रखने के लिए दी गई है।" राम आगे बोले कि ऐसे में, उन्हें दुःख हुआ क्योंकि भरत के पट्टाभिषेक के बारे में उनसे व्यक्तिगत रूप से कहने के बदले, महाराज भूमि पर दृष्टि गड़ाए हुए आँसू बहाते रहे। उन्होंने कैकेयी से कहा कि माँ होने के नाते, उनका राम पर उनके पिता से अधिक अधिकार था। उन्होंने यह मान लिया कि कैकेयी ने राम में कोई सद्गुण नहीं देखा, और इसी कारण, राम को अपने आप आज्ञा न देकर, उनके पिता के पास जाना उन्हें आवश्यक लगा। उन्होंने कैकेयी को आश्वासन दिया कि वह कौसल्या माता से विदा लेने के बाद, उसी दिन वन चले जाएँगे।

तब राम अपनी माता कौसल्या से मिलने के लिए आगे बढ़े। वे उस समय प्रातःकालीन पूजार्चना में व्यस्त थीं। उन्हें देखकर कौसल्या ने अपने गले से लगा लिया। यथासम्भव नरमी से, राम ने माता को घटी घटनाओं के बारे में बताया। परन्तु वे तुरन्त मूर्च्छित होकर गिर पड़ीं। जब उनकी चेतना लौटी, उन्होंने इन घटनाओं पर अपना रोष व्यक्त किया। उन्होंने राम से कहा, "जैसे तुम्हारे पिता तुम्हारे लिए पूज्य हैं, वैसे ही मैं, तुम्हारी माँ, भी। और तो और, मैं परिश्रमपूर्वक माता के रूप में अपने कर्तव्यों का निर्वहन करती रही हूँ और मुझे तुमसे बहुत प्रेम है। तुम्हें वन नहीं जाना चाहिए। मैं तुम्हें विदाई देने से अस्वीकार करती हूँ। यहीं रहो और मेरी सेवा करते हुए धर्माचरण करो। माता की सेवा सर्वश्रेष्ठ पुण्यप्रद मानी गई है।

"कश्यप ऋषि का एक पुत्र, अपनी माता की सेवा में लगा हुआ, घर पर रहा। परिणामस्वरूप, उस अनुशासन-बद्ध तपस्वी ने मृत्यु के पश्चात्, स्वर्गलोक जाकर, सृष्टि के प्रभु, प्रजापति के पद प्राप्त कर लिया। इस उदाहरण का अनुकरण करो। तुम्हारे साथ बिताए गए एक घंटे का समय भी मेरे लिए सारे प्राणियों पर आधिपत्य से बढ़कर है। वहीं दूसरी ओर, यदि तुम मुझे छोड़ कर चले जाते हो, तो मैं असह्य दुःख में पड़ जाऊँगी। वास्तव में, मैं आमरण अनशन का व्रत ले लूँगी। यदि तुम गए, मेरे कष्ट और मृत्यु का उत्तरदायित्व तुम पर होगा और तुम्हें बड़ा भारी पाप लगेगा। समुद्र ने अपनी माता को कष्ट दिया। इस कारण, उसे नारकीय यातनाएँ भोगनी पड़ीं। उसके मार्ग पर मत जाओ।" चूँकि कौसल्या ने स्पष्टतः राम को वन में जाने से मना किया था, भगवान राम अपनी माता और पिता के विरोधी आज्ञाओं से जूझने को विवश हो गए थे।

राम ने कौसल्या से कहा कि दशरथ ने कैकेयी को दो वर लेने को कहा था व इसलिए उन्हें वे दो वर देने पड़े। यद्यपि जो कैकेयी ने दशरथ से कहा, उसने उन्हें बहुत भारी आघात पहुँचाया, और यद्यपि वे राम से बहुत प्रेम करते थे, तथापि ऐसा इसलिए था कि वे उस सत्य के अडिग रक्षक थे, जिस कारण वे चुपचाप कैकेयी के प्रति सहमत हुए थे। इस प्रकार, दशरथ का कृत्य धर्मानुकूल था।

पुत्र तो अपने पिता की आज्ञा के पालन हेतु बाध्य था। ऐसे भी उदाहरण हैं जब महान लोगों ने अपने पिता के निर्देश के अनुरूप ही कार्य किया, जब वे

निर्देश अनुचित थे। उदाहरणार्थ, कण्डु ऋषि ने अपने पिता के कहने पर, उनके प्रति आदर रखते हुए, एक गाय की हत्या कर दी थी, जबकि वे यह जानते थे कि यह एक महान पाप होगा। इसी प्रकार, पिता जमदग्नि की बात रखने के लिए, परशुराम ने अपनी ही माता रेणुका का वध कर दिया था, जो कि राजा चित्ररथ को देखकर कामुक विचारों में पड़ गई थीं। वर्तमान स्थिति में, दशरथ का आदेश तो धर्मसंगत था और इसलिए, एक पुत्र के रूप में आज्ञापालन करने के लिए, यह एक और अतिरिक्त कारण था।

आगे बढ़ते हुए राम ने कौसल्या को समझाया कि उनका निर्देश सही नहीं था। दशरथ की पत्नी के रूप में उन्हें धर्ममार्ग पर सदैव अपने पति का साथ देते रहना चाहिए। यह उनके लिए अनुचित था कि वे अपने पति की धर्मपरायणता में अड़चन डालें। और तो और, दशरथ एक सम्राट थे। उनकी आज्ञा का पालन करना उनकी प्रजा का कर्तव्य था। इसलिए, उनके निर्देशों का न केवल उनके द्वारा, किन्तु कौसल्या के द्वारा भी सम्मान किया ही जाना चाहिए था।

इस प्रकार, राम ने बताया कि उनके पिता की आज्ञा धर्मानुसार ही थी, प्रत्युत माता की आज्ञा धर्मानुसार नहीं थी, और उस वर्तमान स्थिति में, उनके लिए सही मार्ग यही था कि वे अपने पिता की आज्ञा का पालन करें और वन में चले जाएँ। उन्होंने कौसल्या से अपने लौटने की प्रतीक्षा करने के लिए कहा। राम के स्पष्टीकरण को सुनकर, कौसल्या उनकी बात मान गईं। हालाँकि, वे भी राम के साथ वन में जाना चाहती थीं। राम ने उनसे कहा कि यह उनके लिए ठीक नहीं है कि वे अपने धर्मात्मा और वृद्ध पति का अपमान करके अपने बेटे के साथ रहें। और तो और, दशरथ पहले ही राम के आसन्न प्रस्थान के कारण बहुत पीड़ित थे और कैकेयी द्वारा दिए गए विश्वासघात से बहुत दुःखी थे। कौसल्या के लिए यह पूर्णतः क्रूर कार्य होगा कि वे राजा दशरथ को ऐसी अवस्था में छोड़ दें, क्योंकि उनका दुःख उनकी सहन शक्ति की सीमा से बहुत अधिक हो जाएगा।

कौसल्या ने राम के कथन की प्रशंसा की और उन्हें अपना पूरा आशीर्वाद दिया। उन्होंने कहा, "मेरे पुत्र, अविचल मन से प्रस्थान करो। धर्म, जिसका तुम निष्ठापूर्वक पालन करते हो, तुम्हारी रक्षा करे। अपनी सत्यशीलता से

रक्षित होकर तुम दीर्घायुष्मान रहो। और अपने पिता तथा माता की तुम्हारे द्वारा की गई सेवा के नाते, वन में घूमते समय देवतागण सदैव तुम्हें सुख प्रदान करें। मैं सानन्द तुम्हारे अयोध्या वापसी की प्रतीक्षा करूँगी।" अपनी माता का आशीर्वाद पाकर राम ने उन्हें दण्डवत् प्रणाम किया और उनसे विदा ली।

अहिंसा अत्यन्त प्रशस्त है। यह परामर्श दिया जाता है कि जो अपना विरोधी है, उसे भी हानि नहीं पहुँचानी चाहिए। स्पष्टतः, उसे किसी ऐसे व्यक्ति को चोट नहीं पहुँचानी चाहिए जो उसके प्रति कोई दुर्भावना न रखता हो। क्या इसका यह तात्पर्य है कि किसी बलवान व्यक्ति को निर्दोष और असुरक्षित लोगों पर पापी लोगों द्वारा की जा रही हिंसा का मूकदर्शक बने रहना चाहिए? राम को इस तरह के प्रश्न से निपटना पड़ा।

राम के अयोध्या से वन जाने के बाद, एक अवसर पर वे शरभङ्ग मुनि के आश्रम पहुँचे। मुनि ने उनका आदर सत्कार किया और फ़िर, ब्रह्मलोक चले गए। मुनिगण वहाँ एकत्र हुए और राम के पास पहुँचे। उन्होंने उनसे कहा कि राक्षस उनके अनुष्ठानों में विघ्न डाल रहे हैं और उनमें से बहुत मुनियों का वध भी कर रहे हैं। वे आत्मरक्षार्थ उन राक्षसों को शाप नहीं देना चाहते थे, क्योंकि इससे उनकी तपश्शक्ति व्यर्थ हो जाएगी। उन्होंने राम से विनती की कि वे उनकी उत्पीड़क राक्षसों से रक्षा करें। राम ने उनसे कहा कि उन्हें आज्ञा देनी चाहिए, न कि उनसे प्रार्थना करनी चाहिए। राम ने उन्हें आश्वस्त किया कि वे हिंसक राक्षसों का वध करेंगे।

उसके बाद, शरभङ्ग मुनि के पूर्वपरामर्शानुसार, राम सुतीक्ष्ण मुनि के आश्रम गए और वहाँ रात बिताई। फ़िर राम, सीता और लक्ष्मण दण्डकारण्य की ओर गए। सीता ने राम के राक्षसवध के निर्णय के बारे में अपनी शङ्का व्यक्त की। उन्होंने राम से कहा कि यह एक पुरुष के लिए घोर अपराध होगा कि वह उस व्यक्ति के प्रति क्रूर हो जो उससे कोई वैर न रखता हो। उन्होंने कहा कि राक्षसों ने उनका कुछ भी नहीं बिगाड़ा है और इसलिए, राम द्वारा उन पर आक्रमण न्यायसंगत नहीं है। और, शस्त्रों का प्रयोग वन्यजीवन के लिए संगत नहीं है। यदि वे चाहते, तो योद्धा के रूप में अपनी भूमिका को अयोध्या लौटने पर निभा सकते हैं।

सीता जी ने उनसे कहा कि उनके शस्त्र उठाने से, यह सम्भव है कि उनका दुरुपयोग हो जाए। उन्होंने एक सत्यवादी और पवित्र मुनि की कथा सुनाई जो वन में रहते थे। इन्द्र तो उन ऋषि की तपस्या में बाधा डालना चाहते थे। इसलिए, उन्होंने एक खड्ग-धारी योद्धा का वेष धारण कर लिया। वह योद्धा मुनि के पास आया और, अपने खड्ग मुनि के पास निक्षेप रखते हुए, उनसे प्रार्थना की कि वे इसका ध्यान रखें। वह योद्धा तब चला गया। मुनि को लगा कि यह उनका कर्तव्य है कि वे उस खड्ग का ध्यान रखें और दृष्टि बनाए रखें कि कहीं खड्ग चोरी न हो जाए। इसलिए, उन्होंने इसे अपने साथ — यहाँ तक कि जब वे फूल तोड़ने जाते थे, तब भी — रखना प्रारम्भ कर दिया। धीरे-धीरे, वे क्रूर हो गए और अपनी तपस्या से विमुख हो गए। अपनी क्रूरता के फलस्वरूप, वे नरक में गए।

सीता ने बल देकर कहा कि राम धर्म को इतने अच्छे प्रकार से जानते हैं कि कोई भी उन्हें सिखाने की योग्यता नहीं रखता। सीता द्वारा राम को उच्च सम्मान के पद पर मानने के कारण, वे राम को निर्देश देने का कोई प्रयास भी नहीं कर रही थीं। हालाँकि, उनके प्रति अपने अत्यधिक प्रेम के कारण, वे नहीं चाहती थीं कि राम कभी कोई त्रुटि करें। इसलिए वे उन्हें उस धर्म का स्मरण करा रही थीं, जिसे वे पहले से ही जानते थे।

राम ने सीता के चिन्ता की प्रशंसा की। उन्होंने उनसे कहा कि कष्ट में पड़े लोगों की रक्षा करना क्षत्रिय का धर्म है और इसी कारण से क्षत्रियों ने शस्त्रधारण किया है। राक्षसों द्वारा निर्दोष मुनियों को कष्ट पहुँचाया जा रहा है और उनको मारा जा रहा है। इसलिए, यह उनका कर्तव्य है कि राक्षसों से युद्ध करके मुनियों की रक्षा की जाए। इसके अतिरिक्त, उन मुनियों ने राम से रक्षा का आश्रय माँगा था। यह उनके लिए अत्यावश्यक था कि वे उन्हें आश्रय प्रदान करें जो उनसे शरण माँगें। साथ ही, मुनिगण की प्रार्थना के प्रत्युत्तर में, उन्होंने उन्हें पूरा संरक्षण प्रदान करने का वचन दिया था। चूँकि सत्य उन्हें बहुत प्रिय है, तो वे अपने जीवन को त्याग सकते हैं, परन्तु वचन को नहीं, तत्रापि विशेष रूप से जोकि पवित्र ऋषियों को दिया गया हो। राम के स्पष्टीकरण को सुनकर, सीता की आशङ्काएँ दूर हो गईं।

इसी प्रकरण से सम्बन्धित है वाली के वध की घटना। रावण द्वारा अपहरण की गई सीता के अन्वेषण के समय, राम और लक्ष्मण कबन्ध नामक एक राक्षस से मिले। कबन्ध से उन्हें यह पता चला कि सीता को पाने के लिए, उन्हें पहले वानरयूथपति और पम्पा-सरोवर से सुशोभित ऋष्यमूक पर्वत पर रहने वाले सुग्रीव से मिलना चाहिए। इसलिए, दोनों भाई वहाँ गए। वे हनुमान जी से मिले, जिन्होंने उनके बारे में पूछताछ की। उन्होंने तब राम और लक्ष्मण के आगमन का समाचार सुग्रीव को दिया। सुग्रीव प्रसन्नता से उनके समीप गए और उन्होंने अपनी मित्रता का हाथ राम की ओर बढ़ाया। राम और सुग्रीव ने अपनी मित्रता के बन्धन को अग्नि के साक्षित्व में विधिवत् सम्पादित किया। सुग्रीव ने शोक प्रकट किया कि वह अपने भाई वाली के कारण बहुत कष्ट झेल रहा है। उन्होंने बताया कि जब उनके पिताजी का स्वर्गवास हुआ, तब वीर वाली का राज्याभिषेक किया गया। उसके पश्चात्, सुग्रीव वाली के साथ रहा और अपने भाई का आदर और उनकी आज्ञा का पालन करता रहा।

एक रात, मायावी नाम का एक दानव नगर के बाहर आ गया और वाली को युद्ध के लिए ललकारने लगा। वाली तुरन्त सुग्रीव के साथ बाहर आए। मायावी ने जब देखा कि दोनों भाई निडरता से साथ-साथ खड़े हैं, तब वह भाग खड़ा हुआ। वाली और सुग्रीव ने उसका पीछा किया। कुछ समय के बाद, मायावी धरती की एक गुफा में घुस गया। वाली ने उसके पीछे जाने का निश्चय किया। सुग्रीव उनके साथ जाना चाहते थे, परन्तु उन्होंने अपने भाई द्वारा यह आदेश पाया कि छिद्र के द्वार पर उनके वापस आने तक रक्षक बनकर खड़े रहें । वाली अन्दर गए और सुग्रीव ने अपने भाई के दहाड़ने की ध्वनि सुनी। उन्होंने वहाँ पूरे एक वर्ष तक प्रतीक्षा की परन्तु वाली बाहर नहीं आए। सुग्रीव ने तब रक्त की धारा बाहर निकलती हुई देखी। उन्होंने उस दानव की ध्वनि तो सुनी, परन्तु अपने भाई की दहाड़ को नहीं सुना। यह मानकर कि उनके भाई मारे गए हैं, उन्होंने उस छिद्र के मुख को एक बड़ी चट्टान से बन्द कर दिया और किष्किन्धा आ गए। वहाँ, मन्त्रियों ने उनका राज्याभिषेक कर दिया।

कुछ समय बाद, सुग्रीव को प्रसन्नता हुई जब वाली लौट आए। सुग्रीव ने परिस्थिति के बारे में उन्हें समझाया और तुरन्त सिंहासन अपने भाई को लौटाने लगा। फ़िर भी, वाली सुग्रीव पर बहुत रुष्ट थे और उन्होंने सुग्रीव पर विश्वासघात का आरोप लगाया। उन्होंने सुग्रीव को राजधानी से बाहर कर दिया और अपने सुख भोग के लिए उनकी पत्नी को भी बलपूर्वक हड़प लिया। सुग्रीव ऋष्यमूक पर्वत पर भाग आए, जहाँ वाली एक शाप के कारण नहीं आ सकते थे। सुग्रीव ने राम से वाली के वध करने और स्वयं को बचाने की प्रार्थना की। राम ने तुरन्त उनके प्रति अपना आश्वासन दिया। सुग्रीव ने तब राम की शक्ति का दो परीक्षाओं के माध्यम से मूल्याङ्कन किया। उसके बाद, उन्हें राम पर पूरा विश्वास हो गया।

राम ने उन्हें वाली से युद्ध करने के लिए कहा और यह भी कहा कि वे आवश्यक कार्यवाही करेंगे। फ़िर भी, जब राम ने वाली और सुग्रीव को युद्ध करते देखा, तो उन्होंने पाया कि वे इतने एक जैसे दिखते हैं कि राम सुग्रीव को पहचान ही न सके। उन्होंने वाली के वध के लिए कोई बाण नहीं छोड़ा, क्योंकि ऐसा भी हो सकता था कि जिसे वे मारते, वह सुग्रीव ही होता तो कैसा अनर्थ हो जाता। चोटिल सुग्रीव भाग खड़े हुए। राम ने उन्हें बताया कि उन्होंने कोई कदम क्यों नहीं उठाया और वाली को फ़िर से चुनौती देने को कहा। लक्ष्मण ने उनके गले में पहचान चिह्न के रूप में फूलों की एक माला पहना दी। सुग्रीव वाली के महल गए और उन्हें ललकारने लगे।

वाली तुरन्त बाहर जाने ही वाले थे जब उनकी पत्नी तारा ने उन्हें रोका। उसने वाली को बताया कि सुग्रीव इतनी बुरी तरह मार पड़ने व चोटिल होने के बाद भी, इतनी शीघ्रता से वापस आ गए हैं; इस तथ्य का निहितार्थ यह होगा कि उन्हें एक सहयोगी मिल गया है। तारा ने यह भी कहा कि गुप्तचरों ने उसके बेटे अङ्गद को बताया है कि इक्ष्वाकु वंश के दो राजकुमार, राम व लक्ष्मण, उसी प्रदेश में हैं। उसने आशङ्का जताई कि सुग्रीव ने निश्चय ही राम से सहायता माँगी होगी। उसने कहा कि उसे मिली जानकारी के अनुसार, राम वीरता में देवराज इन्द्र के समान हैं और बहुत धर्मनिष्ठ हैं। उसने वाली को परामर्श दिया कि सुग्रीव से लड़ाई छोड़कर उनसे पुनः मित्रता कर लेनी चाहिए।

वाली ने अपने पत्नी के परामर्श पर कोई ध्यान नहीं दिया और कहा कि यदि राम इतने ही धर्मात्मा हैं, तो वे उन पर किसी भी अवसर पर आक्रमण नहीं करेंगे। वे सुग्रीव से युद्ध करने हेतु अपने प्रासाद से बाहर आ गए। दोनों भाई बहुत ही घातक युद्ध में भिड़ गए। धीरे-धीरे, सुग्रीव पिछड़ने लगे और लगभग हारने ही वाले थे। उस अवसर पर, राम ने तीर चला दिया और वाली को बहुत घायल कर दिया। फ़िर भी, इन्द्र द्वारा दी गई कनक-माला के प्रभाव से — जिसे उन्होंने धारण कर रखा था — वाली तुरन्त नहीं मरे। वे मरणासन्न होकर धरती पर पड़े हुए थे।

वाली ने राम से कहा, "मैंने आपको कोई हानि नहीं पहुँचाई है, न ही मैंने आपके राज्य के प्रति कोई अपराध किया है। तो, मुझ पर प्रहार करके आपने अनुचित कार्य किया है। आप मुझ पर आक्रमण करना चाहते, तो आपको मुझे द्वन्द्वयुद्ध के लिए आमन्त्रित करना चाहिए था और मुझसे लड़ना चाहिए था। इसके विपरीत, आपने मुझे तब घायल कर दिया जब मैं किसी दूसरे से युद्ध में व्यस्त था। जैसे मैंने आपके बारे में सुन रखा था, और विश्वास भी करता था, कि आप क्षमा, धर्मपरायणता, वीरता और केवल पापियों को दण्ड देने जैसे गुणों से सम्पन्न हैं। मैंने आपके महान वंश का भी ध्यान रखा था। यही कारण है कि यद्यपि मेरी पत्नी तारा ने मुझे चेतावनी दी थी, यह जानकर मैं युद्ध करने हेतु पूरे उत्साह के साथ बाहर आ गया कि आप कभी इतना नीचे नहीं गिरेंगे कि जब मैं अपने भाई से लड़ रहा होऊँ, तब आप मुझ पर वार कर दें। अब, मुझे पता चला कि भले ही आप धार्मिक होने का दिखावा करते हैं, आप बहुत पापी हैं।

"मुझ जैसे वानर वन में रहते हैं और कन्द-मूल फल खाकर जीवन बिताते हैं, जबकि आप जैसे मनुष्य नगरों में रहते हैं और पकाया हुआ भोजन ग्रहण करते हैं। अतः, हम दोनों में वैर का क्या आधार है? मनुष्य माँस और त्वचा के लिए पशुओं का आखेट करते हैं। तथापि, क्षत्रिय को बन्दर का माँस खाने से मना किया गया है। इसके अतिरिक्त, सज्जन लोगों को बन्दर का चर्म पहनने अथवा इसकी त्वचा और हड्डियों का उपयोग करने की

अनुमति नहीं है। इसलिए, मुझे एक पशु के रूप में आखेट करने के लिए भी आपका कोई औचित्य नहीं है।

“अपनी पत्नी की प्राप्ति के लिए सुग्रीव को उपकृत करने के बदले, आप मेरे पास आ सकते थे। भले ही आपकी पत्नी को किसी द्वीप पर या धरती के नीचे बँदी बनाकर रखा गया हो, मैं उन्हें एक ही दिन में आपके पास वापस ले आता। मैं रावण को भी बाँधकर आपके पास पहुँचा देता।

“सुग्रीव के लिए यही उचित रहता कि वह सामान्य क्रम के अनुरूप, मेरी मृत्यु के बाद ही सिंहासन पर बैठता। हालाँकि, अब उसके कारण, आपने अन्यायपूर्वक मुझ पर मारक चोट पहुँचाई है। अपने कृत्य के लिए आपके पास क्या न्यायोचित तर्क है?”

राम ने वाली की आपत्तियों का विस्तृत उत्तर दिया। उन्होंने कहा, “यह क्षेत्र भी इक्ष्वाकु कुल के अधिकार प्रदेश में पड़ता है क्योंकि उनके पूर्वज मनु महाराज ने इसे उन्हें न्यायपूर्वक दिया था। यह देश वर्तमान में भरत द्वारा शासित है जो कि अत्यन्त धार्मिक हैं। वे और उनके प्रतिनिधिगण पापियों को यथान्याय दण्ड देने के प्रमुख राजधर्म के प्रति समर्पित हैं।

“धर्म के आदेश के अनुसार, छोटा भाई और गुणवान शिष्य स्वयं के पुत्र के समान होते हैं। सुग्रीव तुम्हारा छोटा भाई है। यद्यपि वह निर्दोष था, तुमने उससे अत्यन्त न्यायविरुद्ध व्यवहार किया और उसे किष्किन्धा से बाहर निकाल दिया। उसकी विवाहिता पत्नी रुमा एक प्रकार से तुम्हारी पुत्रवधू के समान है। तब भी, तुमने उस पर अधिकार जताया और कामान्ध होकर, उसके साथ सहवास करते रहे हो। अतः, तुम एक घोर अपराध के दोषी हो। मृत्यु ही वह दण्ड है जोकि उस व्यक्ति के लिए निश्चित किया गया है जो अपनी पुत्री, बहन अथवा अपने छोटे भाई की पत्नी के साथ कामान्ध होकर सम्बन्ध स्थापित करता है। एक राजन्य क्षत्रिय के रूप में, जो कि महाराज भरत का यहाँ प्रतिनिधि है, मैंने तुम्हें यही दण्ड दिया है।

“जिस समय सुग्रीव के साथ मेरी अटूट मित्रता की शपथ ली गई, मैंने अन्य वानरों की उपस्थिति में अपना वचन दिया कि मैं उसे उसकी पत्नी

और सम्प्रभुता वापस दिलाऊँगा। मेरे जैसा पुरुष कभी भी अपने वचन को असम्मानित कैसे जाने दे सकता है? यह भी मेरे तुम पर प्रहार करने का एक कारण है।

"तुमने यह आरोप लगाया था कि तुम पर तब वार किया गया जब तुम अपने भाई के साथ लड़ रहे थे। भूलना नहीं कि तुम केवल एक बन्दर हो। यह मनुष्यों की परम्परा नहीं है कि वे किसी पशु को युद्ध के लिए आमन्त्रित करें, और केवल तभी उसे मार दें। उदाहरण के लिए, एक आखेटी किसी हिरण को मार देता है, चाहे वह चौकस हो या असावधान, और चाहे वह उसका सामना करे या उससे विमुख हो। तुम्हारे एक बन्दर होने के नाते, यह अप्रासंगिक है कि तुम किसी से लड़ रहे थे या नहीं, जब तुम मेरे तीर से बेधे गए थे।

"धर्म के जानकारों द्वारा आधिकारिक के रूप में स्वीकार किए गए दो श्लोकों के माध्यम से मनु ने घोषणा की है — 'जो पुरुष पापों को बनाए रखते हैं, वे राजाओं द्वारा दण्डित किए जाने पर दोषों से मुक्त हो जाते हैं, और पुण्य कर्म करने वालों की तरह स्वर्ग आरोहण करते हैं। एक चोर या तो दण्ड द्वारा अथवा क्षमादान देकर मुक्त कर दिए जाने से, अपने पापों से पूरी तरह से मुक्त हो जाता है। परन्तु, जो राजा पापी को दण्ड नहीं देता है, वह उस मनुष्य के पाप का भागी होता है।' तुमने एक घोर पाप किया था। तुम्हें दण्ड देकर मैंने तुम्हें उस पाप से मुक्त कर दिया है। अब तुम स्वर्ग जा सकते हो।"

वाली भगवान राम के स्पष्टीकरण से पूर्णतः सन्तुष्ट थे। हाथ जोड़कर, उन्होंने राम से कहा, "आपने जो कहा है, वह पूर्णतः सही है। मेरे द्वारा भूल से कहे गए अशोभनीय और कठोर शब्दों के लिए मुझे क्षमा करें।" फ़िर उन्होंने राम से अपने युवा पुत्र अङ्गद की रक्षा करने और सुग्रीव तथा अङ्गद के बीच प्रगाढ़ सम्बन्ध स्थापित कराने की विनती की। राम ने कृपापूर्वक उनका अनुरोध स्वीकार कर लिया।

2.13 अदृश्य होते हुए भी ईश्वर का अस्तित्व है

एक लड़के ने वायु सहित हर उस वस्तु के अस्तित्व को स्वीकार करने से मना कर दिया, जो उसे दिखाई न देती हो। उसके पिता ने पेड़ के फड़फड़ाते हुए पत्तों की ओर संकेत करते हुए कहा, "वायु के कार्य को देखो, जिसे मानने से तुम मना करते हो।" "आप मुझे पत्ते दिखा रहे हैं, वायु नहीं। वायु कहाँ है?" लड़के ने प्रत्युत्तर दिया। पिता ने तुरन्त लड़के की नाक के छिद्रों और मुख को दबाकर बन्द कर दिया। श्वासरोध का अनुभव करते हुए, लड़के ने स्वयं को छुड़ाने के लिए सङ्घर्ष किया। एक मिनट के भीतर, पिता ने उसे छोड़ दिया। "आपने मेरे श्वास को रोक दिया था। इससे पीड़ा हुई," लड़के ने विरोध जताया। पिता ने पूछा, "तुम श्वास में क्या भीतर लेना चाहते थे?" "वायु," इसके अस्तित्व को स्वीकार करते हुए लड़के ने उत्तर दिया।

अप्रत्यक्षता सदैव अस्तित्वहीनता की द्योतक नहीं होती है। भगवान, वायु के समान, आँखों से नहीं देखे जा सकते हैं, परन्तु निश्चयपूर्वक उनका अस्तित्व है। यह वे हैं जो चराचर जगत् की सृष्टि, पालन और संहार करते हैं।

2.14 एक व्याकुलता में नास्तिक

एक मन्त्री — जो एक नास्तिक था परन्तु मुझमें बहुत आदरभाव रखता था — मेरे दर्शन के लिए आया। मुझसे बातचीत के समय, उसने टिप्पणी की, "हमारे पूर्वज निश्चय ही बुद्धिमान थे। बहुत पहले, लोग अपने दायित्वों का ठीक से पालन करते थे। यद्यपि उनमें से कुछ लोग दोषपूर्ण कार्य करते होंगे, सामान्य रूप से शासननियम और आदेश के परिपालन को सुनिश्चित करने के लिए बहुत बड़ी संख्या में पुलिसकर्मियों की आवश्यकता नहीं थी। कारण यह था कि लोगों को भगवान और शास्त्रों में विश्वास था। परिणामस्वरूप, उन्हें भगवान के दण्ड का भय रहता था।

“इन दिनों, मेरे जैसे लोग घोषणा करते हैं कि भगवान का अस्तित्व नहीं है और धर्म निरर्थक है। हम सोचते थे कि लोग इस प्रकार की वाक्पटुता से मोहित हो जाएँगे और हमारे द्वारा निर्देशित किए जाएँगे। तथापि, हमारी योजना का विपरीत प्रभाव पड़ा। अब लोगों को किसी का भय नहीं है और असावधानी से वे देश के नियमों का उल्लंघन करते हैं। वे नैतिकता को अत्यल्प महत्त्व देते हैं। हमने परिदृश्य से भगवान को दूर कर दिया, परन्तु अनुशासन को सुनिश्चित करने के लिए कोई उपयुक्त प्रतिस्थापन नहीं पा सके। मुझे लगता है कि पूर्वजों ने बुद्धिमानी से भगवान की परिकल्पना की और जिसकी उन्होंने कल्पना की थी, उसका प्रचार-प्रसार किया।”

जैसे देखा जा सकता है, यहाँ तक कि एक नास्तिक को भी लाभ होगा कि वह भगवान को न नकारे!

2.15 भगवान का दयापूर्ण न्याय

एक दिन, जब राम और सीता एक ऐसे स्थान पर निवास कर रहे थे जो चित्रकूट पर्वत के उत्तर-पूर्वी तल पर था और गंगा से दूर नहीं था, तब एक कौए ने सीता को चोंच मार दी। वह दुष्ट कौवा वास्तव में इन्द्र का पुत्र था। सीता ने उस पक्षी पर मिट्टी के ढेले को फेंककर उसे हटाने का प्रयास किया, परन्तु वह अक्खड़ होकर उनके पास ही रहा। कुछ समय बाद, जब राम उनकी गोद में सो रहे थे, तब उस दुष्ट पक्षी ने सीता के वक्ष पर तेज़ी से प्रहार किया। बार-बार, वह उनकी छाती पर फटा। उनके रक्त ने राम को गीला कर दिया। सीता ने राम को उठाया। उनकी चोटिल छाती को देखकर, राम ने उनसे पूछा कि इसके लिए कौन उत्तरदायी है। तब उन्होंने स्वयं उस रक्त के धब्बे से युक्त नाखूनों वाले कौवे को सीता के समक्ष उनके निकट बैठा देखा। उस पक्षी ने शीघ्र ही स्वयं को भूमि में छिपा लिया।

क्रुद्ध होकर, राम ने दर्भ में ब्रह्मास्त्र का सन्धान किया और उसे छिपे हुए इन्द्र के पुत्र पर उछाल दिया। वह पक्षी जितनी तीव्र गति से उड़ सका विश्व भर

उड़ता रहा, परन्तु उस अस्त्र से पीछा न छुड़ा पाया। इन्द्र, देवों और ऋषियों ने उसे सहायता देने से मना कर दिया। अतः, अन्ततः, उसने भगवान राम की ही शरण ली। यद्यपि वह कौवा मृत्युदण्ड का योग्य था, तथापि राम ने दयापूर्वक उसे शरण प्रदान किया। उन्होंने पक्षी से कहा, जो असहाय होकर उनके पास आया था, "ब्रह्मास्त्र निष्फल नहीं जा सकता है। अतः, तुम स्वयं मार्ग का प्रस्ताव दो।" कौवे ने उत्तर दिया, "आपका तीर मेरी दाहिनी आँख को नष्ट कर दे।" राम ने यह याचना स्वीकार कर ली और इस प्रकार उस अस्त्र ने उसकी दाहिनी आँख को अन्धा बना दिया, परन्तु उसके प्राण को छोड़ दिया।

राम ने इस प्रकार न्याय किया और फ़िर भी महान सहानुभूति का प्रदर्शन किया। यह उल्लेखनीय है कि दया ने राम को मृत्युदण्ड के स्थान पर, अन्यायपूर्ण किसी अत्यल्प दण्ड, जैसे कि एक पङ्ख की हानि, में कम करने हेतु प्रेरित नहीं किया। इन्द्र के पुत्र का नृशंस कृत्य इस उक्ति का उदाहरण है, "वह जो कि काम के वशीभूत होता है, उसे न तो अपने पर लज्जा आती है और न ही वह अपने व्यवहार के परिणामों से डरता है।" ऐसी है काम वासना की विनाशकारी प्रकृति।

एक न्यायाधीश था, जो अपनी भटकी हुई दया के कारण बहुत से कठोर अपराधियों को क्षमा कर देता था। उसका मानना था कि स्वयं अहिंसा का समर्थक होते हुए, उसे हत्यारों और बलात्कारियों को भी आजीवन कारावास जैसे लम्बी अवधि के कष्ट का, अथवा उनका जीवन छीन लिए जाने का, दण्ड नहीं देना चाहिए। एक अवसर पर एक व्यक्ति को उसके समक्ष लाया गया जो बार-बार सशस्त्र डकैती और हत्या का दोषी था। अभियोजन पक्ष का वाद उस व्यक्ति के विरोध में अभेद्य था। तब भी, उस न्यायाधीश ने निर्णय दे दिया कि अभियोजन पक्ष इस वाद को उचित संशय से परे नहीं प्रस्तुत कर पाया और उस व्यक्ति को चेतावनी देकर मुक्त कर दिया। उस पश्चात्तापविहीन अपराधी ने, पुनः अपने कुत्सित कृत्यों को प्रारम्भ करने से पहले, अधिक समय व्यर्थ नहीं किया।

कुछ दिनों बाद, वह न्यायाधीश के घर में ही घुस गया। उसने बहुमूल्य सम्पत्ति वाली आलमारी को खोल दिया। वह अपनी लूट की सामग्री के साथ

भागने ही वाला था कि उस ध्वनि से न्यायाधीश की पत्नी ने जाग कर, उसे देख लिया एवं शोरगुल लगाने का प्रयास किया। बिना एक पल की झिझक के, उस डकैत ने उसे गला घोंटकर मार दिया और भाग निकला। यह सब कुछ नहीं होता, अगर न्यायाधीश ने अपनी अत्यधिक पथभ्रष्ट दया के कारण, न्याय का त्याग नहीं किया होता।

किसी के द्वारा इस जन्म में अथवा पूर्व जन्मों में किया गया कोई भी शारीरिक, वाचिक अथवा मानसिक पाप, उसी के द्वारा अनुभव किए गए कष्ट के रूप में फल देने से नहीं चूकता। इस जन्म में किए गए शास्त्र-निषिद्ध कर्म के परिणाम, प्रायः भावी जन्म में ही मिलते हैं और इसके कारण, कुछ लोग भूल से कल्पना करते हैं कि ईश्वर पापियों को छोड़ देते हैं। एक भ्रष्टाचारी की वर्तमान समृद्धि पूर्वजन्मों में किए गए पुण्य से उत्पन्न है और एक अपव्ययी व्यक्ति की पूर्वजों से मिली सम्पत्ति के समान है। ईश्वर न्यायी होने के कारण, पापी को दण्ड देते हैं, परन्तु करुणामय होने के कारण, पश्चात्ताप कर रहे व्यक्ति के कष्ट को, न्याय का उपहास किए बिना, यथासम्भव कम कर देते हैं। उनकी कार्य पद्धति उपर्युक्त उदाहरण वाले न्यायाधीश के समान मूर्खतापूर्ण नहीं है। जिस तरह एक न्यायाधीश पश्चात्ताप करने वाले पहली बार दोषी को नरमी से देखते हैं, परन्तु पश्चात्तापहीन आभ्यासिक अपराधी को कड़ा दण्ड देते हैं, उसी तरह ईश्वर उसके प्रति उदार रहते हैं जो अनजाने में कई अवसरों पर या जाने-अनजाने में एक बार पाप करता है, परन्तु जानबूझकर और बारम्बार पाप करनेवालों को कठोर दण्ड देते हैं।

कहा गया है — "पिछले जन्म में किया गया पाप उस कर्ता को इस जन्म में रोग के रूप में पीड़ा देते हैं। औषधियों, दान, पवित्र पाठ, हवन और ईश्वर की पूजा से यह निष्प्रभावी हो जाता है।" इसके अतिरिक्त, "अनजाने में या जानते हुए एक बार किए गए पाप के लिए प्रायश्चित्त है। परन्तु, बार-बार और ध्यान से किए कुकर्म के लिए क्या उपाय है?" जबकि व्यक्ति देश के शासन विधि से बच भी निकल सकता है, परन्तु ईश्वर के कर्म-नियमों से वह कभी भी नहीं बच सकता। न्याय और दया भगवान में परम पूर्णता पाते हैं।

2.16 जीव है प्रतिबिम्ब और ईश्वर हैं मूलरूप

एक मूर्ख ने दर्पण को निहारा और अपने मुख का स्पष्ट प्रतिबिम्ब देखा। उसे वह भद्दा लगा। उसने सम्भावित कारण पर विचार किया। उसने देखा कि प्रतिबिम्ब का माथा रिक्त है, उस पर कोई तिलक नहीं है। उसके सौन्दर्यबोध ने उसे प्रतिबिम्ब के माथे पर सिन्दूर लगाने के लिए प्रेरित किया। परन्तु, ऐसा करते समय, उसने अपना मुख थोड़ा हिलाया। परिणामस्वरूप, सिन्दूर का स्थान तिलक की उचित सिद्धाई से हट गया। उसने उस सिन्दूर को प्रतिबिम्ब के माथे पर सिन्दूर लगाने का प्रयास किया, परन्तु फ़िर से असफल रहा। ऐसी कई असफलताओं के बाद, उस मूर्ख व्यक्ति को बोध हुआ कि प्रतिबिम्ब को सीधे सुशोभित करना असम्भव है। फ़िर उसने अपने माथे पर तिलक लगाया और उसे प्रसन्नतापूर्वक आश्चर्य हुआ कि वह तुरन्त प्रतिबिम्ब में सही स्थान पर दिखने लगा।

प्रतिबिम्ब को ठीक करने के लिए, मूल मुख को सजाना आवश्यक है। उसी प्रकार, यदि हम आनन्द चाहते हैं, तो हमें भगवान की उपासना करनी होगी। इसका कारण यह है कि शास्त्रों के अनुसार, परमात्मा और व्यष्टि जीवात्मा के बीच का सम्बन्ध, एक मुख और उसके प्रतिबिम्ब के बीच के सम्बन्ध जैसा है। मन जीव का दास है। दास का कर्तव्य है अपने स्वामी को प्रसन्न करना। मन अपने स्वामी जीव को कैसे प्रसन्न करे? यदि वह सीधे अपने स्वामी के हित के लिए प्रयास करता है तो उसके प्रयास व्यर्थ होंगे; वे सीधे अपने प्रतिबिम्ब को सजाने वाले मूर्ख के प्रयास के समान होंगे। परन्तु, अगर मन स्वयं को भगवान की ओर निर्देशित करता है, तो उसके स्वामी को आनन्द मिलता है। भगवत्पाद जी ने इस तथ्य को भगवान नरसिंह को सम्बोधित एक श्लोक में बहुत सुन्दर ढंग से स्पष्ट किया है।

2.17 भक्तिमार्ग पर कोई भी चल सकता है

भक्ति मार्ग पर चलने के लिए क्या कोई विशेष योग्यता अनिवार्य है? यह एक प्रायः उठाया जाने वाला प्रश्न है। एक लोकप्रिय कविता आलंकारिक प्रश्नों के रूप में उत्तर प्रदान करती है।

कविता का आरम्भ इस आलंकारिक प्रश्न से होता है — "धर्मव्याध की वृत्ति क्या थी?" धर्मव्याध एक कसाई था। उसने बिना किसी लगाव के अपने धर्म का पालन किया और कर्त्तव्यनिष्ठा से अपने माता-पिता की सेवा की। इसके परिणामस्वरूप, वह एक महान धर्म-अनुगामी माना गया। महाभारत में उसके बारे में एक कहानी है।

अपनी तपस्या से एक ब्रह्मचारी ने कुछ शक्ति प्राप्त कर ली थी। एक निर्दोष पक्षी ने अपनी विष्ठा को उसके सिर पर गिरा दिया। उस ब्रह्मचारी ने क्रोधित होकर ऊपर देखा और वह पक्षी जलकर भस्म हो गया। अपनी अलौकिक शक्ति के सहज आविर्भाव के कारण दम्भ से भरा हुआ वह भिक्षा के लिए आगे बढ़ा। वह एक घर गया और उसने भिक्षा माँगी। घर की गृहिणी ने उसे कुछ समय रुकने के लिए कहा क्योंकि वह अपने पति की सेवा कर रही थी। इससे वह ब्रह्मचारी क्रोधित हो गया। परन्तु, महिला ने शान्ति से उत्तर दिया, "मैं पक्षी नहीं हूँ जो तुम्हारे द्वारा जला दी जाऊँ।"

ब्रह्मचारी को आश्चर्य हुआ कि महिला को घटना के बारे में पता था। विनम्र होकर उसने उस महिला से मार्गदर्शन की याचना की। महिला ने उसे धर्मव्याध के पास जाने का निर्देश दिया, जिसने उसे अपने माता-पिता की सेवा के बारे में विस्तृत निर्देश दिए। वह शिक्षा ब्रह्मचारी के लिए विशेष रूप से प्रासंगिक थी क्योंकि उसने अपने माता-पिता के प्रति अपने दायित्व को पूरी तरह से अनदेखा किया था। धर्मव्याध को ईश्वर का बहुत आशीर्वाद प्राप्त हुआ था यद्यपि उनकी वृत्ति कई लोगों द्वारा अवमानित मानी जाती थी। इस प्रकार, किसी की वृत्ति भक्ति के मार्ग पर चलने के लिए कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाती है।

अगला सोच-विचार उम्र का है। क्या किसी को भक्त होने के लिए निर्धारित आयु का होना चाहिए? विचाराधीन श्लोक पूछता है, "ध्रुव की

उम्र क्या थी?" ध्रुव के पिता उत्तानपाद की दो पत्नियाँ थीं। ध्रुव की सौतेली माँ सुरुचि उसे प्यार नहीं करती थी। एक बार, जब ध्रुव ने अपने पिता की गोद में बैठने की इच्छा की, तब वे निराश हो गए क्योंकि सुरुचि चाहती थी कि उत्तानपाद अपने बच्चे को प्यार से पुचकारे। रोते-रोते ध्रुव अपनी माँ सुनीति के पास गए। दुर्भाग्य से सुनीति उनकी सहायता करने की स्थिति में नहीं थी। उसने उन्हें प्रभु से प्रार्थना करने को कहा।

अपने हृदय में दृढ़ संकल्प के साथ, ध्रुव वन में चले गए। ऋषि नारद ने बच्चे को देखा और उनसे बहुत प्रसन्न होकर, उन्हें भगवान नारायण की उपासना में दीक्षित किया। ध्रुव ध्यान में लीन बैठे रहे। ईश्वर उनके प्रेम से इतने प्रसन्न हुए कि उन्होंने उनके सामने प्रकट होकर घोषणा की कि वे अपने पिता के प्रेम को अर्जित करेंगे और बाद में एक महान राजा बनेंगे। भगवान ने और भी कहा कि उनकी मृत्यु के बाद, वे सतत आकाश में ध्रुव तारे के रूप में रहेंगे। चूँकि ध्रुव को जब भगवान के दर्शन हुए, तब वे एक छोटे बालक थे, यह स्पष्ट है कि भक्ति के मार्ग पर चलने के लिए कोई आयु प्रतिबन्ध नहीं है।

क्या महान विद्वत्ता की आवश्यकता है? कविता पूछती है, "गजेन्द्र की सीख क्या थी?" गजेन्द्र एक हाथी थे जो अपनी पत्नियों के साथ रहते थे। वे भगवान के बहुत बड़े भक्त थे। एक दिन एक मगरमच्छ ने अपने जबड़े से उनका पैर पकड़ लिया। दोनों के बीच प्रचण्ड सङ्घर्ष हुआ। मगरमच्छ ने धीरे-धीरे प्रभुत्व प्राप्त कर लिया। जीवन के लिए निराश होकर, गजेन्द्र ने उसे बचाने के लिए भगवान को पुकारा। भगवान विष्णु वहाँ पहुँचे, मगरमच्छ को मार डाला और गजेन्द्र को मुक्त कर दिया। इस प्रकार एक अशिक्षित हाथी गजेन्द्र भगवान की कृपा प्राप्त करने में सक्षम रहे। अतः विद्या का अभाव भक्ति में बाधक नहीं है।

क्या किसी को उच्च जन्म का होना चाहिए? क्या यह आवश्यक है कि भगवान की कृपा प्राप्त करने के लिए केवल ब्राह्मण ही होना चाहिए? श्लोक पूछता है, "विदुर की जाति क्या थी?" विदुर का जन्म एक दासी के यहाँ हुआ था। वैसे तो, वे एक उच्च जाति के व्यक्ति नहीं थे। जब भगवान

कृष्ण पाण्डवों के दूत के रूप में हस्तिनापुर आए, तब उन्होंने कौरव राजकुमारों द्वारा उन्हें दिए गए राजमहलों में नहीं, प्रत्युत विदुर के घर में रहने का विकल्प चुना। इससे पता चलता है कि भगवान नीच जाति को भक्ति के मार्ग पर चलने और सफल होने के लिए कोई बाधा नहीं मानते हैं।

हो सकता है कि वृत्ति, उम्र, शिक्षा और जाति जैसे कारक मायने नहीं होते। परन्तु क्या ऐसा हो सकता है कि महान धैर्य और मर्दानगी आवश्यक हैं? श्लोक पूछता है, "उग्रसेन का क्या पौरुष था?" उग्रसेन कंस के पिता थे। राक्षस कंस ने अपने पिता को बंदी बना लिया था और सत्ता हथिया ली थी। कंस का भतीजा कोई और नहीं, किन्तु भगवान कृष्ण थे। जब उन्हें मथुरा लाया गया, तो उन्होंने एक द्वन्द्वयुद्ध में कंस को मार डाला और उग्रसेन को सिंहासन पर बैठाया। इस प्रकार, जिस व्यक्ति में वीरता की कमी थी, उस पर भी प्रभु की कृपा थी।

क्या शारीरिक सौन्दर्य कुछ ऐसा है जो भगवान का ध्यान आकर्षित करता है? "क्या कुब्जा एक आकर्षक युवती थी?" पद्य में निहित प्रति-प्रश्न है। जब भगवान कृष्ण मथुरा पहुँचे, तो एक कुबड़ी महिला ने, जो निश्चित रूप से कोई सुन्दरी नहीं थी, उन्हें इत्र प्रस्तुत किया। प्रभु ने सन्तुष्ट होकर उसे आशीर्वाद दिया। उसकी विकृति सुन्दरता में बदल गई। इस प्रकार, एक रमणीय रूप की अनुपस्थिति ईश्वर की कृपा की प्राप्ति में बाधा नहीं डालती।

लोग सामान्यतः सम्पन्नता से प्रसन्न होते हैं। क्या प्रभु भी ऐसे ही हैं? पद्य में प्रति-प्रश्न है, "क्या सुदामा के पास बहुत धन था?" सुदामा भगवान कृष्ण के बचपन के मित्र थे। उन्होंने एक साथ अध्ययन किया और बाद में अलग हो गए — कृष्ण एक राजकुमार बन गए और सुदामा एक समर्पित ब्राह्मण गृहस्थ बन गए। सुदामा को अपनी दरिद्रता के कारण अत्यधिक कष्ट उठाना पड़ा। हालाँकि, उन्होंने उसे बड़े धैर्य के साथ सहन किया। दरिद्रता की समस्याओं का सामना करने में असमर्थ, उनकी पत्नी ने उनसे अपने मित्र भगवान कृष्ण के पास जाने का अनुरोध किया। अपने प्रिय मित्र से मिलने के विचार से बहुत प्रसन्न होते हुए, उन्होंने उसे स्वीकार कर लिया।

उनकी पत्नी ने उन्हें कुछ चूड़ा दिए। सुदामा गए और भगवान कृष्ण से मिले। प्रभु ने उनका उचित सम्मान के साथ स्वागत किया। सुदामा को अपने लाए हुए मुरमुरे को समर्पित करने में लज्जा का अनुभव हुआ। परन्तु भगवान कृष्ण ने तुरन्त उसे देख लिया और उसे माँग बैठे। प्रभु उसे खाने लगे। कुछ समय बाद, उनकी पत्नी रुक्मिणी ने उन्हें रोक लिया। जब सुदामा वापस लौटे, तो उन्हें अपने पुराने, जीर्ण-शीर्ण घर के स्थान पर एक भव्य भवन मिला। उन्होंने देखा कि उनकी पत्नी और बच्चे बहुमूल्य वस्त्र पहने हुए थे। उन्हें लगा कि यह प्रभु ही थे जिन्होंने उन्हें समृद्ध बनाया था। यह स्पष्ट है कि प्रभु समृद्धि जैसे कारकों की उपेक्षा करते हैं।

भगवान किसको महत्त्व देते हैं? वे केवल भक्ति को मानते हैं। जहाँ भक्ति है, वे सन्तुष्ट हो जाते हैं।। तात्पर्य यह है कि भक्ति मार्ग पर चलने के लिए किसी विशेष योग्यता की आवश्यकता नहीं है।

2.18 भगवान के रूप

एक व्यक्ति अपने कार्यस्थल पर शर्ट, पतलून और टाई पहना हुआ था। एक मित्र ने उसे कन्धे पर थपथपाया और कहा, "मुझे यह देखकर प्रसन्नता हुई कि आप सजीले हैं। यह इस प्रकार का परिधान है जो आपके लिए एक बिक्री प्रतिनिधि के रूप में सफल होने के लिए आवश्यक है।" सन्ध्याकाल को वह व्यक्ति घर आया और धोती पहनकर विष्णु-सहस्रनाम का पठन करने के लिए बैठ गया। तभी आए दूसरे मित्र बोले, "यह सच है कि काम पर जाने के समय, आपको एक अंग्रेज़ जैसा परिधान धारण करना होता है। परन्तु, यह आप पर बहुत जँचने वाले परिधान है। मुझे आपको इसमें देखना अच्छा लगता है।"

कहानी से पता चलता है कि कोई विभिन्न प्रकार के परिधानों को धारण करता है, तो उनसे अलग-अलग लोगों को सन्तुष्ट करता है। ईश्वर तो वस्तुतः निराकार हैं; परन्तु, अपने भक्तों के लिए वह अलग-अलग रूपों में स्वयं को

अभिव्यक्त करते हैं। पुराणों में प्रभु की कई अभिव्यक्तियों का वर्णन किया गया है। शास्त्र-वर्णित शिव, विष्णु, आदि के रूपों में निहितार्थ है।

उदाहरणार्थ, शिव के दस हाथ हैं। दस हाथ दसों दिशाओं को लक्षित करते हैं — जिसमें ऊपर और नीचे की दिशाएँ सम्मिलित हैं — एवं ईश्वर की सर्वव्यापकता के द्योतक हैं। शिव को त्रिनेत्र के रूप में जाना जाता है। सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि इन आँखों को गठित करते हैं। उनकी जटा में चन्द्र-कला है। यह चन्द्र ज्ञान का द्योतक है। शिव का इसे अपनी जटाजूट में पहनना, भगवान के शुद्ध ज्ञान से सम्पन्न होने का सूचक है। "ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्त और सर्वव्यापक हैं और उनसे पृथक कुछ भी नहीं है" — यह पौराणिक विवरणों का एक साधारण आन्तरिक अर्थ है।

2.19 मूर्ति पूजा पर आलोक

एक व्यक्ति ने भगवान गणेश की एक मिट्टी की बनी हुई मूर्ति क्रय की और गणेश चतुर्थी के अवसर पर उसका पूजन करने लगा। तीन दिनों के बाद, उसने प्रतिमा को एक नदी में विसर्जित कर दिया। यह सब कुछ उसके एक मित्र ने देखा जिसे मूर्ति पूजा के विषय में कुछ विशेष ज्ञान नहीं था और इसलिए जो उसने देखा उससे उलझन में पड़ गया।

मित्र - तुम एक मूर्ति की बड़ी ही श्रद्धा से पूजा कर रहे थे। फ़िर भी, अब तुमने उसे नदी में फेंक दिया है। क्यों?

आराधक - पहले तो मूर्ति में पवित्रता नहीं थी और वह केवल एक मिट्टी की सुन्दर आकृति थी। फ़िर मैंने विनायक चतुर्थी की पूजा आरम्भ होने से पहले, यथाविधि उसमें भगवान गणेश जी का आवाहन किया। तब यह पवित्र देव-प्रतिमा बन गई। इसे साक्षात् भगवान मानकर, मैंने इसकी पूजा की। पूजन की नियत अवधि की समाप्ति पर, मैंने भगवान से अपनी विशेष उपस्थिति वापस लेने का अनुरोध किया। मूर्ति ने अपनी पवित्रता खो दी और केवल

मिट्टी का टुकड़ा बन गई। वह मिट्टी का टुकड़ा था जिसे मैंने नदी में विसर्जित कर दिया था।

मित्र - मिट्टी के एक खण्ड का पवित्र बन जाना और पुनः अपनी वास्तविक दशा में लौट आना कैसे सम्भव है? और तो और, एक भक्त में इतनी क्षमता कैसे हो सकती है कि वह इन परिवर्तनों को करा सके?

आराधक - एक उदाहरण पर विचार करें। एक साधारण मनुष्य है जिससे हम सभी परिचित हैं। हम जब चाहें उससे मिल सकते हैं। अगर वह व्यक्ति किसी उच्चपदस्थ सरकारी अधिकारी से मिलना चाहता है, तो उसे मिलने का समय पाने हेतु भागदौड़ करनी पड़ती है। हम जैसे लोगों के सुझाव पर वह चुनाव में प्रत्याशी के रूप में रखा होता है और हमारे वोटों से जीत जाता है।

फ़िर वह मन्त्री बन जाता है। उसके उपरान्त, जब हम उससे मिलना चाहते हैं तब हमें उसका समय तय करना पड़ता है। वही अधिकारी लोग, जिनसे मिलने में उसे पहले कठिनाई होती थी, अब उसके पास आकर उसके आदेशों का पालन करते हैं। उसे सुरक्षा और अच्छे आवास की सुविधा दी जाती है। मन्त्री के रूप में अपने कार्यकाल के बीत जाने के बाद, वह फ़िर एक बार चुनाव में प्रत्याशी के रूप में लड़ता है। इस बार, लोग उसे पहले जैसे वोट नहीं देते हैं, जिसके कारण वह अब हार जाता है। इस प्रकार वह फ़िर से पहले जैसा ही साधारण व्यक्ति बनकर रह जाता है। मन्त्री पद के विशेष सुविधाएँ और अधिकार अब उसके नहीं रहते हैं।

हम जैसे लोग उस साधारण व्यक्ति को अपने वोटों से मन्त्री बनाते हैं और उसके बाद, फ़िर उसे उसकी पुरानी स्थिति में लौटा ले आते हैं। इसी तरह, भक्त द्वारा किए आवाहन के उत्तर में, भगवान उस मूर्ति में अपनी विशिष्ट कृपा बरसाते हैं और वह मूर्ति पवित्र बन जाती है। भक्त की पूजा को स्वीकार कर लेने के बाद, भक्त के अनुरोध पर भगवान अपनी विशिष्ट उपस्थिति का संहरण कर लेते हैं और वह मूर्ति अपनी पुरानी दशा में लौट आती है।

एक मन्दिर में एक मूर्ति मूल रूप से एक पहाड़ी पर एक चट्टान का भाग हो सकती है; हो सकता है कि लोग उस चट्टान पर चले हों और उस पर मूत्र विसर्जन भी किया हो। एक मूर्तिकार एक साधारण चट्टान को छेनी से एक

सुन्दर मूर्ति में बदल देता है। फ़िर भी वह पवित्र नहीं होती। हालाँकि, वह तब पवित्र हो जाती है जब इसे किसी मन्दिर में विधिवत् रूप से प्रतिष्ठित किया जाता है। इसके बाद, लोग इसकी पूजा करते हैं। वही मूर्तिकार, जिसने पहले उस पर हथौड़े से वार किया था, अब उसके सामने साष्टाङ्ग प्रणाम करता है और यहाँ तक कि उसे छूता भी नहीं है।

मित्र - आपकी पूजा के समय, आप क्यों मूर्ति को श्रद्धापूर्वक कुछ चढ़ाते हैं? वैसे भी, उन्हें प्राप्त करने के लिए वह एक मिलीमीटर तक भी नहीं हिली।

आराधक - यह हमारी पवित्र संस्कृति है कि जब कोई सम्मानित अतिथि घर आते हैं, तब हम उनका आदरपूर्वक स्वागत-सत्कार करें। उन्हें आसन पर बिठाएँ तथा उनके चरणों को धोएँ। उन्हें भोजन कराएँ। भक्तजन मूर्ति में केवल मिट्टी या पत्थर नहीं, प्रत्युत भगवान की जीवित उपस्थिति देखते हैं। वे ऐसा मानते हैं कि ईश्वर स्वयं को समर्पित की हुई वस्तु को स्वीकार करते हैं, यद्यपि मूर्ति स्वयं समर्पित की गई वस्तुओं को ग्रहण करने के लिए अपने हाथों को नहीं फैलाती है। यही कारण है कि मैंने पाद्य — अर्थात् उनके पैरों को धुलने के लिए जल — समर्पित किया। फ़िर मैंने उन्हें भोजन कराया; यही मेरी नैवेद्य की भेंट थी।

मान लीजिए कि कोई अतिथि एक आतिथेय के घर में किसी महिला के साथ दुर्व्यवहार करके या बहुमूल्य वस्तुएँ चुराकर उसे दिए जाने वाले सम्मान के लिए स्वयं को अयोग्य सिद्ध करता है। तब तो यह सम्भव है कि आतिथेय उसे पुलिस के हाथों में सौंप दे। भगवान के सम्बन्ध में, उनके भक्त की पूजा के लिए अयोग्य सिद्ध होने की कोई सम्भावना नहीं है। इसलिए, भक्त पूजा के बीच में पूजा की जाने वाली मूर्ति को कभी नहीं छोड़ते हैं।

मित्र - विनायक चतुर्थी के दिन, एक ही काल में अनेक स्थानों पर गणेश जी की पूजा की जाती है। वे किस मूर्ति में निवास करने का चयन करते हैं? उनके चयन को क्या प्रभावित करता है?

आराधक - वे सभी मूर्तियाँ — जिनमें भगवान का आवाहन यथाविधि ठीक-ठीक किया जाता है — पवित्र बन जाती हैं। जहाँ-जहाँ वायुदाब काम होता है, वायु उधर जाती है। उसी प्रकार, भगवान, जो कि सर्वत्र व्याप्त हैं, उन

सभी मूर्तियों में विशेष रूप से सन्निविष्ट हो जाते हैं, जहाँ उनकी शास्त्रविधि से पूजा होती है, चाहे कितनी ही मूर्तियाँ कितने ही विभिन्न स्थानों पर क्यों न हों।

मित्र - कहीं पर समर्पित किया गया भोजन बहुत कम होता है और कहीं बहुत अधिक होता है। क्या ऐसा नहीं है कि देवता के लिए समर्पित अत्यल्प भोजन अपर्याप्त होता है और बहुत अधिक भोजन आवश्यकता से अधिक होता है?

आराधक - नहीं। वेदों में, यह कहा जाता है कि जिस देवता को यह चढ़ाया जाता है, उसकी इच्छा के अनुसार समर्पण की मात्रा भी परिवर्तित हो जाती है। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यदि कोई भक्त गणपति हवन में एक निश्चित संख्या में मोदक, जैसे 1000, चढ़ाने का संकल्प करता है, तो उसे वह संख्या अवश्य देनी चाहिए। उसे यह नहीं सोचना चाहिए, "यह गणेश जी के खाने के लिए बहुत अधिक है," और कम चढ़ाएँ। वास्तव में, भगवान को किसी भी वस्तु की आवश्यकता नहीं होती है, परन्तु एक उपासक द्वारा भक्ति के साथ जो कुछ भी अर्पित किया जाता है, उसे स्वीकार कर लेते हैं और उसी से तृप्त हो जाते हैं।

2.20 गोपुरम नम्रता को प्रेरित करते हैं

एक सड़क पर दो दोस्त साथ चल रहे थे। उनमें से एक डींगें मारने वाला और भीतर तक अहंकारी था। उसने अपने मित्र से कहा, "मेरी जितनी उपलब्धि और कौन प्राप्त कर सकता है? मैं अपने कार्यस्थल पर अपरिहार्य हूँ और प्रभूत धन कमाता हूँ।" वह इसी प्रकार अपनी विभिन्न उपलब्धियों को सूचीबद्ध करता हुआ बोलता रहा। दोनों एक बृहत गोपुर वाले एक मन्दिर के पास से होकर जा रहे थे। डींगे मारने वाले व्यक्ति के मित्र ने उससे कहा, "बस, इस गोपुर पर एक दृष्टि डालो।" अहंकारी ने पलटकर देखा। एक बृहत वास्तुशिल्प की अद्भुत वस्तु होने के कारण, उसने उसे विस्मय से भर दिया। जैसे ही वह उस गोपुर पर टकटकी लगाए खड़ा था, उसे लगा कि वह नगण्य

है। उसने अनुभव किया कि इस विशाल गोपुर की तुलना में, वह केवल एक कीट जैसा प्राणी है। यह उसके लिए अहम् को चकनाचूर करने वाला अनुभव था।

हमारे पूर्वजों ने लोगों में विनम्रता को प्रेरित करने के लिए, बृहत गोपुरों का निर्माण किया।

2.21 शिवरात्रि का महत्त्व

एक बार, ब्रह्मा और विष्णु में विवाद उगा कि सबसे श्रेष्ठ कौन है। भगवान शिव उनके सामने एक लिङ्ग के रूप में प्रकट हुए। विष्णु ने भगवान शिव के चरणों का पता लगाना चाहा और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए, उन्होंने एक वराह का रूप धारण किया। हंस का रूप धारण करके, ब्रह्मा भगवान के शीर्ष ढूँढने हेतु निकल पड़े। उनमें से कोई भी अपने लक्ष्य का पता नहीं लगा सके। इसलिए उनका अभिमान कुचल गया। उन्हें बोध हुआ कि परमात्मा, सर्वव्यापी प्रभु, सबसे महान हैं।

यह कहानी त्रिमूर्तियों में अन्तर करने के लिए नहीं है, न ही इस भावना को प्रेरित करने के लिए है कि विष्णु शिव से छोटे हैं। इसका प्राथमिक उद्देश्य यह दिखाना है कि ब्रह्माण्ड के सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, सर्वव्यापी भगवान सबसे महान हैं। कहा गया है कि कथा में वर्णित अभिव्यक्ति शिवरात्रि को हुई थी, जो माघ-मास में कृष्ण-पक्ष की चतुर्दशी के दिन पड़ती है। उस दिन उपवास रखना चाहिए और रात भर जागकर शिव जी की पूजा करनी चाहिए। निद्रा को त्यागकर ईश्वर के विषय में न सोचते हुए रात को बिताना निरर्थक है।

रात भर पूजा करने का क्या फल है? इस प्रश्न का उत्तर एक श्लोक में मिलता है जिसका अर्थ है, “हे आँखों, आपको ध्यानपूर्वक इस सबसे शुभतम और अति पवित्र रात को जागे रहने के लिए कहा जाता है। यदि आप ऐसा करती

हैं, तो आप दोनों के बीच आप जैसा आपका मित्र अपना सान्निध्य देगा।" विचार यह है कि यदि कोई शिवरात्रि पर पूजा करता है, तो वह स्वयं शिव के समान हो जाता है।

2.22 किस देवता की प्रार्थना करे

एक ब्राह्मण किसी बाढ़ आई नदी के तट पर हिचकिचाता हुआ खड़ा था, और उसे पार करने की प्रतीक्षा कर रहा था। उसने उस मार्ग से आ रहे एक मुसलमान से दूसरे किनारे पर जाने के मार्ग के बारे में पूछताछ की। "मेरे दोस्त, ख़ुदा पर भरोसा करें और कूद जाएँ," मुसलमान ने कहा, "वे आपको पार ले जाएँगे।" परन्तु ब्राह्मण चतुर था। चूँकि वह सम्भावित आपदा से दूर रहना चाहता था, इसलिए उसने मुसलमान से कहा, "आप पहले गोता लगाओ। फ़िर मैं पीछे आउँगा।" "बहुत अच्छा," मुसलमान ने कहा। अपनी दाढ़ी को मुट्ठी में लेकर, "अल्लाह-हो-अकबर!" बोलते हुए, उसने छलांग लगा दिया। किसी तरह, वह स्वयं को पार करने में सफल रहा।

अब ब्राह्मण ने थोड़ा साहस जुटाया। उसने विघ्न-विनाशक गणेश जी से प्रार्थना की। जैसे ही उसने छलांग लगाई, तो सोचा कि यदि वह गणेश जी के पिता शिव जी से प्रार्थना करता, तो उसके बचने की अधिक सम्भावना होती। इसलिए, उसने डुबकी लगाते हुए शिव जी की शरण ली। गणेश जी ने सोचा कि उनके महान पिता ब्राह्मण की रक्षा करेंगे। दूसरी ओर, उस व्यक्ति को बचाने के लिए शिव जी ने गणेश जी की अपेक्षा की, जिनका बाधाओं पर अधिकार क्षेत्र था। किसी ने सहायता नहीं दी। संशय में पड़े ब्राह्मण ने अपनी अन्तिम यात्रा की।

एक व्यक्ति को यह समझना चाहिए कि ये एक ही भगवान हैं जो शिव, विष्णु, गणेश, आदि के रूप में प्रकट होते हैं; इसलिए, उसे यह नहीं सोचना चाहिए कि एक देवता दूसरे की तुलना में उसकी सहायता करने के लिए

कम शक्तिशाली है। हालाँकि, यह एक व्यक्ति के लिए पूरी तरह से वैध है कि उसके कोई इष्ट-देवता हों, जैसे शिव। उसे सोचना चाहिए, "यह मेरे प्रिय शिव हैं, जिन्होंने विष्णु जैसे सभी अन्य देवताओं के रूपों को ग्रहण किया है," न कि "विष्णु शिव से अलग और निकृष्ट हैं।" ऐसे दृष्टिकोण रखने वाला व्यक्ति किसी भी विधिवत् स्थापित मन्दिर में पूरी तरह से प्रसन्न-चित्त होगा और इन विचारों द्वारा कष्ट में नहीं डाला जाएगा, जैसे कि, "अगर मैं विष्णु से प्रार्थना करता हूँ तो क्या शिव मुझसे अप्रसन्न होंगे?"

2.23 महान भक्त का लक्षण

एक बार, भगवान विष्णु के पास नारद गए और उनसे पूछा, "आपका सबसे बड़ा भक्त कौन है?" प्रभु ने कहा, "एक किसान है जो सचमुच मेरे लिए समर्पित है।" इस पर नारद क्रोधित हो उठे और बोले, "क्या! क्या मैं आपका सबसे बड़ा भक्त नहीं हूँ? वह बेचारा कुत्सित किसान उतना भक्तिमान कैसे हो सकता है जितना मैं हूँ?" भगवान ने नारद से कहा कि वे जाएँ और स्वयं उस व्यक्ति को देखें। नारद ने किसान की गतिविधियों की समीक्षा की। हर प्रातःकाल किसान उठकर, भगवान की प्रार्थना करने के बाद अपने घरेलू कार्यों में भाग लेता। उसके बाद, वह खेतों में जाता और कुछ समय के लिए भगवान के विचार में लीन होकर मौन बैठे रहता। फ़िर वह अपने कृषि कार्य को सम्भालता। उनकी अगली प्रार्थना सायंकाल के लिए नियत रहती।

यह सब देखकर नारद भगवान विष्णु के पास लौटे और उन्होंने आपत्ति उठाई, "यह क्या है? किसान तो प्रायः आपका नाम भी नहीं दोहराता है। वह महान भक्त कैसे हो सकता है?" भगवान विष्णु ने कहा, "उत्तर देने से पहले, मैं आपको एक कार्य दूँगा। कृपया पानी से भरी हुई इस कटोरी को लें और सड़कों का चक्कर लगाएँ। फ़िर मेरे पास लौट आएँ। कृपया यह सुनिश्चित करें कि पानी की एक बूँद तक नहीं गिरे।" कटोरे को लेकर नारद चल पड़े। वे अभी कुछ दूर चले ही थे कि उन्हें यह चिन्ता सताने लगी कि उसमें से एक

या दो बूँदें गिर सकती हैं। इस चिन्ता ने उन्हें यहाँ तक अपने वश में कर लिया कि उनका मन कटोरे के पानी के अतिरिक्त कुछ भी सोचने में असफल रहा। अपने कार्य के पूरा होने पर, वे प्रभु के पास लौट आए।

भगवान विष्णु ने उनसे पूछा, "जब आप सड़कों पर थे, तब आपने कितनी बार मेरे नाम का स्मरण किया था?" नारद अचम्भे में डाले गए और उन्होंने कहा, "मैं आपका नाम कैसे जप सकता था? अन्ततोगत्वा, मैं इस कार्य में बहुत व्यस्त था; वैसे भी, मुझे यह सुनिश्चित करना था कि तनिक भी पानी न गिरे।" प्रभु ने कहा, "किसान भी आपकी तरह व्यस्त था। तब भी, उसने मेरा स्मरण किया। इसी ने उसे महान भक्त बनाया है।"

एक प्रातःकाल, युधिष्ठिर भगवान कृष्ण से मिलने आए। उन्होंने कृष्ण को गम्भीर ध्यान में अचल बैठा पाया। जब कृष्ण ने अपनी आँखें खोलीं, तो युधिष्ठिर ने आदरपूर्वक उनसे पूछा, "आप ब्रह्माण्ड के सृष्टिकर्ता और संहारकर्ता हैं, तथा आदि और अन्त के बिना हैं। फ़िर भी, आप गहरे ध्यान में बैठे थे। कृपया आप क्या मुझे अपने ध्यान का महत्त्व बता सकते हैं?"

कृष्ण ने उत्तर दिया, "बाणों की शय्या पर लेटे हुए भीष्म ने अपना मन मुझ पर लगा लिया है। इसलिए, मेरा मन उन पर लग गया।" यद्यपि वे कई बाणों से छेदे गए थे व गहरी वेदना में थे, तब भी भीष्म ने कृष्ण के बारे में इतनी प्रगाढ़ता से सोचा कि उन्होंने पूरी तरह से भगवान के मन को अपनी ओर खींच लिया।

2.24 एकाग्रता

द्रोणाचार्य ने पाण्डवों और कौरवों दोनों को धनुर्विद्या के सूक्ष्म पहलुओं को निष्पक्ष रूप से समझाया। उनकी शिक्षा के अन्त में, उन्होंने उनके लिए एक परीक्षा आयोजित की। "वृक्ष पर बैठे उस छोटे पक्षी को देखें," गुरु ने कहा, "आपको इसे एक तीर से नीचे गिराना होगा।" उन्होंने अपने शिष्यों को एक-एक कर बुलाया और पूछा, "अब तुम क्या क्या देखते हो?" प्रत्येक शिष्य ने

उत्तर दिया, "गुरुजी, मैं पक्षी, वृक्ष और परिवेश को भी देखता हूँ।" गुरु ने उससे कहा, "तुम धनुर्विद्या में महारत नहीं हो।" अन्त में अर्जुन की बारी आई। द्रोणाचार्य ने उनसे वही प्रश्न पूछा। अर्जुन ने उत्तर दिया, "पूज्य गुरुजी, मुझे केवल चिड़िया दिखाई देती है, और कुछ नहीं।" गुरु ने उसे तीर छोड़ने को कहा। शिष्य ने आज्ञा मानी। पक्षी गिर गया।

यह कहानी किसी के लक्ष्य या किए जा रहे कार्य पर गहन एकाग्रता की प्रशंसनीयता को सामने लाती है। ध्यान के समय, भगवान पर मन को केन्द्रित करना निश्चित रूप से बहुत महत्त्वपूर्ण है, विशेषकर आध्यात्मिक साधक के लिए। हालाँकि, कई लोग कहते हैं कि वे ध्यान करने में असमर्थ हैं क्योंकि उनका मन भटकता रहता है। प्रायः, उनकी एकाग्रता में कमी का एक प्रमुख कारण, ध्यान में उनकी अभिरुचि की अपर्याप्तता होती है।

एक व्यक्ति को गिनने के लिए सौ रुपये के नोटों का एक पैकेट दिया गया। जैसे ही वह गिनती में व्यस्त था, एक मित्र ने उसे बुलाया। हालाँकि, उसने बुलावे को नहीं सुना और इसलिए उसने ऊपर नहीं देखा। अपना कार्य पूरा करने के बाद ही उसने अपने मित्र की उपस्थिति पर ध्यान दिया। उसने अपने मित्र से कहा, "मेरा पूरा ध्यान नोटों पर था, क्योंकि मुझे पता था कि मेरी गिनती में कोई भी त्रुटि मेरे लिए महँगी सिद्ध होगी।"

उस व्यक्ति ने अपने कार्य को महत्त्वपूर्ण माना और इसलिए वह अपना ध्यान ठीक प्रकार से लगाने में सक्षम रहा। इस तरह, यदि कोई व्यक्ति ध्यान को बहुत महत्त्वपूर्ण मानता है और अनुभव करता है कि उसे ध्यान के समय असावधानी से बहुत अधिक हानि होती है, तो सम्भावना है कि वह भगवान पर अपना मन केन्द्रित करने में सफल होगा।

2.25 भाग्य और स्वतन्त्र इच्छा

दो किसानों के खेत विस्तार में एक जैसे थे और उनमें एक जैसी मिट्टी थी। उन्होंने समान रूप से कड़ा परिश्रम किया, अपनी भूमि को अच्छी तरह जोत

दिया और समान गुणवत्ता के बीज बोए। खेतों के ऊपर वृष्टि न तो बहुत अधिक और न ही कम हुई थी और इसलिए, फसलों में अच्छी वृद्धि हुई थी। उचित समय पर उन्होंने अपनी कटाई की। सन्ध्याकाल को अपने घर जाने से पहले, वे प्रसन्नता के साथ अनाज के बड़े-बड़े ढेर देख पा रहे थे, जो उनके प्रयासों के परिणाम थे। उनके द्वारा प्राप्त पैदावार में कदाचित् ही कोई अन्तर था।

उस रात उनके सोते समय, एक भूमि पर बहुत भारी वर्षा हुई और दूसरी ओर केवल थोड़ी सी बूँदा-बाँदी हुई। अगले प्रातःकाल, जब वे अपनी खेत पर गए, तो एक ने पाया कि वृष्टि ने उसके अनाज को नष्ट कर दी है, जबकि दूसरे ने निश्चिन्तता का अनुभव किया क्योंकि उसके अनाज के ढेर अक्षत थे।

इस प्रकार, उनके प्रयासों में समानता के होने पर भी, उन्हें प्राप्त परिणाम स्पष्ट रूप से भिन्न थे। एक किसान का भाग्य प्रतिकूल था और दूसरे का अनुकूल, जिसके कारण पहले की हानि हुई और दूसरे का लाभ हुआ। जो लोग वेदों और शास्त्रों में आस्था रखते हैं और तर्कसंगत हैं, वे मनुष्यों के अनुभवों को केवल आकस्मिक नहीं मानते।

दो छात्रों ने एक परीक्षा लिखी। जिस लड़के ने ठीक से पढ़ाई की थी उसने दो प्रश्नों को छोड़कर सभी का अच्छी तरह से उत्तर दिया। दूसरा तो केवल दो प्रश्नों के सही उत्तर देने में सफल रहा। परीक्षक एक निष्पक्ष, लेक़िन आलसी, व्यक्ति था। उसने पहले लड़के के दो प्रश्नों के उत्तरों की समीक्षा की। वे दोषपूर्ण निकले। अन्य उत्तरों को भी दोषपूर्ण मानते हुए उसने लड़के को कम अङ्क प्रदान किए।

फ़िर उसने दूसरे लड़के की उत्तर पत्रिका को लिया। जाँच के लिए उसके द्वारा चुने गए उत्तर सही थे। यह मान लेते हुए कि शेष उत्तर भी सही होंगे, उसने उस लड़के को अधिक अङ्क प्रदान किए। परिणाम देखने पर, जिस लड़के ने श्रेष्ठतर अध्ययन किया था, वह दुःखी था, जबकि दूसरा आनन्दित था। इस प्रकार, कड़े परिश्रम का परिणाम बुरा रहा और बुरी तैयारी से अच्छे अङ्क मिले। यहाँ भी भाग्य का हाथ देखा जाता है।

एक निर्धन व्यक्ति था जो एक अपव्ययी और पियक्कड़ था। उसकी पत्नी ने जुड़वाँ बच्चों को जन्म दिया। अपने बच्चों को प्यार से देखते हुए, उसने अपने पति से कहा, "वे राजकुमार दिखते हैं।" पति ने हँसते हुए कहा कि वह उन्हें चक्रवर्ती और राजा नाम देगा। एक निर्धन परिवार के सदस्यों के लिए वे व्यंग्यात्मक नाम थे। घरेलू खर्चों को पूरा करने के लिए, उसकी पत्नी एक बहुत ही सम्पन्न दम्पती के घर में, एक घरेलू सेविका के रूप में काम करती थी। माँ बनने के बाद, वह अपने बच्चों को अपने कार्यस्थल पर ले जाने लगी क्योंकि उनकी देखभाल के लिए उनकी झोंपड़ी पर कोई नहीं था। अच्छे स्वभाव एवं दूसरे की स्थिति को समझने वाले होने के कारण, उसके नियोक्ताओं ने उससे तनिक भी आपत्ति नहीं जताई।

जुड़वाँ बच्चों के पिता के विपरीत, उनकी माँ बहुत उत्सुक थी कि उन्हें स्कूल भेजा जाए। इसलिए, जब वे पाँच साल के थे, तो उसने उन्हें एक सरकारी विद्यालय में भर्ती कराया, जो निश्शुल्क शिक्षा प्रदान करता था। जल के साथ एक मछली की तरह, जुड़वाँ बच्चे अपने स्कूल के साथ सहज हो गए। चक्रवर्ती को अपनी माँ से विशेष रूप से लगाव था और इसलिए उसने विद्यालय जाने से पहले, अपने नियोक्ता के घर पर कुछ समय के लिए उसकी सहायता करने पर बल दिया। उधर राजा झोंपड़ी में झाड़ू लगाकर और अपनी माँ द्वारा भोजन पकाने के लिए उपयोग किए गए पात्रों को माँजने के बाद, स्कूल जाता था और अपने भाई से मिलता था।

धनिक दम्पती का एक बेटा था जो जुड़वा बच्चों के समान वय का ही था। उनके विवाह के पाँच साल बाद उसका जन्म हुआ था। उन्होंने उस पर प्रेम की वर्षा कर दी। महिला के गर्भ धारण करने से ठीक पहले, उन्होंने सन्तान-प्राप्ति के लिए एक साधु पुरुष का आशीर्वाद माँगा था। वह साधु इधर से उधर भटकता था और भीख माँगकर प्राप्त भोजन से अपना भरण-पोषण करता था। इस कारण, वह व्यापक रूप से अकिञ्चन नाम से जाना जाता था; यह मानते हुए कि उनकी पत्नी ने उस सत्पुरुष के आशीर्वाद के कारण गर्भ धारण किया था, पति ने अपने बेटे का नाम अकिञ्चन रखा, जो एक अपार

भाग्य का उत्तराधिकारी था। अकिञ्चन ने चक्रवर्ती से मित्रता की और दोनों ने हर प्रातःकाल कुछ समय एक-दूसरे के साथ बिताए।

जब चक्रवर्ती नौ साल का था, तब उनकी प्यारी माँ की मृत्यु हो गई। अपने बच्चों को छोटी-से-छोटी बात पर डाँटना और उनकी पिटाई करना, उनके पियक्कड़ व निकम्मे पिता का अभ्यास था। अपनी पत्नी के निधन होने के कारण, उन्हें पहले की तुलना में कम पैसे से काम चलाना पड़ा और इससे वह बहुत चिड़चिड़ा हो गया। वित्तीय स्थिति को सुधारने के लिए, चक्रवर्ती ने अपने स्कूल के समय से पहले और बाद में, प्रातः और सायंकाल, अकिञ्चन के घर पर काम करने लगा। उसके भाई राजा ने अपनी झोंपड़ी में खाना पकाने, झाड़-पोंछ और धोने का काम करने का तय किया।

अकिञ्चन और चक्रवर्ती बहुत अच्छे मित्र बन गए। एक दिन अकिञ्चन ने अपनी माँ से पूछा, "क्या मैं प्रतिदिन कार से चक्रवर्ती को अपने साथ ले जा सकता हूँ और उसे उसके स्कूल में छोड़ सकता हूँ? वैसे तो उसका विद्यालय लगभग मेरे विद्यालय के मार्ग में ही है।" "अवश्य," उसकी माँ ने कहा, "मैं स्वयं यह सुझाव देना चाहती थी।" इसके बाद अकिञ्चन और चक्रवर्ती दोनों एक साथ विद्यालय के लिए निकलने लगे।

एक दिन, जिस कार में वे जा रहे थे, उसकी एक बड़ी दुर्घटना हो गई। चालक की स्थल पर मृत्यु हो गई। मलबे में अकिञ्चन के पैर जकड़ गए और तुरन्त ही उसमें आग लग गई। जब तक उसे आस-पास के कुछ उपकारी लोगों द्वारा बाहर निकाला जाता, तब तक उसे झुलसने से बड़े घाव हुए; उसके पैर बुरी तरह से क्षतिग्रस्त हो गए थे। चक्रवर्ती ने अकिञ्चन के माता-पिता को फ़ोन किया और उन्होंने एक एम्बुलेंस को बुलाया। वेदना से चीत्कार करते हुए, अकिञ्चन को चिकित्सालय ले जाया गया। वहाँ, डॉक्टरों के पास शल्य-चिकित्सा प्रक्रिया से उसके पैरों को काटने के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं था। विच्छेदन और व्यापक रूप से झुलसने के कारण, अकिञ्चन को बहुत पीड़ा झेलनी पड़ी। एक महीने की गहन पीड़ा के बाद, वह ठीक होता हुआ प्रतीत हुआ। अचानक, उसे निमोनिया (फेफड़ों की सूजन) हो गई। डॉक्टरों

ने उसकी परिचर्या करने का पूरा प्रयास किया, परन्तु उससे उस पर कोई लाभदायक प्रभाव नहीं हुआ और वह चल बसा।

अकिञ्चन के माता-पिता उजाड़ हो गए थे। समय बीतने के साथ, उनका दुःख कुछ क्षीण हुआ, परन्तु हर बार जब वे अकिञ्चन के कक्ष से होकर जाते या उसमें प्रवेश करते, तब उन्हें बहुत दुःख होता और वे लगभग ध्वस्त हो जाते। छह महीने बीत जाने के बाद, वे उस पवित्र साधु, अकिञ्चन, के दर्शनार्थ गए। उन्होने उन्हें परामर्श दिया, "अपना घर बेच दो और दूसरे नगर में चले जाओ; एक बेटा भी गोद लो।" उन्हें वह परामर्श उचित लगा और उन्होंने उसके अनुसार आगे बढ़ने का निर्णय लिया।

अकिञ्चन की माँ ने अपने पति से कहा, "हम चक्रवर्ती को लम्बे समय से जानते हैं और वह निस्सन्देह एक सभ्य लड़का है। अकिञ्चन को उससे बहुत प्रेम था। किसी अनजान लड़के के स्थान पर, हम उसी को क्यों नहीं गोद ले लेते?" पति निःसंकोच सहमत हो गया, क्योंकि उसका भी चक्रवर्ती के बारे में अच्छा अभिप्राय था। उन्होंने अपने विचार के बारे में चक्रवर्ती से बात की और उसकी प्रतिक्रिया को अनुकूल पाते हुए, उसके पिता से सम्पर्क किया। उन्होंने चक्रवर्ती को गोद लेने की इच्छा व्यक्त की और उस व्यक्ति को प्रभूत धनराशि देने का प्रस्ताव रखा। उस अपव्ययी व्यक्ति को अपने बेटे से दूर होने में कोई संकोच नहीं था; जहाँ तक उसकी सोच थी, राजा तो वहाँ उनके घर में काम करने के लिए था ही।

चक्रवर्ती बचपन से ही रुग्ण रहता था, परन्तु प्रदूषण-रहित पर्वतीय प्रदेश में अपने नए घर में प्राप्त पौष्टिक आहार और उत्कृष्ट चिकित्सा देखभाल के कारण, उसने शीघ्र ही शारीरिक बलिष्ठता प्राप्त कर ली। उसके गोद लेने वाले माता-पिता में, उसके प्रति गहरा स्नेह विकसित हो गया; उन्होंने उसे एक उत्कृष्ट विद्यालय में भेजा और उसकी हर माँग को उत्सुकता से पूरा किया। उन्होंने कभी उससे कठोरता से बात नहीं की; उनके द्वारा उसे शारीरिक दण्ड देने का प्रश्न ही नहीं उठता था।

अकिञ्चन के लिए सब कुछ ठीक चल रहा था। फ़िर पैदा होने के उपरान्त, उसके द्वारा किसी बड़े दोष के न किए जाने पर भी, उस अच्छे लड़के ने

अपने पैर खो दिए, हफ्तों तक अतीव पीड़ित रहा और अन्ततः, उसका निधन भी हो गया। दूसरी ओर, चक्रवर्ती व्याधि, निर्धनता, अपनी प्यारी माता की मृत्यु और अपने पिता के बुरे व्यवहार के कारण बहुत कष्ट झेलता था। उसने जन्म से लेकर अब तक कुछ भी दोष नहीं किया था ताकि उसे इतना कष्ट झेलना पड़े। अकिञ्चन के माता-पिता द्वारा उसे गोद लिए जाने के बाद, उसकी दशा पूरी तरह से बदल गई। जिस सड़क दुर्घटना के बारे में लड़कों को कोई भनक नहीं थी और जिस पर उनका कोई नियन्त्रण नहीं था, उसने मौलिक रूप से उनके जीवन का मार्ग बदल दिया। अकिञ्चन के अनुकूल रहे भाग्य ने, उससे मुँह मोड़ लिया। दूसरी ओर, जो भाग्य चक्रवर्ती से मुँह सिकोड़ता था, उसे देखकर मुस्कुराने लगा।

इस तरह के कई उदाहरण नियति की शक्ति — जो वास्तव में पिछले जन्म में व्यक्ति द्वारा किए गए, तथा वर्तमान जन्म में फलित होकर इस जन्म के कारण रहे, कर्म के अतिरिक्त कुछ और नहीं हैं — उसको उजागर करने के लिए दिए जा सकते हैं। इसी तरह, स्वतन्त्र इच्छा से प्रयुक्त प्रयास की शक्ति के पक्ष में उदाहरणों की कोई कमी नहीं है।

मद्र देश के धर्मपरायण और न्यायपूर्ण शासक अश्वपति, सन्तान-प्राप्ति का इच्छुक था। इसलिए, गायत्री मन्त्र का जप करते हुए, प्रतिदिन उसने अग्नि में सहस्रों हवियाँ प्रदान कीं। उससे प्रसन्न होकर, देवी सावित्री उसके सामने प्रकट हुईं और उन्होंने उससे कहा कि उसकी इच्छा पूरी होगी। कालान्तर में उसे एक पुत्री का जन्म हुआ। राजा ने देवी के सम्मान में, जिसने उस पर कृपा की थी, बेटी का नाम सावित्री रखा। जब वह बड़ी हो गई, तो राजा ने अपने मन्त्री के साथ उसे यात्रा पर भेजा ताकि वह एक भावी पति की पहचान कर सके। जब वह लौटी, तो देवर्षि नारद अश्वपति के साथ थे। सावित्री ने कहा कि वह द्युमत्सेन के पुत्र सत्यवान् से विवाह करना चाहती है।

द्युमत्सेन अचल धर्मनिष्ठ था और वह शाल्व देश पर शासन किया करता था। वह और उसकी पत्नी भी सदैव सत्य ही बोलते थे। इसलिए, उन्होंने अपने इकलौते पुत्र का नाम सत्यवान् रखा। जब सत्यवान् बालक ही था, तब द्युमत्सेन ने अपनी दृष्टि खो दी। स्थिति का लाभ उठाते हुए, एक पड़ोसी राजा

ने शाल्वदेश पर सफलतापूर्वक आक्रमण किया। परिणामस्वरूप, द्युमत्सेन को अपने बेटे और पत्नी के साथ जंगल जाने के लिए विवश होना पड़ा। सत्यवान् को जंगल में देखकर, सावित्री को लगा कि वह उसके लिए आदर्श पति है।

नारद ने कहा कि सत्यवान् बहुत रूपवान, इन्द्र के समान वीर, पृथ्वी के समान सहनशील और आत्मसंयमी हैं। ऋषि ने आगे बताया कि परन्तु उसमें एक बड़ी कमी है और वह यह है कि एक वर्ष में उनकी मृत्यु हो जाएगी। ऋषि की बात सुनकर, अश्वपति ने सावित्री से एक दूसरा पुरुष चुनने को कहा। फ़िर भी, सावित्री ने कहा, "मैंने एक बार उन्हें अपने पति के रूप में चाहा है। भले ही वे दीर्घायु हो या अल्पायु, मैं उनके बदले किसी अन्य व्यक्ति का चयन नहीं कर सकती।" नारद ने राजा से कहा, "सावित्री को अपने धर्मसंगत निर्णय से विचलित नहीं किया जा सकता। सत्यवान् में अनुपम गुण हैं। मेरा अभिप्राय है कि आपको उसे अपनी बेटी दे देनी चाहिए।"

अश्वपति ने द्युमत्सेन से सम्पर्क किया, उसकी स्वीकृति प्राप्त की और फ़िर, अपनी बेटी का सत्यवान् से विवाह किया। विवाह के बाद, सावित्री ने अपने गहने उतार दिए और जंगल में अपने जीवन के लिए एक साधारण गेरुए वस्त्र को धारण कर लिया। वह सत्यवान् के लिए एक आदर्श पत्नी और द्युमत्सेन और उनकी पत्नी के लिए एक आदर्श बहू सिद्ध हुई। उससे वे बहुत प्रसन्न थे।

ऋषि नारद ने सावित्री को सटीक क्षण निर्दिष्ट किया था जिस पर सत्यवान् अन्तिम साँस लेने वाला था। उसने इस बात की जानकारी अपने पति को नहीं दी। परन्तु, वह सतत चिन्तित थी कि क्या होने वाला है। निर्दिष्ट दिन से चार दिन पहले, उसने एक उपवास प्रारम्भ किया और निश्चल होकर खड़ी हो गई। द्युमत्सेन द्वारा पूछे जाने पर, उसने उत्तर दिया कि वह एक व्रत का पालन कर रही है। उसने एक निवाला भी नहीं खाया और अन्तिम दिन तक वहीं रही जहाँ वह थी। उस प्रातःकाल, उसने औपचारिक रूप से अपना धार्मिक अनुष्ठान समाप्त कर दिया, परन्तु उसने घोषणा की कि वह सन्ध्याकाल तक खाना नहीं चाहती है।

जब सत्यवान् हवन के लिए समिधा एवं फूल और फल लाने जाने वाला था, तब सावित्री ने जंगल में उसके साथ जाने की इच्छा उससे व्यक्त की। सत्यवान् ने

उससे पूछा, "तुमने अतीत में जंगल में कार्य नहीं किया है। मार्ग कठिन है। तुम अपने उपवास के कारण बलहीन हो गई हो। तुम दूर तक कैसे चल पाओगी?" सावित्री ने अनुरोध किया, "मैं उत्साही हूँ और अपने उपवास से थकी नहीं हूँ। इसलिए, कृपया मुझे आपके साथ जाने से मना न करें।" सत्यवान् ने उसकी इच्छा मान ली, परन्तु वह चाहता था कि अपने माता-पिता की स्वीकृति प्राप्त करे। सावित्री ने उनकी सहमति प्राप्त की और सत्यवान् के साथ चली गई।

घने जंगल में दोनों ने फूल इकट्ठे किए। फ़िर अपनी कुल्हाड़ी लेकर, सत्यवान् लकड़ी काटने के लिए आगे बढ़ा। कुछ समय बाद, उसने थकान का अनुभव किया। उसके सिर और अङ्गों में बहुत वेदना हुई और वह इतना निर्बल अनुभव कर रहा था कि खड़ा भी नहीं हो पा रहा था। उसने अपनी स्थिति सावित्री को बताई। वह दौड़कर उसके पास गई, और जैसे ही वह लेट गया, उसने अपना सिर उसकी गोद में रख लिया। सत्यवान् ने अपनी आँखें बन्द कर लीं।

उस समय, सावित्री ने एक तेजोमय साँवले व्यक्ति को पाश पकड़े हुए देखा। वह श्रद्धापूर्वक उठ खड़ी हुई और उनसे पूछी, "आपका शरीर मनुष्यों जैसा नहीं है। मुझे लगता है कि आप एक देव हैं। कृपया मुझे बताएँ कि आप कौन हैं।" उस तेजोमय व्यक्ति ने कहा, "मैं यमराज हूँ। तुम्हारे पातिव्रत्य और तपस्या के कारण, तुम मुझे देखने और मुझसे बातें करने में सक्षम हो। तुम्हारे पति का जीवनकाल समाप्त हो गया है। मैं उनका प्राण ले जाने आया हूँ।" "हे देव, मैंने सुना है कि आपके दूत मनुष्यों की आत्मा को लेने का कार्य करते हैं। ऐसा क्यों है कि आप स्वयं आए हैं?" सावित्री ने पूछा। यम ने उत्तर दिया, "मेरे आने का कारण यह है कि सत्यवान् सद्गुणों का सागर है और धर्मनिष्ठ है।" फ़िर, ऋषि नारद द्वारा निर्दिष्ट सटीक क्षण में, यम ने सत्यवान् की आत्मा को वापस ले लिया; सत्यवान् की साँस थम गई।

अपने पति के प्रति समर्पण और अपने धार्मिक आचरणों के बल पर, सावित्री यम का अनुसरण करने में सक्षम थी और उसने ऐसा ही किया। यमराज ने उसे लौटने को कहा। हालाँकि, उसने कहा, "जहाँ मेरे पति जाते हैं या ले जाए जाते हैं, मैं भी उनके साथ जाऊँगी; यह धर्म के अनुसार है। सत्य को जानने वाले विद्वज्जनों ने घोषणा की है कि जब कोई व्यक्ति दूसरे के साथ

चलता है, तो वे मित्रता से जुड़ जाते हैं। आपके साथ मेरे चलने से हमारे बीच उत्पन्न मेलभाव के बल पर, आपसे बात करना चाहती हूँ।" फ़िर उसने ऐसे शब्द बोले, जो यम को भा गए।

यम - मैं तुमसे प्रसन्न हूँ। सत्यवान् के प्राण को छोड़कर कोई वरदान माँग लो।

सावित्री – मेरे ससुर की नेत्रदृष्टि और शक्ति वापस लौट आएँ।

यम – मैं तुम्हें वह प्रदान करता हूँ। अब लौट जाओ। स्वयं को कष्ट मत दो।

सावित्री – अपने पति के पास होने पर, मुझे कोई कष्ट अनुभव नहीं होता। मैं आपके साथ चलूँगी जहाँ भी आप उन्हें ले जाएँगे। कहा गया है कि एक अवसर पर भी सन्तों के साथ निकटता सबसे वाञ्छनीय है। उनके साथ मित्रता तो और भी अधिक मूल्यवान है। अतः सदैव सन्तों के संग में रहना चाहिए।

उसके द्वारा सत्संगति की प्रशंसा सुनकर और अपने पति तथा उनकी उपस्थिति में रहने की इच्छा व्यक्त करने पर, यम प्रसन्न हुए।

यम – दूसरा वर माँगो, परन्तु सत्यवान् के जीवन का वरदान मत माँगना।

सावित्री – कृपया मेरे ससुर को अपना राज्य पुनः प्राप्त करा दें और वे धर्ममार्ग से कभी भी विचलित न हों।

यम – तथास्तु। अब तुम लौट जाओ।

सावित्री – आप जैसे महान लोग तो शरण में आए शत्रुओं को भी क्षमा कर देते हैं। कृपया मुझ जैसे व्यक्ति पर दया करें।

यम – अपने पति के जीवन को छोड़कर, कोई भी वरदान माँग लो।

सावित्री – मेरे पिता, राजा अश्वपति, का कोई पुत्र सन्तान नहीं है। कृपया उन्हें एक पुत्र सन्तान का आशीर्वाद दें।

यम – जैसा तुम चाहती हो वैसा ही होगा। तुम बहुत दूर आ गई हो। अब लौट जाओ।

तब सावित्री ने यमराज की स्तुति की व अपने शब्दों से उन्हें प्रसन्न कर दिया।

यम - मैं तुमसे बहुत प्रसन्न हूँ। अपने पति के जीवन की पनःप्राप्ति के अतिरिक्त, कोई चौथा वरदान माँग लो।

सावित्री – मेरे पति और मेरे शक्तिशाली एवं पराक्रमी पुत्र हों, जो हमारे वंश को आगे बढ़ाएँ।

यम ने उससे वह देने का वचन किया जो वह चाहती थी। तब सावित्री ने उनसे कहा कि पहले तीन वरदानों से विलक्षण, चौथे को उसके पति के जीवन को लौटाए बिना पूर्ण नहीं हो सकता है। वह एक पतिव्रता महिला होने के कारण, सत्यवान् के अतिरिक्त किसी अन्य पुरुष से पुत्र नहीं पैदा कर सकती थी। यम ने उसकी बात मानी और सत्यवान् की आत्मा को मुक्त कर दिया।

तब यम ने उससे कहा, "तुमने मुझे अपने धर्मसम्मत वचनों से पूर्ण तृप्ति दी है। सत्यवान् स्वस्थ बना दिया जाएगा और तुम्हारे द्वारा वापस लिए जाने के योग्य होगा। वह लम्बे समय तक तुम्हारे साथ रहेगा और अपने धर्मपालन से, महान प्रसिद्धि प्राप्त करेगा। तुम दोनों के पुत्र होंगे जो राजा बनेंगे।" इस वरदान को देने के बाद, यम चले गए।

सावित्री वापस अपने पति के शरीर के पास लौट आई और उसका सिर अपनी गोद में रखकर बैठ गई। सत्यवान् ने आँखें खोलीं। उसने सोचा कि वह बहुत समय तक सोया था और उसे आश्चर्य हुआ कि सावित्री ने उसे पहले क्यों नहीं जगाया। उसने कहा कि उसने एक गहरे रंग के व्यक्ति को देखा था और जानना चाहता था कि वह व्यक्ति कहाँ है। सावित्री ने उसे आश्वासन दिया कि वह उसे बाद में बताएगी। फ़िर, वह उसे अपने निवास पर वापस ले गई।

दम्पती के लौटने पर कुछ ऋषि द्युमत्सेन के साथ थे। उन्होंने सत्यवान् से पूछा, "तुम दोनों इतनी देर रात के बदले पर बहुत पहले वापस क्यों नहीं आए? तुम्हारे माता-पिता चिन्तित थे।" सत्यवान् ने उत्तर दिया कि वह सो गया था। एक ऋषि ने घोषणा की, "तुम्हारे पिता की दृष्टि अचानक ठीक हो गई है। सम्भवतः सावित्री इसका कारण बता सकती है।" उसने उन सभी घटित घटनाओं का वर्णन किया। अगले प्रातःकाल, द्युमत्सेन के पूर्व के प्रजा जंगल में आए और उससे मिले। उन्होंने उससे कहा, "हे राजन्, आपका शत्रु और उसका परिवार उसके ही मन्त्रियों द्वारा मार डाला गया है।" उन्होंने उससे शाल्व देश के साम्राज्य की बागडोर सम्भालने का अनुरोध किया। यम ने जो वचन दिया था, वह सब पूरा हो गया।

द्युमत्सेन के भाग्य के अनुसार, उसे अन्धा होना और जंगल में रहना था। सावित्री के प्रयासों से उसने अपनी दृष्टि और अपना राज्य पुनः प्राप्त कर लिए। अश्वपति के भाग्य में पुत्र नहीं थे। परन्तु, उसने प्राप्त किया। सत्यवान् को युवावस्था में मरना था, परन्तु वह लम्बे समय तक जीवित रहा; उसने पुत्रों को जन्म दिया और कई वर्षों तक शाल्व राज्य पर शासन किया। यह कहानी इस बात का जीता जागता उदाहरण है कि किस तरह से जो होना भाग्य में तय है, उसे मानवीय प्रयासों से निश्चित रूप सें बदला जा सकता है।

मार्कण्डेय के भाग्य में उसके 16 साल की उम्र में मृत्यु होनी थी, परन्तु भगवान शिव जी की उनकी भक्तिपूर्ण पूजा के कारण, वह जीवित रहा। व्यास के पुत्र शुक इतने महान योगी थे कि उन्हें चुने हुए समय पर ही मुक्ति मिल गई थी। व्यक्तिगत प्रयास और भगवान की कृपा से, भाग्य के क्रम के परिवर्तन के कई उदाहरण आसानी से उद्धृत किए जा सकते हैं।

न तो नियति व न ही व्यक्तिगत प्रयास अकेले मानव जीवन की दिशा निर्धारित करते हैं; उनका एक दूसरे पर महान प्रभाव है। भाग्य — या अतीत के कर्म जो फलित होने लगे हैं — मानव प्रयास और दैवीय कृपा, ये मिलकर, जो कुछ भी होता है, उसे नियन्त्रित करते हैं। मनु ने भाग्य और व्यक्तिगत प्रयास की तुलना रथ के दो पहियों से की है; रथ एक पहिए पर नहीं चल सकता।

महाभारत युद्ध के बाद, कृष्ण पाण्डवों को भीष्म के पास ले गए, जो बाणों की शय्या पर लेटे थे, फ़िर भी तीव्रता से भगवान का ध्यान कर रहे थे। भगवान ने भीष्म को वेदना से मुक्त किया और उन्हें निर्बाध और पूर्ण ज्ञान प्रदान किया। फ़िर, उन्होंने भीष्म से उनसे पूछे गए प्रश्नों के उत्तर देने को कहा। युधिष्ठिर द्वारा पूछे गए प्रश्नों में से एक था, "भाग्य अधिक शक्तिशाली है या मनुष्य प्रयत्न?" अपने विस्तृत उत्तर में, भीष्म ने ब्रह्मा जी से वसिष्ठ द्वारा इसी तरह का प्रश्न पूछे जाने पर, ब्रह्मा जी के दिए गए उत्तर का उल्लेख किया।

उन्होंने कहा, "नियति की तुलना बीज से, और व्यक्तिगत परिश्रम की तुलना भूमि से, की जा सकती है। न तो बीज-रहित भूमि में और न ही बिना बोए बीज से फसल होती है। बीज और मिट्टी के संयोजन से, फसलें बढ़ती हैं। नियति और पुरुष प्रयत्न के संयुक्त प्रभाव से लोग स्वर्ग चले जाते हैं।

"कर्म का कर्ता अपने कर्मों का फल भोगता है; सुख और दुःख क्रमशः अच्छे और बुरे कर्मों के फल होते हैं। किए गए कर्म का सदैव परिणाम होता है। यदि किसी के कर्म का कोई फल नहीं होता, तो सभी कार्य तुच्छ होंगे; केवल नियति पर निर्भर रहने से लोग आलसी हो जाएँगे।

"प्रयास से सब कुछ प्राप्त किया जा सकता है, परन्तु जो मानव आलसी बनकर बैठा रहता है, उसे केवल भाग्य से कुछ भी नहीं मिल सकता। अच्छी तरह से निर्देशित मानवीय प्रयासों से, व्यक्ति स्वर्ग, भोग की वस्तुओं और अपनी इच्छाओं की पूर्ति को प्राप्त कर करता है। देवताओं ने प्रयत्न के बल पर मनुष्य की अपेक्षा अपने लिए उच्च स्थान प्राप्त किया। जिस प्रकार एक छोटी सी आग वायु की सहायता से बढ़ जाती है, उसी तरह निर्बल और अनुकूल भाग्य की क्षमता में बहुत बढ़ोत्तरी होती है जब भाग्य व्यक्तिगत परिश्रम से जुड़ा होता है। अपने प्रयासों में परिश्रमी एक सज्जन व्यक्ति उस धन को प्राप्त कर सकता है जो प्रतिकूल भाग्य द्वारा छिपा हुआ और परिरक्षित रहता है।

"एक पापी शीघ्र ही अपना बहुमूल्य लाभ खो देता है; मोह और लोभ में डूबे मनुष्य की सहायता भाग्य नहीं करता। एक मनुष्य ने भले ही अपने अनुकूल भाग्य से अपार धन, स्त्री और भोग की वस्तुएँ प्राप्त की हों, परन्तु वह निष्क्रिय बैठता, तो उनका आनन्द नहीं ले सकता है। जब तेल समाप्त हो जाता है, तब दीया बुझ जाता है। इसी तरह, मनुष्य-प्रयत्न के अभाव में, अनुकूल भाग्य अपना प्रभाव खो देता है। अनुकूल भाग्य एक ऐसे व्यक्ति का उत्थान नहीं कर सकता जो बुराई के मार्ग पर चलता हो; नियति में कोई अन्तर्निहित शक्ति नहीं है।

"जैसे एक शिष्य अपने गुरु का अनुसरण करता है, उसी प्रकार भाग्य द्वारा निर्देशित व्यक्ति का कर्म भी, उसके व्यक्तिगत प्रयास का अनुसरण करता है। व्यक्ति स्वयं ही स्वयं का मित्र है और स्वयं ही स्वयं का शत्रु है। सत्कर्म देवताओं का आश्रय है और इससे सब कुछ प्राप्त होता है। जो सदाचार में स्थित है, भाग्य उसके आड़े नहीं आ सकता है।"

2.26 मन पर आहार का प्रभाव

किसी छोटे से आश्रम में एक योगी रहते थे। प्रतिदिन वे आहार के लिए भिक्षाटन करते और जो मिले, उसे ग्रहण करते थे। इस प्रकार, वे एक शान्त और नीरवतापूर्ण जीवन बिताते थे। वहाँ के राजा के मन में उन मुनि के लिए बहुत सम्मान था। एक दिन, उसने भिक्षा के लिए उन तपस्वी को अपने महल में आमन्त्रित किया। संन्यासी ने कहा, "हे राजन्! मैं भीख माँगकर प्राप्त भोजन ही खा रहा हूँ। मुझे नहीं पता कि अगर मैं आपके महल में कुछ भी खाऊंगा, तो उससे मेरा मन कैसे प्रभावित होगा। इसलिए, मुझे लगता है कि आपके निमन्त्रण को अस्वीकार करना मेरे लिए सबसे अच्छा है।"

हालाँकि, शासक के बार-बार के अनुरोधों के उत्तर में, वे मान गए। जब तपस्वी अपने भोजन के बाद हाथ धो रहे थे, तो उनकी दृष्टि एक मोतियों के हार पर पड़ी। यह देखते हुए कि कोई भी उन्हें नहीं देख रहा है, उन्होंने उसे उठाया और अपने कमण्डलु में डाल दिया। फ़िर, वे बड़े कक्ष में गए, उन्होंने राजा को आशीर्वाद दिया और अपने आश्रम में लौट आए। कुछ समय बाद ही वे अपने कृत्य पर विचार करने लगे।

इस बीच, रानी ने उस कण्ठहार के खो जाने के बारे में राजा से परिवाद किया, जिसे उसने स्नानगृह में छोड़ दिया था। राजा ने स्थिति का विश्लेषण किया और यह निष्कर्ष निकाला कि सेवकों में से एक ने इसे चुराया होगा। उनसे सच्चाई उगलवाने के लिए, राजा ने उन सेवकों की कड़ी पिटाई करने की विधि अपनाई। सेवक अपने निर्दोष होने की दुहाई देते रहे। जब उनमें से एक ने परामर्श दिया कि वे मुनि चोर हो सकते हैं, तब सम्राट क्रोधित हो गया।

आश्रम में, तपस्वी व्यग्र थे। "मैंने आज क्या कुत्सित कर्म कर दिया है! किसके लिए मैंने हार चुराया? यदि मैं इसे पहनकर भिक्षा के लिए जाऊँ, तो निश्चित रूप से कोई भी मुझे भोजन नहीं देगा। अगर मैं इसे यहाँ छोड़ दूँ, तो कोई इसे चुरा सकता है। मैं चौर्योन्मादी क्यों बन गया? मैंने कई हार देखें हैं, परन्तु उनको पाने की इच्छा से कभी प्रभावित नहीं हुआ था। आज एक लालसा पैदा हुई है; इस तथ्य का तात्पर्य यही है कि मेरा मन अशुद्ध हो गया है। क्या कारण हो सकता

है?" उन्होंने विचार किया। उनकी समझ में आया कि उस दिन उन्होंने जो भोजन किया था, वह उनकी मानसिक अशुद्धि का कारण रहा होगा।

वे बलात् वमन करके राजा के पास गए। राजमहल में कोलाहल देखकर उन्होंने उसका कारण पूछा। राजा ने उत्तर दिया कि किसी ने भी यह स्वीकार नहीं किया था कि उसने खोया हुआ हार चुराया था। योगी ने कहा, "ये निर्दोष लोग कैसे दोषी होंगे? यह कण्ठहार ले लीजिए," और पश्चात्तापी तपस्वी बोलते रहे, "मैं, चोर, आपके लिए लाया हूँ।"

स्तब्ध होकर राजा ने संन्यासी से पूछा, "आप एक महान सन्त हैं। क्या आपके लिए यह उचित है कि आप हार उठा लें? इसके अतिरिक्त, क्या हुआ कि आप इसे वापस ले आए? मैं पूरी तरह से भ्रमित हूँ। कृपया स्पष्ट करें।" मुनि ने उत्तर दिया, "प्रारम्भ में, मैंने आपके महल में भिक्षा के लिए आपके निमन्त्रण को अस्वीकार कर दिया था। तथापि, मैंने अन्ततः आपके अनुरोध को स्वीकार कर लिया। परिणाम यह हुआ कि इतने सारे लोगों को अनावश्यक पीटा गया है और मैंने कुख्याति कमाई है। हे राजन्! आपने अपने धान्यागार में इतने चावल जमा कर रखे हैं। मुझे सन्देह है कि क्या आपने इसे न्याय विधि से एकत्र किया है।" "मुझे यह कहने के लिए खेद है कि इतना चावल इकट्ठा करने के लिए अनुचित साधनों को नियोजित किया गया है," सम्राट ने सच्चाई से उत्तर दिया। "मैंने इस चावल को केवल एक दिन खाया और तब भी यह मेरे मन को कलुषित करने के लिए पर्याप्त था," योगी ने कहा। "ऐसे में, मैं आप सभी पर, जो इसे प्रतिदिन खाते हैं, इसके प्रभाव के बारे में सोचकर चौंक जाता हूँ। इसलिए, कृपया मुझे इसके बाद, भोजन के लिए आमन्त्रित न करें। मैं भीख माँगकर अपना भोजन प्राप्त करूँगा जैसा कि मैंने अब तक किया है।" "क्या भिक्षा का भोजन भी अशुद्ध नहीं हो सकता?" राजा ने पूछा। "भोजन अशुद्ध हो सकता है, परन्तु वह केवल तब तक जब तक कि उसे मेरे भिक्षपात्र में नहीं डाला जाता। ऐसा शास्त्रों का निर्णय है," ऋषि ने स्पष्ट किया।

यह कहानी दर्शाती है कि आहार मन को प्रभावित करता है। खाद्य पदार्थों को सात्त्विक, राजस और तामस के रूप में वर्गीकृत किया गया है। सात्त्विक भोजन शुद्ध होता है तथा शक्ति और अच्छा स्वास्थ्य प्रदान करता है; दही

सात्त्विक आहार का एक उदाहरण है। राजस खाद्य इच्छा और क्रोध को उत्तेजित करता है; कटु पदार्थ इसके उदाहरण हैं। तामस भोजन से सुस्ती, नींद आदि आते हैं; दुर्गन्धयुक्त खाद्य और उच्छिष्ट पदार्थ तामस आहार के उदाहरण हैं। रसोइया की मानसिकता और बालों का एक रोम जैसे दोषपूर्ण कारकों की उपस्थिति भी, आहार की शुद्धता पर प्रभाव डालते हैं। इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि ठीक से पकाए गए सात्त्विक आहार का ही सेवन करें।

2.27 गृहस्थ का आचरण कैसा होना चाहिए

एक जिला कलेक्टर व्याकुल था। उसके कार्यालय में उसे यूँही मिलने आए उसके मित्र ने उसकी व्याकुलता को पहचाना और पूछा, "आपकी समस्या क्या है?" कलेक्टर ने कहा, "मेरी पत्नी और मेरे बच्चे व्याधिग्रस्त हैं। पहले मेरा बेटा रुग्ण हुआ और उसका संक्रमण दूसरों में फैल गया।"

मित्र - क्या तुमने डॉक्टर को नहीं बुलाया?

कलेक्टर - अवश्य, मैंने बुलाया। उन्होंने औषधियाँ लिखीं और कहा कि वे कुछ दिनों में ठीक हो जाएँगे।

मित्र - एक चौथाई एकड़ वाले घर में रहने वाले मात्र चार लोगों की व्याधि से तुम इतने चिन्तित हो। तो तुम अपने अधिकार क्षेत्र में आने वाली समस्याओं से कैसे निपटते हो, जो अनेक सहस्र एकड़ विस्तार वाला है और जहाँ लाखों की जनसंख्या है? यदि वास्तव में तुम्हारे क्षेत्र में महामारी हो, तो तुम्हारी स्थिति क्या होगी?

कलेक्टर - मैं स्वास्थ्य विभाग को सूचित करूँगा। जाँच की जाएगी और रोग की पहचान — हैजा, प्लेग या किसी और अन्य के रूप में — होगी। स्वच्छता-सहित उपचार और निवारक-उपाय युद्ध स्तर पर किए जाएँगे। मैं एक शान्त मस्तिष्क के साथ ऐसी स्थिति को कुशलतापूर्वक सम्भाल लूँगा।

मित्र - अगर इतनी बड़ी एवं व्यापक समस्या को तुम बिना घबराए निपटा सकते हो, तो तुम एक ही घर के चार सदस्यों तक सीमित छोटी समस्या को लेकर इतने व्याकुल क्यों हो?

कलेक्टर - दूसरों के विपरीत, जो लोग अभी व्याधिग्रस्त हैं, वे मेरे अपने हैं।

गहरे लगाव और इस भावना — "यह व्यक्ति या पदार्थ मेरा अपना है" — का हानिकारक प्रभाव ऐसा है कि कड़े परिश्रम से और कुशलता से, बिना किसी हानि के अपने आधिकारिक कर्तव्यों का निर्वहन करने वाले कलेक्टर के सामने जब विचार अपनी पत्नी और बच्चों की आई, तब वह अक्षम हो गया और चिन्ता से घिर गया।

एक तीर्थयात्री, अपने नगर जाने के मार्ग में एक धर्मशाला में रुका। उसने वहाँ पर परोसे गए निःशुल्क भोजन ग्रहण करके अपनी भूख का शमन किया। फ़िर, अच्छा काम करके पुण्य कमाने का इच्छुक, वह वहाँ आने वाले तीर्थयात्रियों को भोजन परोसने में वहाँ के कर्मचारियों के साथ मिल गया। इसके बाद, उसने उस स्थल को स्वच्छ करने में सहायता की। रात में सो जाने के पहले, वह दूसरों के साथ बात-चीत में लगा रहा, उन लोगों के प्रति सहानुभूति व्यक्त की जिन्होंने उसे अपनी व्यक्तिगत समस्याएँ बताईं और उन्हें लाभकारी सुझाव भी दिए।

उसने ऐसा बर्ताव किया जैसे कि वह धर्मशाला उसका घर हो और वहाँ के लोग उसके परिवार के सदस्य हों। फ़िर भी, उसका मन पूरी तरह से शान्त था और वह अगले प्रातःकाल, बिना किसी झिझक या खेद के चला गया। अपने घर लौटने के बाद, एक व्यक्ति ने उससे पूछा, "तुमने कल रात कहाँ बिताई थी?" "धर्मशाला में," उसने उत्तर दिया। "वहाँ क्या हुआ?" उसके सम्बन्धी ने पूछा। "कुछ महत्त्व की बात नहीं। मैंने वहीं खाया, सोया और चला गया। बस इतना ही।"

एक विवाहित व्यक्ति के कई कर्तव्य और उत्तरदायित्व होते हैं और उसे अपने परिवार को पीड़ित करने वाली कई समस्याओं का सामना करना पड़ता है। शास्त्र और भगवत्पाद जी ने उन्हें बिना किसी लगाव के अपने पारिवारिक जीवन बिताने का परामर्श दिया है। वह जब अपने कार्यालय से

जुड़े कार्यों में लगा हो, तब उसे अपने कर्तव्यों के पालन में उपर्युक्त कलेक्टर की तरह होना चाहिए और धर्मशाला में अपने प्रवास के समय उस तीर्थयात्री की तरह होना चाहिए। तब तो वह प्रभावी ढंग से और कुशलता से अपने कर्तव्यों का पालन करेगा और परिवार की समस्याओं का सामना करेगा, वह भी किसी मानसिक पीड़ा के बिना।

2.28 कर्म-योग

तीन भाई छुट्टियों में एक पहाड़ी प्रदेश पर गए और एक घर में रुके, जिसे उन्होंने अपने लिए पंजीकृत किया था। एक रात जब वे गहरी नींद में थे, एक प्रचण्ड भूकम्प ने उस क्षेत्र में विध्वंस मचा दिया। उस घर की छत गिर गई और वे तीनों मर ही जाते, यदि छत की तुला दण्ड का एक भाग कमरे के फर्नीचर पर आकर न अटकता। उस चरचराने की ध्वनि सुनकर भाईयों को लगा कि छत उनपर कुछ पल में गिरने ही वाली है। सहायता के आने तक उनके अपने स्थान पर बने रहने का प्रश्न ही नहीं था।

वे कक्ष के बाहर जाने वाले दो द्वारों की ओर मुड़े। बिजली के शॉर्ट सर्किट के कारण उनमें से एक के पास आग लग गई थी। आग की लपटें फैल रही थीं। खिड़कियों से टूटे शीशे के टुकड़े दूसरे द्वार की ओर जाने के मार्ग पर बिखरे हुए थे। एक भाई आग वाले द्वार की ओर भागा। वह बाहर भागने में सफल तो रहा, पर आग के कारण अत्यधिक जल गया और कई सप्ताह तक अस्पताल में भर्ती रहा। दूसरे भाई ने आग के मार्ग से जाने के सङ्कट को देख लिया, अतः वह शीशे के बिखरे टुकड़ों वाले मार्ग से यथासम्भव शीघ्रता से निकल गया। मार्ग में पड़े शीशे के टुकड़े उसके पैरों में चुभ गए थे। उसे दो दिन तक अस्पताल में भर्ती रहना पड़ा।

तीसरे भाई ने सोचा, "यहाँ रहना तो मूर्खता होगी। आग वाले द्वार की ओर जाना तो मूर्खता है क्योंकि उससे अपरिहार्य रूप से जलन के घाव आएँगे। अतः मुझे दूसरे द्वार से ही निकलना चाहिए। परन्तु, मुझे अपने पैर बचाने

के लिए कुछ तो करना ही होगा। उसने शय्या की चादर को चीरकर एक-एक भाग को अपने एक-एक पैर पर बाँध लिया। उसने शीघ्रता से काम किया; अतः यह पूरी प्रक्रिया कुछ क्षणों में पूर्ण हो गई। तत्पश्चात्, वह अपने चुने हुए द्वार की ओर चला। वह सकुशल वहाँ से निकलने में सफल रहा।

कोई भी व्यक्ति बिना कुछ किए रह नहीं सकता, जैसे कि वे भाई अपने कक्ष में ही बने रहने की स्थिति में नहीं थे, जहाँ वे लेटे थे। मनुष्य के सभी कर्मों का परिणाम होता ही है। यदि वह अधर्म में संलग्न होता है, तो भविष्य में अत्यन्त पीड़ा सहेगा, चाहे वह नरक में हो या धरती पर। उसका आचरण आग वाले द्वार की ओर भागने वाले उस भाई के समान होगा। जो अच्छे कर्म करता है, वह कुछ समय के लिए आनन्द की अनुभूति करता है, या तो स्वर्ग पाकर या धरती पर एक अच्छा जन्म पाकर। परन्तु, किसी भी स्थिति में उसे पुनर्जन्म लेना ही पड़ता है। इसलिए, अत्यन्त पुण्यार्जन के पश्चात् भी, संसार का बन्धन भोगना ही पड़ता है। उसका आचरण दूसरे भाई के समान होता है। आग से प्रज्वलित द्वार वाले मार्ग का चयन सरल लगता है, जैसे बुराई के मार्ग का। दूसरे द्वार का मार्ग चुनना, धर्म के मार्ग के समान, कठिन था जिसमें अपनी इन्द्रियों व मन को नियन्त्रित रखना पड़ता है।

भगवान ने बताया है कि एक व्यक्ति कर्मों से बिना बंधे भी, उन्हें किस प्रकार कर सकता है। व्यक्ति को फल की लालसा किए बिना, अपने सभी कर्मों व उनके फल ईश्वर को समर्पित कर, अपने कर्म करते रहना चाहिए। इस प्रकार कर्म करते हुए भी, कर्मफल के लगाव से निर्लिप्त रहना ही कर्म-योग कहलाता है। कर्म-योगी की तुलना तीसरे भाई से की जा सकती है, जो उसी द्वार से निकलकर बच गया, जिससे कि दूसरा भाई गया था (पर बिना किसी चोट के)। तीनों में से सबसे बुद्धिमान भाई ने पट्टियाँ बाँधकर अपने पैरों की रक्षा कर ली; कर्म-योगी भी अपने कर्मों व उनके फल ईश्वर को समर्पित कर, स्वयं की रक्षा कर लेता है।

एक व्यक्ति ईश्वर की पूजा करके उन्हें फल और अन्य खाद्यों का नैवेद्य लगाया करता था। पूजा के पश्चात्, वह उस नैवेद्य का एक अंश प्रसाद के रूप में ग्रहण करता था। उसके एक नास्तिक मित्र ने उपहास करते हुए, एक

बार उससे कहा, "नैवेद्य की यह प्रक्रिया तुम्हारी मूढ़ता है। जो फल तुम ईश्वर को समर्पित करते हो, वह वहीं रहता है जहाँ उसे रखा गया था। न ही उसमें किसी भी प्रकार का कोई भौतिक विकार आता है। और तो और, उसे अन्ततः तुम ही ग्रहण करते हो, न कि वह ईश्वर, जिनकी तुमने पूजा की।"

भक्त ने मन्दहास सहित उत्तर दिया, "मैं प्रभु को इस विश्वास के साथ नैवेद्य करता हूँ कि भगवद्गीता के उनके वचन के अनुसार, वे उसको स्वीकार करेंगे। स्वीकृत करने के पश्चात्, वे अपनी इच्छानुसार उसका विनियोग करने के लिए पूर्णतः स्वतन्त्र हैं। मेरा मानना है कि चूँकि वे सर्वशक्त हैं, वे पूर्णतया समर्थ हैं कि उसे अदृश्य करें, या उपभोग करने के बाद भी उसके पूर्ण स्वरूप में ही उसे यहाँ रहने दें। मेरा मानना है कि यह ईश्वर ही हैं जो उसे इस प्रकार ग्रहण करते हैं जिसकी कल्पना मनुष्य द्वारा नहीं की जा सकती है, और पुनः उसे मेरे लिए यहाँ छोड़ जाते हैं। जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है, मैं नैवेद्य करने के बाद जो स्वीकार करता हूँ, वह ईश्वर द्वारा उपभुक्त वस्तु का ही शेष भाग है।"

"अभी अभी जब एक प्रसिद्ध राजनेता तुम्हारे शहर आया, तुमने एवं दूसरों ने उसका स्वागत किया व उसे पुष्पमालाएँ अर्पित कीं। वह निश्चित ही सभी मालाओं को नहीं पहन सकता था, ना ही उसने उन्हें पहना। तब उसने अपने को दी गई मालाओं में से, एक माला तुम्हें दी और तुमने अत्यधिक हर्ष से उसे स्वीकार किया। जैसे जैसे वह अपने समर्थकों की भीड़ के मध्य से गया, उसने कुछ मालाएँ उछालकर उनकी ओर फेंकीं और भीड़ ने जय-जयकार किया। यह सर्वथा सम्भव है कि किसी समर्थक को वही माला वापस मिल गई हो जो उसी ने भेंट की थी। यद्यपि आपका नेता आपकी दी हुई मालाएँ रखता नहीं, तथापि आप लोग उसे मालार्पण करने से अपने आप को नहीं रोकेंगे; आप उसे सम्मानित करके प्रसन्न होते हैं, और आप उससे नहीं पूछते कि वह उन मालाओं का क्या करेगा। ऐसे में, मेरे निष्ठापूर्वक प्रभु को नैवेद्य अर्पित कर प्रसन्न रहने से, तुम इतना असन्तुष्ट क्यों हो? यदि तुम्हारा नेता तुम्हें मालाएँ लौटा सकता है, तो मेरे प्रभु मेरे नैवेद्य का उपभोग कर मुझे अनुगृहीत क्यों नहीं कर सकते? एक कर्म-योगी

तो न केवल खाद्य पदार्थ, अपितु अपने आचार-विचार व सभी कर्म ही, ईश्वर को समर्पित कर देता है।"

एक व्यक्ति के दो सेवक थे। एक था जो अपने स्वामी का गुणगान करने में तो बड़ा निपुण था, पर उनके आदेश मानने में नहीं। दूसरा अपने सभी सौंपे गए कार्यों को दक्षता से पूरा करने के साथ ही स्वामी का भी सम्मान करता था। स्वामी को अवश्य ही प्रथम की अपेक्षा दूसरा सेवक अधिक प्रिय था। जो मनुष्य, दूसरे सेवक की भांति, ईश्वर द्वारा विहित एवं शास्त्रों द्वारा आदिष्ट सभी कर्मों को निष्ठापूर्वक करता है, इतना ही नहीं, वह ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पण भाव से कर्म करता है, वह ईश्वर को प्रसन्न करता है और उनकी अपार कृपा का पात्र बनता है। ईश्वर की कृपा से, उसका चित्त अत्यन्त शुद्ध हो जाता है। फ़िर उचित समय पर, वह परम सत्य को प्राप्त कर, मुक्त हो जाता है।

एक माँ अपने नन्हें पुत्र से बहुत प्रेम करती थी और उसका बहुत ध्यान रखती थी। एक दिन, वह शिरोवेदना, ज्वर और मतली की समस्या से ग्रस्त होते हुए जगी। तथापि वह उठी और अपने पुत्र के प्रातः की आवश्यकाताओं की व्यवस्था करने व खाना बनाने में जुट गई। उस दिन उसने देखा कि चावल कुछ अधिक पक गए थे। तत्क्षण ही वह पुनः भात बनाने लगी। उसके पति ने यह देखा और उससे कहा, "तुम इतनी रुग्ण हो और तुम्हें अत्यन्त पीड़ा हो रही है। ऐसी अवस्था में क्यों चिन्तित हो रही हो? जो भात बना है, वह तो खाने योग्य है।" उसकी पत्नी ने उत्तर दिया, "मैं अपने बेटे को वैसा ही भोजन देना चाहती हूँ जैसे उसे खाने का अभ्यास है व जो उसे अभीष्ट है। इस अधिक पके भात को तो मैं स्वयं ही खा लूंगी।" पुत्र के प्रति अगाढ़ प्रेम में उस माँ ने उसके लिए सबसे श्रेष्ठ व्यवस्था करने का प्रयास किया। इसी प्रकार, एक कर्म-योगी, ईश्वर के प्रति अपनी भक्ति के फलस्वरूप, अपनी योग्यतानुसार श्रेष्ठकर्म ही करता है और अधर्म से बचता है।

दो छात्र एक परीक्षा में बैठे। अच्छी तैयारी करने के पश्चात् भी, उनकी परीक्षा अच्छी नहीं हुई, क्योंकि प्रश्न कठिन आए थे और कुछ प्रश्न निर्धारित पाठ्यक्रम से बाहर के थे। उनमें से एक जो कर्म-योग का अभ्यास नहीं

करता था, अपनी विफलता से अत्यन्त शोकाकुल हो गया। जब वह घर जाकर अगली परीक्षा के लिए तैयारी करने लगा, तब उसका मन पूर्ण समय उसी दिन के प्रश्नपत्र की ओर जाता रहा। इस चिन्ता ने उसकी तैयारी को अत्यन्त हानि पहुँचाई। दूसरा बालक जो कर्म-योगी था, तनिक भी चिन्ताग्रस्त नहीं हुआ। यह इसलिए कि उसने परीक्षा स्थल पर ही परीक्षा और उसके परिणाम को ईश्वर के लिए समर्पित कर दिया था। घर लौटकर उसने बिना किसी भी चिन्ता के, अगली परीक्षा की तैयारी पर अपना ध्यान केन्द्रित किया।

अगले दिन, पहला लड़का एक कठिन प्रश्न देखकर अत्यन्त दिग्भ्रान्त हो गया। कर्म-योगी ने उस प्रश्न को ध्यानपूर्वक पढ़ा और भयग्रस्त हुए बिना अपनी शक्ति के अनुसार उसका उत्तर लिखा। यह निश्चित ही है कि पहले लड़के ने दूसरे से निचली श्रेणी प्राप्त की। इस उदाहरण से पता चलता है कि कर्म-योगी की दक्षता उस व्यक्ति की दक्षता से अधिक होती है, जो अपने कर्मों के फल की लालसा से काम करता है।

भगवान ने भगवद्गीता में घोषणा की है — "तुम अपने विहित कर्तव्यों का पालन करो, क्योंकि कर्म अकर्म से श्रेष्ठतर है। इसके अतिरिक्त, अकर्म से तुम्हारे शरीर का निर्वाह भी सम्भव नहीं होगा। ईश्वरार्थ किए गए अपने कार्यों के अतिरिक्त, मनुष्य अपने सभी कार्यों से बँध जाता है। हे कुन्ती के पुत्र, बिना आसक्ति के ईश्वरार्थ कर्म करो... बिना आसक्ति के अपना कर्तव्य निभाकर व्यक्ति (अपने चित्त की शुद्धि के द्वारा) मोक्ष को प्राप्त करता है।"

2.29 सर्वोच्च के ज्ञान हेतु योग्यता

स्वर्ग के इच्छुक, वाजश्रवा ने विश्वजित् नामक यज्ञ किया जिसमें याजक को अपनी समग्र सम्पत्ति का दान कर देना होता है। उनका नचिकेता नाम का एक पुत्र था। विश्वास से भरे होने के कारण, लड़का यह देखकर निराश हो गया कि उसके पिता ने ब्राह्मणों को जो गाएँ उपहार में दीं थीं, वे जर्जर और

बाँझ थीं। उसे लगा कि एक पुत्र के नाते, उसे अपने पिता के यज्ञ की इस कमी की भरपाई के लिए कुछ करना चाहिए। उसने स्वयं को दान में समर्पित करने का निर्णय किया। तो उसने अपने पिता से पूछा, "आप मुझे किसे दान करेंगे?" वाजश्रवा ने उसकी उपेक्षा की। जब नचिकेता ने तीसरी बार पूछा, तो वाजश्रवा ने गुस्से में उससे कहा, "मैं तुम्हें यम को दान दे देता हूँ।"

नचिकेता ने सोचा, "मेरे पिता ने बिना किसी उद्देश्य के विचार के, ये शब्द कहे हैं। फ़िर भी, उन्हें झूठा नहीं होने देना चाहिए।" लड़का यम के निवास के लिए निकल पड़ा। चूँकि यम बाहर गए हुए थे, नचिकेता ने तीन दिनों तक धैर्यपूर्वक उनकी प्रतीक्षा की। जब यम वापस आए, तो उन्होंने तीन दिनों के लिए एक अतिथि के सत्कार न करने के अपने पाप के प्रायश्चित्त के रूप में, लड़के को तीन वरदान दिए।

अपने तीसरे वरदान के रूप में, नचिकेता ने जानना चाहा कि शरीर, इन्द्रियों और मन से पृथक एक आत्मा है या नहीं, जो शरीर की मृत्यु से बच जाती है। नचिकेता का परीक्षण करने और यह निर्धारित करने के लिए कि क्या वह सचमुच आत्मतत्त्व के बारे में समझाने योग्य है, यम ने उसे विरत करने और विभिन्न प्रकारों से लुभाने का प्रयत्न किया।

यम ने कहा, "सौ वर्ष तक जीवित रहने वाले पुत्रों और पौत्रों को माँग लो। कई गायों, घोड़ों, हाथियों एवं सोने और एक विस्तीर्ण भूखण्ड को माँग लो। जितने वर्ष चाहो, जिओ। यदि तुम कुछ अन्य समकक्ष वरदान की इच्छा रखते हो, तो उसे माँग लो। ऐश्वर्य और लम्बी आयु माँग लो। एक विशाल क्षेत्र के राजा बन जाओ। मैं तुम्हें सभी भोग्य वस्तुओं को भोगने के योग्य बना दूँगा।

"अपनी इच्छा के अनुसार, काम्य वस्तुओं को माँग लो जो दुर्लभ हैं। यहाँ रथ और संगीत वाद्य के साथ दिव्य अप्सराएँ हैं; उनका भोग मनुष्य नहीं कर सकते। उनसे अपनी सेवा कराओ। परन्तु, यह मत पूछो कि क्या शरीर-पतन के बाद भी कुछ विद्यमान रहता है।"

यद्यपि यम ने लड़के को लुभाने का पूरा प्रयास किया, फ़िर भी, नचिकेता अब भी विशाल शान्त सरोवर की तरह अडिग बना रहा। उसने कहा, "हे

यमराज, आपके द्वारा उक्त ये सभी भोग की वस्तुएँ क्षणभङ्गुर हैं। इतना ही नहीं, वे मनुष्य की इन्द्रियों की शक्ति को घटाती हैं। सारा जीवन, बिना किसी अपवाद के, वास्तव में छोटा है। इसलिए ये सब आपके ही रहने दें।" उसने आग्रह किया कि वह केवल वही वरदान चाहता है जो उसने माँगा था। नचिकेता के स्वभाव और दृढ़ता से प्रसन्न होकर, यम ने उन्हें आत्मा के बारे में प्रबोधित किया; बालक प्रबुद्ध हो गया।

कठोपनिषद् की इस आख्यायिका से जाना जाता है कि अटूट वैराग्य उस व्यक्ति का विशिष्ट लक्षण है जो सर्वोच्च के ज्ञान के लिए योग्य है।

2.30 तृप्ति

सन्तान के इच्छुक एक व्यक्ति ने भगवान से प्रार्थना की कि वे उसे सन्तान का आशीर्वाद दें। शीघ्र ही, वह एक लड़के का पिता बन गया। बच्चे ने अपनी माँ का दूध पीने से मना कर दिया। इसलिए, भक्त ने फ़िर से भगवान से माँग की और कहा, "आपने मुझे एक बच्चा दिया है परन्तु वह दूध का सेवन नहीं करता है। मैं भयभीत हूँ कि वह नहीं बचेगा। तो कृपया कुछ करें।" "ऐसी बात है?" भगवान ने कहा, "चलो, कल से वह दूध पीना प्रारम्भ कर देगा। चिन्ता मत करो।" वह समस्या हल हो गई, परन्तु बच्चा धीरे-धीरे असहनीय रूप से दुष्ट हो गया।

एक बार फ़िर, भक्त भगवान की ओर मुड़ा। उसने उनसे बच्चे को सुधारने की प्रार्थना की। "ऐसा ही हो," प्रभु ने आशीर्वाद दिया। उसी क्षण से, बालक ने अपना दुराचार बन्द कर दिया। वह इतने शान्तस्वभाव का हो गया कि चुप रहने लगा। इसे सहन करने में असमर्थ, भक्त ने भगवान से अपनी सहायता के लिए आने का अनुरोध किया। इसके बाद, बच्चे ने सामान्य रूप से बातचीत की। ऐसी कई प्रार्थनाओं के बाद, भक्त ने अपने पुत्र का विवाह कराया। कुछ वर्ष बीत गए, परन्तु उसकी बहू ने गर्भधारण

नहीं किया। इसलिए, भक्त ने भगवान से प्रार्थना की, "मुझे लगता है कि अगर आपने मुझे बच्चा नहीं दिया होता, तो मैं अधिक सन्तुष्ट रहता। मेरे पुत्र के कोई सन्तान न होने के विचार से मेरा मन दुःख से भर गया है।"

यह बात स्पष्ट है कि ऐसी प्रार्थनाओं का कोई अन्त नहीं है। सामान्यतः, लोग अपने पास जो कुछ है, उससे सन्तुष्ट नहीं होते। हमारे पूर्वजों ने घोषणा की है, "एक रुपये वाला व्यक्ति सौ के लिए तरसता है। जिसके पास सौ है, वह सहस्र चाहता है। जिसके पास एक सहस्र हैं, वह एक लाख पाने की इच्छा रखता है। एक लाख वाला, राजा बनना चाहता है। एक राजा धन के देवता कुबेर बनने के लिए तरसता है। कुबेर देवताओं के राजा इन्द्र बनना चाहते हैं। इन्द्र ब्रह्मा के पद के लिए लालायित हैं। विष्णु की स्थिति के लिए ब्रह्मा इच्छुक रहते हैं। विष्णु शिवपद का लोभ करते हैं। वास्तव में, इच्छाओं की सीमा को किसने प्राप्त किया है?"

एक विनोदी कविता में कहा गया है, "एक पहाड़ बहुत बड़ा है। सागर पहाड़ से भी बड़ा है। आकाश सागर से अधिक विस्तृत है। ईश्वर आकाश से भी बड़े हैं। ईश्वर से भी अधिक व्यापक इच्छा है!" जहाँ अतृप्ति मनुष्य को दुःखी करती है, वहीं सन्तोष स्थायी आनन्द प्रदान करता है। एक विरक्त पुरुष तृप्त रहता है; तृप्ति वैराग्य का पक्षधर है।

2.31 ममत्व शान्ति का विध्वंसक है

एक व्यक्ति लम्बे समय तक उस तरह के घर के बारे में सोचता रहा जो उसके लिए आदर्श होगा और उसने कई जानकारों से परामर्श भी किया। अन्त में, उसने उसकी एक स्पष्ट रूपरेखा बनाई। उसने निर्माण का कार्य एक सक्षम और प्रतिष्ठित अभियन्ता को सौंपा। परन्तु, वह इस बात पर इतना चिन्तित था कि अपने मन की कल्पना की अपेक्षा कोई कमी या विचलन नहीं होना चाहिए, ताकि वह प्रायः अपना सारा समय साइट पर बिताता रहा। उसने दूसरों को उपद्रव पैदा करने की सीमा तक सुझाव और

टिप्पणियाँ दीं। अन्त में उसके सपनों का घर बन गया और वह प्रसन्नता से अपने परिवार के साथ उसमें चला गया।

जब भी किसी ने उसके घर की तनिक सी भी प्रशंसा व्यक्त की, तो वह गर्व से झूम उठता था। एक दिन, एक चित्र लटकाने के इच्छुक उसका बेटा, एक दीवार में कील ठोकने लगा। जैसे ही लड़के ने एक वार किया, उसका पिता दौड़ते हुए कक्ष में आ गया। उस व्यक्ति का मुखमण्डल गुस्से से लाल हो गया और उसने अपने बेटे को तुरन्त हथौड़ा मारने से रोकने के लिए आदेश दिया। "तुम ऐसा कुछ करने का साहस कैसे कर सकते हो जो दीवार की चिकनाई और सुन्दरता को क्षति पहुँचा सकता है?" उसने पूछा। "यदि तुम चित्र चाहते हो, तो उसे अपने मेज़ पर रखो।" लड़का उसकी प्रतिक्रिया की तीव्रता से अचम्भे में पड़ गया, क्योंकि उसका पिता सामान्यतः मृदुभाषी और क्षमाशील था।

कई वर्ष बीत गए। अपने बिगड़ते हुए स्वास्थ्य को मन में रखते हुए, उसने स्वयं को अच्छी चिकित्सा सुविधाएँ वाले एक पर्वतीय प्रदेश में स्थित आवास में स्थानान्तरित करने का निर्णय लिया। उसने एक बड़ी राशि में अपना घर बेच दिया और अधिकतर राशि का भुगतान बैंक ड्राफ्ट के रूप में प्राप्त किया। चूँकि उसका बैंक उस दिन बन्द हो चुका था, उसने अगले दिन बैंक में प्रस्तुत करने के अभिप्राय से ड्राफ्ट को अपनी अलमारी में सहेज कर रख दिया। उस रात, जब वह करवटें बदलता रहा और सो नहीं पाया, उसने एक ध्वनि सुनी। यह निर्धारित करने का तनिक भी प्रयास किए बिना कि उसका कारण क्या हो सकता है, उसने पुलिस को फ़ोन किया। शीघ्र ही कुछ पुलिसकर्मी पहुँचे। जाँच करने पर, उन्होंने पाया कि उसका कारण एक चोर नहीं, प्रत्युत एक चूहा था।

उनके जाने के बाद, उसकी पत्नी ने उससे पूछा, "आप इतनी तुरन्त क्यों घबरा गए?" "मैं ड्राफ्ट की सुरक्षा को लेकर इतना चिन्तित था कि सो नहीं पाया। जैसे ही मैंने एक ध्वनि सुनी, मुझे लगा कि मेरा भय सच हो गया है और एक चोर घुस आया है जो ड्राफ्ट चुरा लेगा। इसलिए मैंने सहायता के लिए फ़ोन किया। अब मुझे पता चला कि मैंने अति प्रतिक्रिया दे दी," उसने झेंपते हुए

कहा। उसने बिना सोए रात बिताई और अगले प्रातःकाल अपने बैंक के खुलने के पहले ही उधर पहुँच गया। ड्राफ्ट प्रस्तुत करने के बाद ही उसने चैन की साँस ली। उसके जाने के कुछ समय बाद, बैंक में एक अजीब घटना घटी।

कुछ चेक और ड्राफ्ट, जिसमें उसके द्वारा सौंपा गया ड्राफ्ट भी सम्मिलित था, गुम हो गए। प्रबन्धक और सम्बन्धित कर्मचारियों को तनाव ने जकड़ लिया और वे खो गई वस्तुओं को व्यग्रतापूर्वक ढूँढने लगे। जब एक चपरासी ने उस मर्म के समाधान की घोषणा की, तब सबने चैन की साँस ली। प्रबन्धक के पाँच वर्षीय बेटे ने, जो अपने पिता से मिलने के लिए बैंक आया था, एक मेज़ पर पड़े चेक और ड्राफ्ट लेकर शौचालय में प्रवेश किया था। एक बाल्टी में पानी भरकर, वह उनसे कागज़ की नावें बनाने ही वाला था जब चपरासी ने उसे देखा था और उसे रोक दिया था।

जिसने ड्राफ्ट को सौंपा था, उसे तो यह सब पता नहीं था। अगले दिन, उसने पर्वतीय प्रदेश में स्थित अपने अभिलषित घर के क्रय को अन्तिम रूप दिया, जहाँ उसने रहने का मन बनाया था। शीघ्र ही वह अपने नए निवास में पूर्ण रूप से स्थानान्तरित हो गया। उसका पुराना घर गिरा दिया गया और वहाँ एक शॉपिंग कॉम्प्लेक्स बनाया गया। जब उसने पहली बार शॉपिंग कॉम्प्लेक्स देखा, तो उसने अपने मित्र से कहा, "यह अच्छा लग रहा है।"

कहानी के व्यक्ति के मन में पहले दृढ़ भाव था, "यह मेरा घर है," और उस भवन से उसे बहुत लगाव था। इसलिए, एक कील को एक दीवार में ठोंकना भी उसे ऐसा लगता जैसे उसके मन में भाला झोंक दिया गया हो। घर बेचने व बदले में बैंक ड्राफ्ट प्राप्त करने के बाद, उसने दृढ़ता से माना, "यह मेरा ड्राफ्ट है," और उसे महत्त्वपूर्ण माना। परिणामस्वरूप, वह उसके बारे में चिन्तित होते हुए, बिना नींद के अपनी रात बिताई। उसने उसे अपने बैंक में प्रस्तुत करते ही, उसे अपने मूल्यवान पदार्थ के रूप में मानना छोड़ दिया। तो, उसने आराम किया। दूसरी ओर, बैंक के अधिकारियों ने, जो उसके अस्थायी संरक्षक बन गए, अपनी शान्ति खो दी जब उन्होंने पाया कि वह गुम हो गया है।

वही व्यक्ति अपने निवास को पहाड़ी प्रदेश में स्थानान्तरित कर दिए जाने के बाद, जब उसने पहली बार अपने पूर्व महल के स्थान पर एक शॉपिंग

कॉम्प्लेक्स देखा, तब वह उद्विग्न नहीं हुआ; प्रत्युत वह उस नए निर्माण की सराहना करने में सक्षम था। इसका कारण यही था कि अब उसके पास अपने पूर्व महल के सम्बन्ध में ममता, यानी ऐसी भावना कि 'अमुक पदार्थ मेरा है,' नहीं थी, अतः उसके विध्वंस ने उस पर प्रभाव नहीं डाला। उसके प्रति उसकी भावना पहले जैसी प्रबल होती, तो वह शोक से मूर्छित हो जाता। अन्ततोगत्वा, वह पहले उसकी दीवार में कील ठोकने को भी सहन नहीं कर पाया था।

विदेह देश के सम्राट जनक को एक बार सूचना मिली कि उनकी राजधानी मिथिला में आग लगी हुई है। वे पूरी तरह से अविचलित बने रहे और बोले, "यद्यपि मिथिला जल रही है, तथापि मेरा कुछ भी नहीं जल रहा है।" वे अपने राज्य के सम्बन्ध में ममता से पूरी तरह से मुक्त थे और इसलिए, यद्यपि वे निष्ठापूर्वक शासक के भारी बोझ को झेलते रहे, तथापि सदैव शान्त बने रहे।

जब कोई व्यक्ति में किसी वस्तु के सम्बन्ध में ममता होती है, तो वह उस वस्तु के साथ जो होता है या जो होने की सम्भावना को मानता है, उससे प्रभावित होता है। उसके उस विचार को छोड़ने पर, वस्तु उसकी मानसिक अशान्ति के लिए एक उत्प्रेरक बनना बन्द कर देती है। व्यक्तियों, स्थानों और वस्तुओं के सन्दर्भ में, 'मेरा'-भाव का परित्याग, एक व्यक्ति को अपनी दक्षता से समझौता किए बिना, शान्त और आनन्दित बनाता है।

2.32 आनन्द का स्रोत

"मिठाई से मुझे बहुत आनन्द मिलता है। इसलिए, जब भी उन्हें प्रस्तुत किया जाता है, मैं उन्हें स्वीकार करने में संकोच नहीं करता। इसके अतिरिक्त, मैं प्रतिदिन कुछ मिठाई खाने का अभ्यास बनाए रखता हूँ," एक व्यक्ति ने अपने मित्र से कहा। कुछ दिन बीत गए। वह रुग्ण हो गया और उसे शय्या पर लिटा दिया गया। उसके डॉक्टर ने उसे सूचित किया कि वह मधुमेह और संक्रमण से पीड़ित है। उसका मित्र, जो इन सब से अनजान था, एक दिन उसके पास आया और उसने कहा, "मैं तुम्हारे लिए मिठाई का एक डिब्बा लाया हूँ।"

अधिकतर निराशा में, शय्या पर पड़े रोगी ने उत्तर दिया, "ओह! इसे मुझसे दूर ले जाओ। मैं इसे सर्वथा नहीं चाहता। मिठाई मेरे लिए विष के समान है।"

इस कहानी से पता चलता है कि जो वस्तु एक समय में सुखकारी मानी जाती है, वही दूसरे अवसर पर दुःख का स्रोत बन जाती है। यदि मिठाइयाँ मूलभूत रूप से सुख का स्रोत होतीं, तो व्यक्ति उनका कभी तिरस्कार नहीं करता; उसकी व्याधि ने अवश्य ही मूलभूत सुख के प्रति उसकी इच्छा को, और दुःख के प्रति उसकी घृणा को, कम नहीं किया था। वास्तव में, थोड़ा सा विश्लेषण आसानी से प्रकट करेगा कि ऐसा कोई इन्द्रिय-विषय नहीं है जो आन्तरिक रूप से आनन्द का स्रोत है। इस तरह के विश्लेषण वैराग्य को बढ़ाते हैं।

एक पिता ने अपने बच्चे को पुचकारा। जब वह उसे चूमा ही रहा था, उसकी कँटीली दाढ़ी और मूंछ बालक के मुख पर चुभने लगे और उससे उसे तेज़ वेदना हुई। बच्चा चीख उठा। उसे शान्त करने हेतु उत्सुक पिता ने बार-बार उसे चूमा। फलस्वरूप, बच्चा और भी अधिक विलाप करने लगा।

बृहदारण्यक-उपनिषद् सिखाता है, "केवल आत्मार्थ ही सब कुछ प्रिय है।" एक पति अपनी पत्नी से केवल उसके लिए प्यार नहीं करता, प्रत्युत इसलिए प्यार करता है क्योंकि वह उसे अपना जीवनसाथी मानता है और उसके सुखों को अपने सुख के साथ जोड़ता है। उपर्युक्त उदाहरण में, पिता बच्चे को सान्त्वना देना चाहता था क्योंकि वह उसे अपना बच्चा मानता था और अपनी सन्तुष्टि को उसके सान्त्वना और आनन्द के साथ जोड़ता था।

भगवत्पाद जी ने अपनी शतश्लोकी में सिखाया है, "कोई वस्तु तब तक प्रिय बनी रहती है जब तक उससे सुख प्राप्त होता है, और जिस समय वह दुःख का कारण होता है, उस समय उससे घृणा होती है। एक ही वस्तु को सदैव इष्ट या अनिष्ट नहीं किया जा सकता है। कभी-कभी, जो प्रिय नहीं था, वह प्रिय हो सकता है। इसके अतिरिक्त, जो प्रिय था, वह अप्रिय हो सकता है। जिस आत्मा की ओर प्रेम कभी कम नहीं होता, वह आत्मा सदैव सर्वाधिक प्रिय होती है।"

आत्मा सदैव सबसे प्रिय है क्योंकि यह सदैव आनन्द का स्रोत है। वास्तव में, उपनिषद् इस बात पर बल देते हैं कि आत्मा विशुद्ध, अर्थात् अदुःखमिश्रित, आनन्द-स्वरूप है। चूँकि व्यक्ति शुद्ध आनन्द होने के अपने मूलभूत स्वरूप को जानने में विफल रहता है, इसलिए वह इन्द्रिय-विषयों को भूल से सुख का स्रोत मान लेते हुए, उनकी ओर मुड़ जाता है। जो सुख किसी को इन्द्रिय-वस्तुओं से प्राप्त होता है, उसका मूल वास्तव में आत्मा का ही आनन्द है। इस प्रकार, आनन्द का स्रोत एक ही है और वह है आत्मा।

2.33 भँवरों में फँसना

एक कीड़ा नदी में गिर गया। वह जल के बहाव के साथ घसीटा गया और शीघ्र ही एक भँवर में फँस गया। गोल-गोल घूमता रहा। जीवित रहने के बारे में हताश होकर, उसने बचने के लिए सङ्घर्ष किया, परन्तु वह विफल रहा। कुछ समय बाद, मुख्य रूप से प्रवाह की गति के कारण, उसने स्वयं को भँवर से बाहर पाया। हाय! इससे पहले कि वह अपनी सुरक्षा का आनन्द ले पाता, वह एक और भँवर की चपेट में आ गया। फ़िर वह वृत्तों में घूमाया गया। इस आवर्त से उसकी मुक्ति बहुत अल्प काल के लिए थी, क्योंकि वह फ़िर से दूसरे भँवर में फँस गया।

उसका जीवन निश्चित रूप से समाप्त हो गया होता यदि एक दयालु मनुष्य ने उसकी दुर्दशा नहीं देखी होती। वह व्यक्ति उस स्थल पर पहुँचा जहाँ कीड़ा एक भँवर में घूम रहा था और उसने कोमलता से उसे बचाया। वह उसे किनारे पर ले गया और अन्त में सूखी भूमि पर छोड़ दिया। कीड़े को पता चला कि समय बीतने के साथ अगर जल उभर जाता, तो वह सङ्कट में फँस जाता। इसलिए वह नदी से दूर चला गया और शीघ्र ही आसपास वाले एक पेड़ के नीचे सुरक्षित स्थान पर पहुँच गया।

संसार-चक्र में मनुष्य की दुर्दशा कीड़े के दुर्भाग्य जैसी होती है। लोग सुख प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। जो सुख उनके द्वारा प्राप्त किया जाता है, वह

उन्हें सुख पाने और दुःख से बचने के लिए और भी प्रयास करने के लिए प्रेरित करता है। इस प्रकार, एक कर्म और भोग का बुरा घटनाचक्र प्रारम्भ हो जाता है, जिससे वस्तुतः कोई मुक्ति नहीं है। यह चक्र जीवन की नदी में एक आवर्त के समान है। मृत्यु के बाद एक व्यक्ति दूसरे जन्म की ओर बढ़ता है, जैसे कीड़ा एक भँवर से दूसरे में गया था। उदाहरण में कथित दयालु व्यक्ति की तरह, सद्गुरु कर्म और उसके फल-भोग के चक्र तथा जन्म और मृत्यु के चक्र में फँसे निस्सहाय व्यक्ति को सहायता प्रदान करते हैं। एक सद्गुरु की कृपा और मार्गदर्शन प्राप्त करने के बाद, व्यक्ति को किनारे पर रखे कीड़े जैसे प्रयास करके, जीवन्मुक्त — जीवित रहते हुए ही संसार बन्धन से मुक्त — हो जाना चाहिए।

2.34 गुरु की आवश्यकता

एक ग्राहक किसी स्वर्णकार के पास पहुँचा। उस ग्राहक के पास एक हीरा था और वह उसके मूल्य का पता लगाना चाहता था। उसका यह विचार था कि वह हीरा निर्दोष है और उससे उसे अच्छा मूल्य मिल जाएगा। स्वर्णकार ने उसका परीक्षण किया और कहा, "यह हीरा बहुत मूल्यवान नहीं है क्योंकि इसमें काले बिन्दु के रूप में एक दोष है।" ग्राहक ने हीरे को अच्छी तरह से परखा, परन्तु बिन्दु का पता नहीं लगा सका। तो उसने स्वर्णकार से कहा, "मुझे कोई बिन्दु नहीं दिख रहा है।" स्वर्णकार ने उसे सावधानी से जाँचने के लिए कहा। तब भी ग्राहक बिन्दु को देखने में असफल रहा। स्वर्णकार ने तब कई दिशा-निर्देश दिए कि कैसे उलट-पलटकर उस बिन्दु की पहचान की जा सकती है। कुछ समय बाद, ग्राहक बिन्दु को देखने में सफल हो गया।

हीरे की जाँच जैसे विषय में भी, मार्गदर्शन आवश्यक है। तो सत्य को, जो सूक्ष्मतम है, समझने में मार्गदर्शन के महत्त्व के बारे में क्या कहा जाना चाहिए? कठोपनिषद् की घोषणा है, "चूँकि आत्मा सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर है, वह तर्कों की परिधि से परे है।"

एक व्यक्ति उपनिषदों को पढ़ सकता है, जो परम सत्य की व्याख्या करते हैं, और शास्त्रों के अर्थ पर गहराई से विचार भी कर सकता है। परन्तु, उसके लिए सर्वोच्च ब्रह्म का अपरोक्ष-साक्षात्कार, और उसके द्वारा, मोक्ष प्राप्त करने हेतु, इतना पर्याप्त नहीं है। आत्मज्ञान के लिए गुरु की कृपा और निर्देश महत्त्वपूर्ण हैं। छान्दोग्य-उपनिषद् में कहा गया है, "गुरु से ही प्राप्त ज्ञान निश्चित रूप से अत्यन्त लाभकारी होता है।"

2.35 सद्गुरु सभी पर निर्दोष रूप से कृपा करते हैं

एक प्रबुद्ध ऋषि अपने शरीर और परिवेश को भूलकर अपना अधिकांश समय, वन में योग के चरमोत्कर्ष निर्विकल्प-समाधि में व्यतीत करते थे। एक दिन, दो युवक उनकी दिव्य सन्निधि में आए, श्रद्धापूर्वक प्रतीक्षा करते रहे, और जब तक कि समाधि से उनका मन बाहर नहीं आया, तब तक हाथ जोड़कर निश्चल खड़े रहे। ऋषि की आधी मूँदी हुई आँखें खोलते ही उनकी दृष्टि उन युवकों पर पड़ी, तो उन दोनों ने देर तक साष्टाङ्ग प्रणाम किया। फ़िर, उन दोनों ने उनसे उन्हें अपने शिष्यों के रूप में स्वीकार करके उन पर अनुग्रह करने के लिए विनम्र प्रार्थना की। अद्वैत सत्य के अपने ज्ञान के आधार पर, ऋषि सभी कर्तव्यों और इच्छाओं को पार कर चुके थे। हालाँकि, दया के सागर होने के कारण, उन्होंने युवकों के अनुरोध को स्वीकार कर लिया।

युवकों को गुरुसेवा — जो एक शिष्य के लिए अमूल्य है — करने का अवसर देने हेतु, उन्होंने उन्हें दैनन्दिन कार्य सौंपे, जैसे कि उनके गेरुए वस्त्र को धोना, उस स्थान की शुद्धि करना जहाँ उन्होंने तपस्या की और जंगल के किनारे पर स्थित गाँवों में भिक्षाटन करके भोजन प्राप्त करना। उन्होंने दोनों को एक मन्त्र से दीक्षित किया और उन्हें ध्यान करने का विधान सिखाया।

दो शिष्यों में से एक शीघ्र ही ध्यान करने में दक्ष बन गया, जो शिला जैसा स्थिर एवं एकाग्र मन से, बिना शरीर के बारे में भी अभिज्ञता के, घंटों तक बैठा रहता था। दूसरा पूरे मन से तथा नियमित रूप से ध्यान लगाने का

प्रयास करता रहा, परन्तु समुद्र के लहरों की तरह उठकर गुम होकर विचलित करने वाले विचार उसके प्रयासों को सतत विफल करते थे। ऋषि द्वारा सिखाए गए विषयों को पहले शिष्य ने आसानी से समझा। दूसरे लड़के ने श्रद्धासहित कक्षाओं में भाग लिया और लम्बे समय तक पढ़ाए गए अंशों को पढ़ता रहा। परन्तु, चूँकि वह एक प्रखर बुद्धि वाला नहीं था, इसलिए उसे अपने साथी की तुलना में बहुत कम समझ में आया। दोनों शिष्यों ने कुशलता के साथ उन्हें सौंपे गए कार्यों को पूर्ण रूप से निभाया।

पाँच वर्ष बीत गए। एक दिन गुरुजी ने अपने शिष्यों से कहा, "तुम्हारी पढ़ाई अब पूरी हो चुकी है और अब तो अपने घर लौटने का समय है।" वे अपने गुरुजी से बहुत प्रेम करते थे और उनसे बिछुड़ने का विचार भी उनके लिए बहुत पीड़ाकर था। हालाँकि, उन्हें दृढ़ विश्वास था कि किसी भी समय, किसी भी कारण से, यहाँ तक कि अत्यल्प मात्रा तक भी, गुरुजी की किसी भी आज्ञा का उल्लंघन नहीं किया जाना चाहिए। इसलिए, अपने गुरुजी के निर्देश के अनुसार, वे प्रस्थान करने के लिए उद्यत हो गए। पहले शिष्य ने अपने गुरुजी के समक्ष साष्टाङ्ग प्रणाम किया। ऋषि ने उसे अभय-मुद्रा से आशीर्वाद दिया। जब दूसरा शिष्य आगे बढ़ा, तो ऋषि ने अपना दिव्य हाथ शिष्य के सिर पर रखा और निश्चितता के साथ कहा, "तुम पूर्ण रूप से प्रबुद्ध हो, इसी क्षण।" उनकी कृपा इतनी प्रबल थी कि शिष्य तुरन्त प्रबुद्ध महात्मा बन गया।

पहले शिष्य को असन्तोष हुआ क्योंकि अपने मित्र से विपरीत, उसे विशेष आशीर्वाद नहीं मिला। अपने गुरुजी से अपनी भावनाओं या विचारों को न छिपाने वाला होने के नाते, उसने हाथ जोड़कर पूछा, "हे प्रभो, मेरे मन में एक सन्देह उत्पन्न हो गया है। मैं इसे व्यक्त करने के लिए आपकी अनुमति चाहता हूँ। आपकी कृपा से मेरा ध्यान उससे बहुत श्रेष्ठ रहा है और मैं आपकी कक्षाओं के समय, उसकी तुलना में बहुत अधिक समझ चुका हूँ। ऐसी स्थिति में, हे स्वामिन्, आपने मुझ पर विशेष कृपा न करके उस पर क्यों की? यदि मेरा प्रश्न अनुचित है, तो कृपया मुझे क्षमा करें।"

गुरु - तुम्हारे प्रश्न का उत्तर देने से पहले, मैं तुम्हें कुछ प्रश्न पूछता हूँ। मेरे बारे में तुम क्या सोचते हो?

पहला शिष्य - आप मेरे पूज्य गुरु हैं। आप एक महान ऋषि हैं, जिन्होंने सर्वोच्च का अपरोक्ष-साक्षात्कार किया है और वह सब कुछ प्राप्त कर चुके हैं जो प्राप्त किया जाना है।

गुरु - क्या मैं अपने शिष्यों के साथ व्यापार करने वाला व्यक्ति प्रतीत होता हूँ?

पहला शिष्य – सर्वथा नहीं।

गुरु - वत्स, तुमने अपने श्रेष्ठतर ध्यान और वेदान्त की अधिक जानकारी के बारे में बताया। तुमने कहा कि मैं व्यापारी नहीं हूँ। तो फ़िर तुम मुझसे यह अपेक्षा क्यों करते हो कि मैं अपने शिष्य की सेवा, मेरे शिक्षण को समझने में सफलता और मेरे निर्देशों के अनुसार अभ्यास में प्रगति के लिए, उस पर आनुपातिक मात्रा में अनुग्रह करूँ? तुमने यह भी कहा कि मैंने वह सब प्राप्त कर लिया है जो प्राप्त किया जाना है। यदि ऐसा है, तो मैं तुम्हारी सेवा द्वारा, अथवा जिसके माध्यम से मेरा नाम फैल जाएगा, वैसा ध्यान में कुशल एक व्यक्ति का निर्माण करके, कुछ भी पाने वाला नहीं हूँ।

पहला शिष्य - क्या ध्यान और विचार अब मेरे साथी को प्राप्त हुए तत्त्वज्ञान के साधन नहीं हैं?

गुरु – निस्सन्देह, वे हैं। अगर ठीक से अभ्यास किया जाए, तो ध्यान और विचार अहंकार को मिटा देते हैं। मेरे वत्स, तुम्हें लगता है, "मैं अच्छी तरह से ध्यान करता हूँ। मैं एक विद्वान हूँ।" तुम्हें इस तरह से अहंकारी नहीं होना चाहिए। दूसरी ओर, तुम्हारे साथी को लगता है, "मैं कुछ भी नहीं हूँ। मेरे गुरुजी मुझे चाहे किसी भी अवस्था में रख दें, वही वह सब कुछ है जो मुझे चाहिए। मेरे गुरुजी मेरे साथ जो करना चाहें, करें।"

पहला शिष्य - यदि आध्यात्मिक पथ पर प्रगति नहीं पाए हुए शिष्य, गुरु की कृपा से सीधे ही तत्त्व-साक्षात्कार प्राप्त करने की सम्भावना हो, तो क्या आध्यात्मिक प्रयास अनावश्यक नहीं हो जाता?

गुरु - सर्वथा नहीं। शिष्य को अपने गुरु के निर्देशों का अपनी क्षमता के अनुसार पूरी तरह से पालन करना चाहिए और फ़िर, अपने गुरु या भगवान के हाथों में सब कुछ छोड़ देना चाहिए; उसकी वह क्षमता महान हो सकती है या

अल्प। "मुझे अपने गुरु द्वारा बताई गई दिशा में व्यक्तिगत रूप से कदम उठाने की आवशकता नहीं है। वे स्वयं मुझे लक्ष्य तक पहुँचाएँ" — यदि ऐसा सोचकर कोई शिष्य आलसी या असावधान होगा, तो वह निश्चित रूप से सर्वोच्च नहीं प्राप्त करेगा। निस्सन्देह, तुम्हारे साथी ने अपना सर्वश्रेष्ठ प्रयास किया। यह सच है कि उसकी तुलना में कहीं अधिक क्षमता वाले तुम भी श्रद्धावान रहे।

मेरे वत्स, मैं तुम दोनों को समान रूप से प्यार करता हूँ। एक माँ अपने कुछ दिनों के नवजात शिशु पर अपने दस साल के बच्चे की तुलना में अधिक ध्यान देती है। ऐसा इसलिए नहीं है कि वह बड़े बच्चे से कम प्रेम करती है, प्रत्युत इसलिए कि छोटी सन्तान की देखभाल की अधिक आवश्यकता होती है। तुम बहुत बुद्धिमान, समझदार और अच्छी तरह से ध्यान करने वाले हो। तुम अपने अहंकार को मिटाने का प्रयास करो और तुम्हें सर्वोच्च का अपरोक्ष-साक्षात्कार होगा। उसके लिए, तुम पर मेरा पूरा आशीर्वाद है। तुम्हारा साथी नवजात शिशु की तरह असहाय है। वह न तो बुद्धिमान है, न विद्वान है और उसका मन बहती वायु की तरह भटकता है। अगर मैं उसे स्वयं नहीं उद्धार करता, तो वह नष्ट हो जाता। इसलिए, मैंने उसे विशेष आशीर्वाद दिया। जहाँ तक तुम्हारी बात है, तुम भी प्रबुद्ध ज्ञानसम्पन्न हो जाओगे। इस बारे में कोई सन्देह या आशङ्का नहीं है। कई ऐसे व्यक्ति होंगे जिनका तुम्हारे द्वारा उत्थान किया जाएगा।

गुरुजी ने तब दूसरे शिष्य को बुलाया, जो अपने साथी को निजी चर्चा करने की सुविधा हेतु कुछ दूरी पर खड़ा था।

गुरु - जब तुमने दण्डवत् प्रणाम किया था, तब यदि मैंने तुम्हारी उपेक्षा की होती, तो तुम क्या सोचते?

दूसरा शिष्य - प्रभु, आप मेरे सर्वस्व हैं। आप श्रेष्ठतर जानते हैं। इसलिए यदि आपने मेरी उपेक्षा की होती या शाप भी दिया होता, तो मैं चुप और पूरी तरह से सन्तुष्ट रहता।

पहले शिष्य की ओर मुड़ते हुए गुरुजी ने कहा, "देखो इसकी भक्ति कितनी गहरी है। उसने सच कहा जब उसने कहा कि अगर मैं उसे शाप भी दे देता,

तो भी वह सन्तुष्ट रहता। मैंने तुम्हें आशीर्वाद दिया और फ़िर भी, तुम्हें असन्तोष लगा। उसकी और तुम्हारी भक्ति के बीच कितना अन्तर है!" पहले शिष्य ने लज्जा से अपना सिर झुका लिया। कृपापूर्ण दृष्टि से उसे देखते हुए, गुरुजी ने सुस्पष्ट ढंग से घोषित किया, "तुम्हारे मार्ग में अड़चन रहे तुम्हारा अहंकार मिटाने के लिए अनुकूल स्थिति बनाने के एकमात्र उद्देश्य से, मैंने तुम्हारे साथी से प्रश्न पूछा। अब चूँकि विनम्रता ने तुम्हारे हृदय को व्याप्त कर लिया है, तुम सर्वोच्च के पात्र हो और वह तुम्हें प्राप्त होगा।" ऐसा कहकर, उन्होंने पहले शिष्य को विशेष रूप से अनुगृहीत किया और उस शिष्य ने तुरन्त सर्वोच्च को प्राप्त कर लिया।

शिष्यों के बीच अन्तर होने पर भी, आदर्श सद्गुरु जानते हैं और वही करते हैं जो उनमें से प्रत्येक के लिए सबसे अच्छा होता है। उनकी दया करने की रीति सदैव निर्दोष रहती है।

2.36 जहाँ निन्दा एक आशीर्वाद है

देवदत्त एक प्रतिभाशाली और निपुण लड़का था जो एक बड़े विद्वान ऋषि के आश्रम में स्ववेदशाखा और शास्त्रों का अध्ययन किया करता था। पाँच अन्य ब्रह्मचारी उसके सहपाठी थे। गुरुजी कड़े थे और यह सुनिश्चित करते थे कि उनके शिष्य, जो उनसे डरते भी थे, अपने ब्रह्मचर्य-आश्रम के नियमों के अनुरूप, एक अनुशासित जीवन बिताएँ।

एक दिन, अपने शास्त्र पाठ के आरम्भ में, गुरुजी ने एक शिष्य से एक प्रश्न पूछा। चूँकि प्रश्न सरल था और पिछले दिन पढ़ाए भाग से सम्बन्धित था, अति प्रतिभावान न होने वाले उस शिष्य ने पर्याप्त उत्तर दिया। गुरुजी ने केवल अपना सिर हिलाया। दूसरे ब्रह्मचारी की ओर मुड़ते हुए, उन्होंने एक साधारण प्रश्न पूछा, जो पिछले दिन के पाठ से ही सम्बन्धित था। ब्रह्मचारी कुछ समय के लिए झिझका और फ़िर उसने सर्वथा अनुचित उत्तर दिया। तब गुरुजी ने सही उत्तर प्रस्तुत किया और उस लड़के को उसे दोहराने के

लिए कहा। ऐसा करते हुए, गुरुजी ने उससे कहा, "और ध्यान दो। मेरे पढ़ाने में अगर तुम कुछ भी नहीं समझ पाते हो, तो तुम्हें मुझसे उसके बारे में पूछने में संकोच नहीं करना चाहिए।"

फ़िर, देवदत्त की ओर मुड़ते हुए, गुरुजी ने एक कठिन प्रश्न पूछा जो एक महीने के पहले पढ़ाए गए भाग से सम्बन्धित था। फ़िर भी, देवदत्त ने उस विषय पर सोचकर अपना उत्तर देना प्रारम्भ किया। वह कुछ समय के लिए सही ढंग से उत्तर देता रहा, फ़िर रुक गया। गुरुजी ने एक पल के लिए प्रतीक्षा की, और वे त्योरी चढ़ाते हुए चिल्ला उठे, "अरे मूर्ख! तुम्हारा उत्तर अतुष्टिकारक है। क्या तुम यहाँ अध्ययन करने आए हो या अपने समय को गँवाने के लिए? इस वर्ग के बाद, मुझे अपना मुख फ़िर से तब तक न दिखाना जब तक तुम मुझे सही उत्तर देने में सक्षम न हो जाओ।" देवदत्त ने मन ही मन सोचा, "मेरे साथी ने कल के पाठ से सम्बन्धित एक सरल प्रश्न का सही उत्तर नहीं दिया, परन्तु मेरे गुरुजी उसके प्रति नरम थे। हालाँकि, मैंने कठिन प्रश्न का आंशिक रूप से उत्तर दिया। फ़िर भी, उन्होंने मुझे कड़ी फटकार दी है। इस तरह की निन्दा से बचने के लिए, मैं और अधिक परिश्रम लगाकर अध्ययन करूँगा और इससे यह सुनिश्चित करूँगा ताकि मैं कभी भी अधूरी तैयारी से पकड़ा न जाऊँ।"

गुरुजी ने पाठ का अध्यापन बनाए रखा। इसके अन्त में, देवदत्त अन्य ब्रह्मचारियों की तरह बाहर नहीं निकला, प्रत्युत अपनी पुस्तकों को लेकर, उसी कमरे में बैठा रहा। कुछ घंटों के बाद, वह अपने गुरुजी के यहाँ गया। गुरुजी ने उससे पूछा, "मैंने तुमसे कहा था कि तुम मेरे पास तब तक मत आना जब तक कि तुम सही उत्तर के साथ उद्यत न हो। क्या अब तुम मुझे इसका उत्तर दे सकते हो?" देवदत्त ने कहा, "हाँ, गुरुजी," और एक निर्दोष उत्तर दिया। गुरुजी ने अनुमोदन या अस्वीकृति व्यक्त नहीं की। वे केवल कुछ और प्रश्न पूछने लगे। देवदत्त ने उनके सही उत्तर दिए। गुरुजी ने सिर हिलाया और वे आगे बढ़ गए। कक्षाओं में गुरुजी द्वारा पूछे गए प्रश्नों का देवदत्त द्वारा कभी भी सही उत्तर देने में असफल हुए बिना समय बीतता गया।

एक अपराह्न, जब देवदत्त अपने गुरुजी की कुटिया में उनको पङ्खा दे रहा था, तभी एक और ब्रह्मचारी वहाँ आया और उसने बताया कि एक ऐसा

व्यक्ति आश्रम में आया है जो एक प्रतिष्ठित विद्वान सा लगता है। गुरुजी ने उचित सम्मान के साथ आगन्तुक का स्वागत करने और उन्हें अपनी कुटी पर ले आने के लिए उस ब्रह्मचारी से कहा। ब्रह्मचारी ने आज्ञा का पालन किया। पण्डित ने गुरुजी के साथ कुशल-क्षेम का आदान-प्रदान किया और फ़िर कहा कि वे शास्त्र-चर्चा के लिए आए हैं। उन्होंने एक विषय का प्रतिपादन किया और फ़िर एक प्रश्न सामने रखा। गुरुजी ने अप्रत्याशित रूप से देवदत्त की ओर देखा और कहा, "उत्तर दो!" देवदत्त अचम्भे में पड़ गया, क्योंकि उसने सोचा कि प्रश्न गुरुजी से पूछा गया था। फ़िर भी, अपने गुरुजी की आज्ञा का पालन करते हुए, उसने तर्कसंगत उत्तर देना प्रारम्भ कर दिया। आगन्तुक ने एक और पहलू लिया और दूसरा प्रश्न उठाया। फ़िर से, देवदत्त ने उत्तर दिया और शीघ्र ही बड़ी गहराई की एक पूर्ण चर्चा उभरी। लगभग एक घंटे की चर्चा के बाद, उस पण्डित ने एक जटिल प्रश्न सामने रखा। देवदत्त ने शीघ्रता से उस विषय पर ध्यान दिया जो उसने पढ़ा था और अपने गुरुजी से सुना था। परन्तु, वह सन्तोषजनक प्रतिक्रिया के बारे में सोचने में असमर्थ रहा। अतः, वह चुप हो गया।

यह देखते हुए, उनके गुरुजी ने एक ठोस उत्तर दिया, जिसने आगन्तुक को पूरी तरह से सन्तुष्ट किया। फ़िर, देवदत्त की ओर मुड़कर, गुरुजी चिल्लाए, "तुम एक कलंक हो। क्या पुस्तकों में दिए गए विषयों के अतिरिक्त, तुम सोच नहीं सकते? क्या तुम्हें सब कुछ बताना पड़ेगा? यदि तुम केवल उन्हें पुनः प्रस्तुत करने जा रहे हो जो पुस्तकों में है व जो मेरे द्वारा बताया गया है, तो तुम्हारे और तोते में क्या अन्तर है? तुम्हारे स्थान पर एक तोते को यहाँ एक छात्र के रूप में रख सकता हूँ।" इस प्रकार जब गुरुजी देवदत्त को डाँट रहे थे, आगन्तुक मन्दहास रहे थे। देवदत्त ने सर्वथा अपमानित अनुभव किया।

उसने आश्चर्यचकित होकर सोचा, "मेरे गुरुजी इस प्रतिष्ठित पण्डित के सामने मुझे इस तरह अपमानित क्यों कर रहे हैं? अन्ततोगत्वा, मैं उस चर्चा का तनिक भी प्रत्याशी नहीं था और तब भी मैंने अपना वाद यथोचित ढंग से निभाया। मैं अपने सहपाठियों की तुलना में बहुत श्रेष्ठतर रहा हूँ। तब भी, मेरे गुरुजी मेरी कड़ी निन्दा करते हैं और मेरे बारे में निकृष्ट अभिप्राय रखते

हैं। सम्भवतः, मुझ पर उनकी प्रीति नहीं है।" आशा को कभी न खोने वाले उसने संकल्प किया, "मुझे चाहे जितने भी प्रयास करने पड़े और चाहे जिस मात्रा में भी डाँट-फटकार खाने और अपमानित होने पड़े, मैं किसी न किसी प्रकार से शास्त्रों में उस सीमा तक प्रवीणता प्राप्त कर लूँगा कि वे मुझ पर गर्व करने पर बाध्य हो जाएँगे।" इसके बाद, देवदत्त ने न केवल जो पढ़ाया गया था उसका अध्ययन किया, किन्तु शास्त्रोक्त विषयों के निहितार्थों पर भी विचार किया। उसने सम्भावित अनकही आपत्तियों पर विचार किया और उनके प्रबल प्रत्युत्तर भी सोच लिए।

एक दिन, अपने गुरुजी के शास्त्र की कक्षा के समय, देवदत्त को अचानक चक्कर आने लगा और मतली आने लगी। उसने स्वयं को नियन्त्रित करने का प्रयास किया ताकि वह कक्षा में उपस्थित रह सके। हालाँकि, उसके गुरुजी समझ गए कि क्या चल रहा है। नरम स्वर में उन्होंने कहा, "मेरे बेटे, तुम अस्वस्थ हो। अपने आप को तनाव मत दो। झोंपड़ी में जाकर लेट जाओ और आराम करो।" देवदत्त अपने गुरुजी की वाणी में अत्यन्त कोमलता देखकर आश्चर्यचकित रहा। उसने उठने का प्रयास किया, परन्तु उठते ही, चक्कर आने के कारण वह गिरने वाला ही था कि इतने में उसके गुरुजी ने तेज़ी से उठकर उसे पकड़ लिया। फ़िर देवदत्त को अपनी बाहों में उठाकर, गुरुजी ने स्वयं ही उसे झोंपड़ी में ले जाकर पुआल की शय्या पर लेटा दिया। उन्होंने एक वैद्यकीय कषाय बनाया और उसे देवदत्त को पिला दिया। जब दूसरे ब्रह्मचारी वहाँ आए, तो उन्होंने उन्हें बताया कि वे उस दिन के लिए अपनी कक्षा निरसित कर रहे हैं।

एक ब्रह्मचारी को देवदत्त की देखभाल करने का निर्देश देकर और एक दूसरे शिष्य को अपने साथ लेकर, वे आश्रम से बाहर चले गए। वे कुछ घंटे बाद लौटे। उनके शरीर के कई अङ्गों पर चोट के चिह्न थे और उनसे बहुत रक्त बह रहा था। चिन्तित होकर देवदत्त ने उनसे पूछा कि क्या हुआ था। गुरुजी ने केवल इतना कहा, "मेरे बारे में बात नहीं करनी है," और एक विशेष कषाय बनाने के लिए आगे बढ़े, जिसमें से कुछ उन्होंने देवदत्त को दी। इसके बाद, उन्होंने पूरी रात देवदत्त के पार्श्व में बैठकर उसे हर एक घंटे में

कषाय देते हुए बिताई। अपने गुरुजी के वात्सल्य ने देवदत्त के मन को अत्यन्त द्रवित कर दिया। अगले प्रातःकाल, उसे उचित रूप से स्वस्थ लगा।

जब वह अपने स्नान के लिए जाने वाला ही था, उसका एक सहपाठी कुटिया में आया। उसने कहा, "कल रात, मैंने सुना है कि तुमने हमारे गुरुजी से उनके शरीर पर लगी चोटों के बारे में पूछा, परन्तु तुम्हें कोई उत्तर नहीं मिला। मुझे पता है कि क्या हुआ था।" उसने आगे कहा, "कल हमारे गुरुजी मुझे लेकर आश्रम से बाहरचले गए। वे कुछ दूरी तक जंगल में चले। उन्होंने कुछ जड़ी-बूटियाँ एकत्र कीं। उन्होंने उन्हें मुझे दिया और कहा, 'किसी पेड़ की सुरक्षा में मेरे लिए यहाँ प्रतीक्षा करो। परन्तु एक घंटे से अधिक विलम्ब मत करना। यदि मैं तब तक नहीं लौटता, तो आश्रम लौटकर, इन जड़ी-बूटियों के साथ एक औषध बनाना और उसे देवदत्त को दे देना।' उन्होंने मुझे जो जड़ी-बूटियाँ दीं, उनका उपयोग करके औषध बनाने के बारे में मुझे विस्तृत रूप से बताया।

"इसके बाद, वे मुझे वहीं छोड़ते हुए जंगल की गहराई में चले गए। मैं एक वृक्ष पर चढ़ गया और अपने स्थान से उन्हें तेज़ी से आगे बढ़ते देखा। मार्ग में उन्हें घनी, कंटीली झाड़ी का सामना करना पड़ा। उसे पार करने के लिए, उन्हें इसमें से लेटकर जाना पड़ा। उनके ऐसा करने से, उनका शरीर बुरे प्रकार से घायल हो गया। परन्तु, मुझे लगा कि उन्होंने उस पर लक्ष्य नहीं रखा। बस वे उठकर चलते रहे। मैं यह देखकर आश्चर्यचकित रह गया कि वे एक गुफा की ओर बढ़ रहे थे, जिसके मुहाने पर एक बाघिन अपने शावकों के साथ बैठी थी। वह अपने शावकों को पोषित कर रही थी। तुम्हें स्मृति होगी कि हमारे गुरुजी ने हमें बताया था कि बाघ सामान्यतः मनुष्यों को हानि नहीं पहुँचाते हैं और यदि हम जंगल में हमारे चलते समय किसी बाघ का सामना करते हैं, तो हमें बाघ के गुज़रने तक पूरी तरह से निश्चल रहना चाहिए। तुम्हें इसकी भी स्मृति होगी कि उन्होंने चेतावनी दी थी कि बाघिन के अपने शावकों की देखभाल करते हुए, उससे बचने के लिए विशेष सावधानी बरतनी है, क्योंकि आपत्ति को भाँपते हुए वह हमें मार भी सकती है।

"जैसे ही गुरुजी गुफा की ओर बढ़े, मैं असहाय होकर देखता रहा। मुझे लगा कि मैं उन्हें सावधान करने के लिए चिल्ला दूँ, परन्तु जानता था कि वे इसे स्वीकार नहीं करेंगे। तो मैं जहाँ था, वहीं भयग्रस्त अश्मीभूत होकर बैठा रहा। बाघिन को उनके आने का आभास हुआ और वह गुर्राने लगी। उन्होंने चेतावनी पर ध्यान नहीं दिया और अपनी गति को कम नहीं किया। आश्चर्य की बात है कि बाघिन आराम करने लगी और अपने शावकों को दूध पिलाती रही। वे शीघ्र ही गुफा के प्रवेश द्वार पर पहुँचे और कुछ जड़ी-बूटियाँ इकट्ठा करने लगे। मुझे बोध हुआ कि वे वहाँ गए थे क्योंकि सम्बन्धित जड़ी–बूटियाँ केवल उसी स्थान पर पाई जाती थीं। जड़ी-बूटियों का संग्रह करने के बाद, वे वापस चले आए। फ़िर, उनके पास मार्ग में झाड़ी के माध्यम से लेटकर होते हुए आने के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं था। उन्होंने स्वयं को और घायल कर लिया। जब वे मेरे बैठे वृक्ष तक पहुँचे, तो मैं नीचे उतरा।

"मुझे उनके घावों को घूरते हुए देखकर, उन्होंने इतना ही कहा, 'ओह! ये कुछ भी नहीं हैं। चलो, हम आगे बढ़ते हैं।' हम आश्रम लौट आए और मेरी प्रतीक्षा के स्थल पर तथा गुफा के द्वार पर इकट्ठी की गई उन जड़ी-बूटियों से, उन्होंने औषध बनाया जो तुम्हें दिया गया। उन्होंने तुम्हारे लिए अपने प्राण को भी जोखिम में डाल दिए।" देवदत्त बहुत द्रवित हो गया; उसकी आँखों में आँसू आ गए। उसने मन ही मन सोचा, "मैंने कितनी बड़ी भूल की है! मुझे लगा था कि मुझ पर उनकी प्रीति नहीं है। सचमुच, वे मुझसे बहुत प्यार करते हैं।"

एक दिन, जब देवदत्त अपने गुरुजी की कुटिया की सफाई में व्यस्त था, तो एक ब्रह्मचारी वहाँ आया और आश्रम में दो आगन्तुकों के आने की सूचना दी। गुरुजी ने ब्रह्मचारी से उन्हें अन्दर ले आने को कहा। देवदत्त कुटिया से बाहर जाने लगा। परन्तु, गुरुजी ने उसे अपने काम में लगे रहने का आदेश दिया। आगन्तुकों में से एक स्पष्ट रूप से पण्डित था, जबकि दूसरा उसके शान्त और विनम्र परिचारक प्रतीत होता था। गुरुजी ने आगन्तुकों को बैठने के लिए कहा और उन्होंने कुशल-क्षेम का आदान-प्रदान किया। विद्वान ने कहा कि वह शास्त्रार्थ-चर्चा करने आया है। फ़िर उन्होंने उसका आरम्भ किया। गुरुजी ने देवदत्त को उत्तर देने का निर्देश दिया; उसने ऐसा ही किया।

शीघ्र ही, शास्त्रार्थ-चर्चा प्रौढ़ ऊँचाइयों पर पहुँच गई। एक पक्ष से दूसरे पक्ष तर्क-वितर्क की शृंखला चलती रही। आगन्तुक विद्वान को तनिक भी बढ़त प्राप्त हुए बिना, लगभग दो घंटे ऐसे ही बीत गए। कुछ समय बाद, विद्वान ने अपने प्रस्ताव के पक्ष में एक प्रतीयमानतः अकाट्य तर्क को आगे बढ़ाया। हालाँकि, देवदत्त ने उसे सुन्दरता से ध्वस्त कर दिया। विद्वान के पास चुप रहने के अतिरिक्त कोई चारा नहीं था। देवदत्त ने सोचा कि विद्वान व्याकुल या क्रोधित होंगे। हालाँकि, वह आगन्तुक को बहुत प्रसन्न पाकर चकित था। तब गुरुजी देवदत्त की ओर मुड़े और बोले, "अब तुम जा सकते हो।" देवदत्त ने आज्ञा मानी। फ़िर, आगन्तुक और गुरुजी कुछ समय तक बातचीत में लगे रहे, जिसके बाद, आगन्तुक आश्रम से चले गए।

दो दिन बाद, उस देश के राजा ने आश्रम में आकर गुरुजी से भेंट की। बुलाए जाने पर, देवदत्त बैठक स्थल पर गया व अपने गुरुजी को प्रणाम करके उनसे कुछ दूरी पर आदरपूर्वक खड़ा हो गया। उसके गुरुजी ने उसे बैठने का आदेश दिया। उसने आज्ञा मानी। राजा देवदत्त की ओर मुड़े और अपने आसन से उठकर सम्मानपूर्वक बोले, "मैंने राजधानी के पास जंगल में एक बड़ा आश्रम बनाया है। कृपया इसे मेरी ओर से विनम्र भेंट के रूप में स्वीकार करें। यदि आप धार्मिक विषयों में मेरे मन्त्रणाकार बनने के लिए सहमत होंगे, तो मैं आपका बड़ा आभार मानूँगा। यदि आप आने वाले पण्डितों के पाण्डित्य को मापने के लिए भी सहमत हो जाएँगे — ताकि मैं उन्हें उपयुक्त रूप से सम्मानित और पुरस्कृत कर सकूँ — तो मैं आपका बहुत ऋणी हो जाऊँगा। कृपया मेरे अनुरोधों पर विचार करें और मुझे बताएँ कि क्या आप उन्हें स्वीकार करेंगे। मैं उत्सुकतापूर्वक आशा कर रहा हूँ कि आप मुझे एक स्वीकारात्मक उत्तर देंगे।"

राजा को इस प्रकार उनको सम्बोधित करते हुए सुनकर, देवदत्त उलझ गया। उसने पूछा, "महामहिम, आप मुझे ऐसा प्रस्ताव क्यों दे रहे हैं? आप मेरे बारे में सर्वथा नहीं जानते।" "मैं जानता हूँ," राजा ने कहा, "आपके गुरुजी ने मुझे आपके बारे में बहुत कुछ बताया है। उन्हें आप पर बहुत गर्व है और उन्होंने सुस्पष्ट ढंग से यह बात कहा है कि आप पूरी तरह से अनुशासित विद्वान

हैं।" "मेरे गुरुजी ने ऐसा कहा!" देवदत्त ने कहा, उसके जबड़े विस्मय में डूब रहे थे। गुरुजी बोले, "मेरे वत्स, मुझे तुम पर सदैव गर्व रहा। चूँकि मैंने तुम्हें फटकार लगाई, इसलिए तुम्हें लगा कि मेरी दृष्टि में तुम निकृष्ट हो और मुझे तुम पर प्रीति नहीं है। क्या ऐसा नहीं है?" अपनी पूर्व मनःस्थिति के इस सटीक विवरण को सुनकर, देवदत्त अपने आप पर लज्जित हुआ।

गुरुजी ने आगे बढ़ते हुए कहा, "तुम्हें स्मृति होगी कि मैंने एक कक्षा के समय तुमसे एक कठिन प्रश्न किया था और जब तुमने आंशिक रूप से सही उत्तर दिया था, तो मैं तुम पर चिल्लाया था। मैं जानता था कि तुम एक अनमोल हीरे हो, जो ठीक से काटे जाने और चिकनाए जाने पर, दर्शकों की आँखों को चकित कर देगा। तुम अन्य सभी ब्रह्मचारियों से बहुत आगे थे, परन्तु मैं चाहता था कि तुम और ऊपर उठो और सभी पाठ तुम्हारी उङ्गलियों पर हों। तुम्हारे द्वारा और अधिक प्रयास कराए जाने के लिए, मैंने तुम्हें फटकार लगाई। मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि मेरे कठोर शब्दों का उद्देश्य प्रचुर मात्रा में सफल हो गया।

"तुम उस चर्चा को भी स्मरण करोगे, जिसमें कुछ समय के लिए ठीक प्रकार से उत्तर देने के बाद, तुम आगे नहीं बढ़ पाए थे। जिन विद्वान के साथ तुमने चर्चा की, वे मेरे एक सहपाठी हैं। मैंने स्वयं उन्हें यहाँ बुलाया था और वह भी ऐसे समय में जब मेरी झोंपड़ी में मेरे साथ केवल तुम होगे। इसके अतिरिक्त, उनके द्वारा पूछे गए जिस प्रश्न ने तुम्हें कठिनाई में डाला था, वह मेरे द्वारा उनसे पहले किए गए अनुबन्ध के अनुसार ही था। जैसा कि तुम जानते हो, जब तुम एक उत्तर पूरा बताने में असमर्थ थे, तब मैंने तुम्हें बहुत डाँटा था। मेरे शब्दों ने तुम्हारे हृदय को तोड़ने की तुलना में, मेरे हृदय को अधिक तोड़ दिया। तब भी, मैं ऐसा करते रहा, क्योंकि मेरी इच्छा तुम्हें इतना प्रेरित करने की थी कि तुम श्रेष्ठ विद्वान बनकर मेरे सामने स्वयं को सिद्ध करने का दृढ़ संकल्प कर सको। अपने प्रयासों को पूरी तरह से पुरस्कृत पाकर मुझे बहुत प्रसन्नता हुई।

"मेरे बेटे, मैंने इतने दिन तुम्हारी प्रशंसा नहीं की, इसलिए नहीं कि मैं तुम्हारी सराहना नहीं कर रहा था, प्रत्युत तुम्हें असावधान होने की किसी भी

सम्भावना से बचाने के लिए था। एक गुरु को अपने शिष्य के अहंकार की आग में, घी समान अपनी प्रशंसा की अपायशङ्का को ध्यान में रखना चाहिए। अब जब तुम्हारी पढ़ाई पूरी हो गई है, तो मैं बिना झिझक के, मन खोलकर तुमसे बात करूँगा। तुम मेरे अब तक के शिष्यों में से सबसे श्रेष्ठतर हो। ठीक उसी समय से जब तुम पहली बार मेरे पास आए थे, तुम मेरे हृदय के बहुत निकट रहे।" हाथों को जोड़कर, देवदत्त ने कहा, "हे भगवन्, मैंने आपको समझने में कितनी भूल की! मैं पूर्णतः मूर्ख रहा हूँ। कृपया मुझे क्षमा करें।" गुरुजी ने कहा, "मेरे बच्चे, क्षमा करने के लिए कुछ भी नहीं है। चैन से रहो।"

राजा जो चुपचाप गुरु और शिष्य के बीच का संवाद सुन रहा था, उसने देवदत्त से कहा, "मुझे आपको इस समय बताना चाहिए कि जिस विद्वान से आपने कुछ दिन पहले शास्त्रार्थ किया था, उन्होंने आपके गुरुजी के गुरु के आश्रम में आपके गुरुजी के साथ अध्ययन किया था। वे धार्मिक विचारों में मेरे मन्त्रणाकार रहे, परन्तु अब उन्होंने संन्यास लेकर हिमालय जाने का निर्णय लिया है। उस दिन उनके साथ जो मौन उपस्थित था, वह छद्म भेस में मैं ही था। आपके गुरुजी ने हमें आपके प्रभावशाली पाण्डित्य और वाद-कुशलता का प्रदर्शन देखने के लिए आमन्त्रित किया था। कहने की आवश्यकता नहीं कि हम मन्त्रमुग्ध थे। अब आप समझ सकते हैं कि मैंने आपके बारे में जाने बिना, आपसे अपना अनुरोध नहीं किया था।"

अपने गुरुजी के निर्देश प्राप्त करने के बाद, देवदत्त ने राजा के अनुरोध को स्वीकार कर लिया।

जब एक महात्मा किसी व्यक्ति की निन्दा करते हैं तो वे — अपनी जिह्वा पर अपर्याप्त नियन्त्रण, या द्वेष, या अपमानित करना, या परपीड़न से कामुकतामय सुख प्राप्त करना — इनके कारण ऐसा नहीं करते हैं। उनका उद्देश्य उस व्यक्ति को सुधारना या उसका उत्थान करना ही होता है। इसीलिए ऐसा कहा गया है, "गुरु द्वारा कठोर शब्दों में फटकारे गए व्यक्ति, महानता को प्राप्त करते हैं।" एक मुनि द्वारा की गई निन्दा वस्तुतः दुःख के भेस में सुख होती है।

2.37 प्रचुर गुरुसेवा को सद्गुरु पुरस्कृत करते हैं

उपमन्यु महर्षि धौम्य का शिष्य था। अपने गुरुजी के निर्देश के अनुसार वह प्रतिदिन आश्रम की गायों को चराने ले जाता था। एक ब्रह्मचारी द्वारा पालन किए जाने वाले नियमों के अनुरूप वह भिक्षाटन से अन्न प्राप्त करता था और अपने गुरुजी को समर्पित करता था। उपमन्यु के परीक्षण के इच्छुक धौम्य ने अपने शिष्य द्वारा लाए गए सारे भोजन को अपने पास रख लिया और उपमन्यु को कुछ नहीं दिया। हालाँकि, गुरुजी ने पाया कि कुछ दिन बीतने के बाद भी उनका शिष्य बहुत बलवान और स्वस्थ रहा। इसलिए उन्होंने उपमन्यु से पूछा कि वह कैसे अपनी शक्ति बनाए रखने में सक्षम है। उपमन्यु ने कहा कि वह दूसरी बार भिक्षा ले आ रहा था। गुरुजी ने कहा कि उसका यह अभ्यास अनुचित है और ऐसे करने से मना किया।

आश्चर्य की बात यह थी कि शिष्य शक्तिशाली बना रहा। अपने गुरुजी द्वारा इसका कारण पूछे जाने पर, उपमन्यु ने कहा, "आजकल, जब मैं गायों को चराने के लिए ले जाता हूँ, तो मैं उनका कुछ दूध पी लेता हूँ।" गुरुजी ने उससे कहा, "अब से तुम्हें ऐसा नहीं करना चाहिए। यदि तुम उस दूध का उपभोग करते हो, जो मेरी सम्पत्ति है, तो यह केवल तुम्हारे चोरी करने के समान होगा।" शिष्य ने दूध पीना छोड़ दिया। फ़िर भी, वह स्वस्थ बना ही रहा। ऐसा इसलिए था क्योंकि उसने बछड़ों द्वारा अपनी माताओं का दूध पीए जाने के बाद, उनके मुँह पर बने झाग का सेवन करना प्रारम्भ कर दिया था। शिष्य के इस अभ्यास के बारे में जानने पर, गुरुजी ने आज्ञा दी कि वह झाग का सेवन न करे। शिष्य ने आज्ञा का पालन किया। परन्तु, भूख को मिटाने के लिए, वह अर्क के पौधे की पत्तियों को खाने लगा। परिणामस्वरूप, उसकी शारीरिक प्रणाली विषैली हो गई और उसने अपनी दृष्टि खो दी। अन्धा होने पर, वह लड़खड़ा गया और एक त्यक्त कुएँ में गिर गया।

साँझ होते ही, गायें उपमन्यु बिना घर लौट आईं। गुरुजी को उपमन्यु के न आने की चिन्ता सताने लगी। "मैं उसकी भक्ति की परीक्षा लेना चाहता था। परन्तु वह कुछ कष्ट में है। वह क्यों नहीं लौटा है?" उन्होंने सोचा। शिष्य को

नाम से पुकारते हुए, वे उसे ढूँढने लगे। जब वे उस कुएँ के आसपास के क्षेत्र में पहुँचे जिसमें उपमन्यु गिर गया था, तो एक धीमी ध्वनि ने उनकी पुकार का उत्तर दिया। दुःखी स्थिति को देखते हुए, धौम्य ने उससे पूछा, "तुम इस कुएँ में कैसे गिर गए?" "भूख मिटाने के लिए, मैंने अर्क के पत्तों को चखा। इसके कारण, मैं अन्धा हो गया और इस कुएँ में गिर गया," उपमन्यु ने कहा।

शिष्य की ओर दयापूर्वक निहारते हुए धौम्य ने कहा, "वेद के इस विशेष भाग का पाठ करो जो अश्विनी कुमारों का स्तवन है।" अपने गुरुजी के आदेशानुसार, उपमन्यु ने ऋग्वेदोक्त मन्त्र का पाठ किया। उससे प्रसन्न होकर, देवताओं के चिकित्सक अश्विनी कुमार उसके समक्ष उपस्थित हुए। उन्होंने उसे आटे का एक पुआ दिया और उसे खाने के लिए कहा। हालाँकि, बहुत भूखा होने पर भी, उपमन्यु ने उनसे कहा कि वह अपने गुरुजी के समक्ष समर्पित किए बिना ऐसा नहीं कर सकता। अश्विनी कुमारों ने अपने गुरुजी को अर्पित किए बिना उसे खाने के लिए मनाने का पूरा प्रयास किया, परन्तु उपमन्यु अपने निर्णय से नहीं डिगा। अपने गुरुजी के प्रति निष्ठा से प्रसन्न होकर, अश्विनी कुमारों ने उसकी दृष्टि को वापस लौटाया।

उपमन्यु कुएँ से बाहर निकला, अपने गुरुजी के पास गया और धौम्य के समक्ष साष्टाङ्ग प्रणाम किया। फ़िर, उसने अपने गुरुजी को बताया कि उसके और अश्विनी कुमारों के बीच क्या हुआ। उपमन्यु की गुरुभक्ति से पूरी तरह से तृप्त, धौम्य ने उससे कहा, "तुम मेरे प्रति अत्यधिक भक्तिमान हो। इसलिए मैं तुम्हें आशीर्वाद देता हूँ कि आगे की पढ़ाई और सेवा के बिना भी, तुम्हें सभी चतुर्दश-विद्याएँ तत्काल ही मिल जाएँगी।" उनके शब्द सत्य निकले। कालान्तर में, उपमन्यु एक महान और पूजनीय ऋषि बन गए।

पाञ्चाल देश का आरुणि ऋषि धौम्य का एक और बहुत ही निष्ठावान शिष्य था। उसने परिश्रम से अपने गुरुजी की सेवा की। एक दिन, धौम्य ने उसे खेतों में बाँध सम्भालने के लिए भेजा। आरुणि ने पानी रिस रहे छिद्र को बन्द करने का अपना सर्वश्रेष्ठ प्रयास किया। हालाँकि, वह सफल नहीं हो सका। अन्त में, उसने अपने शरीर की सहायता से धारा प्रवाह को अवरुद्ध कर दिया।

समय बीत गया। आश्रम में धौम्य ने पूछा, "आरुणि कहाँ है?" उनके अन्य शिष्यों ने उनसे कहा, "हे प्रभो, आपने उसे बाँध सम्भालने के लिए भेजा था।"

धौम्य तुरन्त अपने शिष्यों के साथ आरुणि को ढूँढ़ने के लिए निकल पड़े। उन्होंने पुकारा, "ओ मेरे बच्चे, तुम कहाँ हो? मेरे पास आओ।" अपने गुरुजी के शब्दों को सुनकर, आरुणि उठ खड़ा हुआ, तुरन्त यथाशक्ति उसने उस छिद्र को बन्द किया और धौम्य के निकट दौड़ पड़ा। उनके समक्ष साष्टाङ्ग दण्डवत् करते हुए उसने बताया कि क्या हुआ था। फ़िर उसने पूछा, "गुरुजी, मेरे लिए आपका और क्या निर्देश है?" धौम्य ने कहा, "तुम्हारे द्वारा किए गए कार्य के नाते, तुम उद्दालक नाम से प्रसिद्ध हो जाओगे। तुमने मेरी आज्ञा पूरी कर दी है। सभी वेद और धर्म-शास्त्र तुम्हें अवगत हो जाएँ।" उद्दालक आरुणि तत्क्षण पूर्ण रूप से विद्वान बन गया।

जो अपने सद्गुरु के प्रति अत्यन्त समर्पित है, वह महात्मा की कृपा से, बिना औपचारिक शिक्षा के भी, विद्वान और बुद्धिमान बन सकता है।

2.38 मौन द्वारा शिक्षण

सृष्टिकर्ता ब्रह्मा जी के चार मानसपुत्र जो कुमारों के नाम से जाने जाते हैं, विवाह करने और सन्तान प्राप्ति से पूरी तरह से विमुख थे। वे अत्यन्त विरक्त थे और अपने आप को संसार-चक्र से मुक्त करना चाहते थे। करुणावश, भगवान शिव जी ने एक चतुर्भुज आकृति, दक्षिणामूर्ति, के रूप में स्वयं को प्रकट किया और वे हिमालय में एक बरगद के वृक्ष के नीचे बैठ गए, शान्त रहे और परम आनन्द समाधि में विलीन हो गए। ऋषिगण उनसे यह पूछने की इच्छा से कि कैसे संसार-चक्र से छुटकारा पाया जा सकता है और अपने सन्देह को शान्त करने के लिए, उनके पास गए। दक्षिणामूर्ति-स्वरूप परमेश्वर कुछ नहीं बोले। तब भी, उनके मौन और अनुग्रह इतने शक्तिशाली थे कि ऋषि तुरन्त प्रबुद्ध हो गए; उनके सन्देह मिट गए।

पूर्णिमा की रात और अमावस्या की रात में भी अन्धकार होता है; अँधेरे के बिना कोई रात नहीं होती। पूर्णिमा की रात के अँधेरे में, लोग सड़कों पर घूमने-फ़िरने में एवं अपनी साधारण गतिविधियों को भी करने में सक्षम होते हैं। हालाँकि, बस उन्हें पुस्तक पढ़ने के लिए थोड़ा परिश्रम उठाना पड़ता है। अमावस्या की रात के अँधेरे में, विशेष रूप से यदि आकाश में मेघ छाए रहते हैं, लोगों के लिए सड़क पर चलना या अपनी गतिविधियों में संलग्न होना सम्भव नहीं है; पुस्तक पढ़ने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। सनक जैसे ऋषियों का अज्ञान पूर्णिमा की रात के अँधेरे जैसा था। दूसरी ओर, लगभग सभी अन्य लोगों का अज्ञान अमावस्या की रात के अँधेरे के समान है। एक प्रबुद्ध मुनि का मौन अत्यन्त शुद्ध-चित्त वाले शिष्य — जो उन पवित्र लोगों के समान है जो दक्षिणामूर्ति के समीप गए थे — उनकी मन्द अज्ञानता को दूर करने के लिए पर्याप्त है। हालाँकि, अल्प क्षमता के शिष्य, जिनकी अज्ञानता घनी होती है, उनकी आवश्यकता होती है कि उन्हें गुरु द्वारा सत्य की शिक्षा दी जाए।

2.39 ब्रह्मा जी का परामर्श — "द, द, द"

ब्रह्मा जी ने एक बार देवताओं, मनुष्यों और असुरों को निर्देश दिया। उन्होंने सभी को एक ही उपदेश, "द, द, द," दिया। नियम के तौर पर, देवता इन्द्रिय-विषयों के भोग की चाहत रखते हैं। इसलिए, उन्होंने सोचा कि ब्रह्मा जी उन्हें आत्म-नियन्त्रित कराना चाहते थे। अतः, उन्होंने 'द' की व्याख्या '***दाम्यत***' (अपने आप पर नियन्त्रण रखें) के रूप में की। मानव तो स्वभाव से स्वार्थी हैं और भविष्य में उपयोग के लिए धन इकट्ठा करते रहते हैं। उन्होंने 'द' शब्द का अर्थ '***दत्त***' (दान करें) मान लिया। असुर अपने स्वभाव से ही क्रूर होते हैं। इसलिए, उन्होंने 'द' का अर्थ '***दयध्वम्***' (दया रखें) समझा।

भगवत्पाद जी ने बृहदारण्यक-उपनिषद् के इस प्रासंगिक भाग पर अपने भाष्य में स्पष्ट किया है कि आख्यायिका में देवताओं, मानवों और असुरों का अलग-अलग ही परिग्रहण करने की बाध्यता नहीं है। 'देव' का अर्थ है मुख्य

रूप से सात्त्विक प्रकृति वाला मानव, जो भोगने और दंभ की प्रवृत्ति से प्रभावित होता है। भयङ्कर प्रवृत्ति एवं पाषाण-हृदय वाले मनुष्य 'असुर' हैं। इसलिए, सभी मनुष्यों को इन्द्रिय-निग्रह, दान और करुणा को उपजाना चाहिए। आज भी, निर्माता "द, द, द" की घोषणा गड़गड़ाहट की ध्वनि के माध्यम से करते हैं।

एक गुरु अपने शिष्यों की क्षमता को ध्यान में रखते हुए उनको निर्देश देते हैं। विभिन्न शिष्यों के लिए एक सामान्य शिक्षा का अलग-अलग निहितार्थ होना पूरी तरह से सम्भव है; ब्रह्मा जी का निर्देश इसका एक उदाहरण है।

2.40 विनम्रता की अनिवार्यता

एक लड़का एक गुरु के पास गया और उसने उनसे निवेदन किया, "कृपया मुझे सर्वोच्च के बारे में निर्देश दें।" गुरु बोले, "पहले यहाँ छह मास के लिए ब्रह्मचारी के रूप में रहो।" गुरु की सेवा करना इत्यादि ब्रह्मचारी के लिए विहित नियमों का विधिवत् पालन करते हुए, शिष्य ने ऐसा ही किया।

निर्धारित अवधि के अन्त में, शिष्य ने दीक्षा के लिए अपने गुरु के पास जाने का निर्णय लिया। उसने सबसे पहले नदी में स्नान किया। वह निकलने ही वाला था कि एक व्यक्ति दिखाई दिया और उसने उस पर एक टोकरी भर गन्दगी फेंक दी। शिष्य क्रोध से लाल-पीला हो गया और उसने उस व्यक्ति की पिटाई कर दी। फ़िर स्नान करके, वह अपने गुरु के पास गया। गुरु ने पूछा, "बताओ तुमने आज क्या किया।" शिष्य ने कहा, "स्नान के बाद मेरे यहाँ आने से पहले सब कुछ ठीक था, तभी एक दुष्ट व्यक्ति ने गन्दगी डालकर मुझे उकसाया। उसने मेरे साथ ऐसा करने का साहस न जाने कैसे किया! इसलिए, मैंने उसे पीट दिया। फ़िर अपने आप को शुद्ध करने के बाद, मैं सत्य के बारे में आपसे पवित्र उपदेश प्राप्त करने के लिए यहाँ आया हूँ।" गुरु ने कहा, "शिक्षा देने का सही वक्त अभी नहीं आया है। तीन और महीनों तक ब्रह्मचर्य का पालन करते रहो।"

शिष्य ने आज्ञा मानी। फ़िर, उसे दीक्षा दी जाने वाले दिन उसने स्नान किया और नदी से निकला। जिस व्यक्ति ने पहले एक बार उस पर गन्दगी फेंकी थी, वहाँ आकर उसने अपने कृत्य को दोहराया। शिष्य चिढ़ गया, परन्तु पिछले अवसर की तुलना से कम। उसने उस व्यक्ति को डाँटा, फ़िर से नहाया और अपने गुरु के पास गया। गुरु ने उससे पूछा कि उस दिन क्या हुआ। शिष्य ने वही सुनाया जो घटा था। गुरु ने कहा, "समय अभी नहीं आया है। तीन और महीनों तक ब्रह्मचर्य का पालन करते रहो।"

शिष्य ने उस आज्ञा का पालन किया। तीन महीने के अन्त में, निर्धारित दिन पर, उसने निर्देश के लिए अपने गुरु के पास जाने से पहले स्नान किया। जब उसने अपना स्नान समाप्त कर लिया, तब पहले दो अवसरों पर जिस व्यक्ति ने उसे कष्ट पहुँचाया था, वह पुनः वहाँ आया और उसे मैला कर दिया। इस बार, शिष्य को उस पर कोई क्रोध नहीं आया। उसने उस व्यक्ति का अभिवादन किया और कहा, "मैं आपका ऋणी हूँ। अहंकार और क्रोध के दोषों को दूर करने में मेरी सहायता करने के लिए धन्यवाद।" फ़िर, उसने पुनः स्नान किया और अपने गुरु के निवास पर चला गया। इस बार, गुरु ने उससे कहा, "अब तुम ज्ञान प्राप्त करने के लिए योग्य हो," और यथाविधि उसे तत्त्वोपदेश दिया।

गुरुजी ने ही वास्तव में शिष्य को सभी अवसरों पर अपवित्र करने की व्यवस्था की थी, ताकि शिष्य अपने अहं-मानित्व को त्याग कर विनम्र बन सके। घमण्डी और क्रोधी शिष्य अपने गुरु द्वारा प्रतिपादित सत्य का अनुभव करने में सफल नहीं हो पाता।

2.41 शिष्यों की कुछ त्रुटियाँ

एक गाय रुग्ण हो गई थी और उसके स्वामी को उसकी चिन्ता थी। वह गाय को पशु-चिकित्सक के पास ले गया, जिसने इस निर्देश के साथ एक ओषधि दी कि इसे घी के साथ मिलाकर दिया जाए। गाय के स्वामी ने तर्क किया,

“गाय दूध देती है। उससे हमें दही, मक्खन और अन्त में घी मिलते हैं। तो गाय में घी का सार पहले से उपलब्ध है। ऐसी स्थिति में, मुझे ओषधि के साथ घी क्यों मिलाना चाहिए?” इस प्रकार विश्लेषण करने के बाद, उसने बिना घी डाले ओषधि दे दिया। दूधवाले के अविवेकिता ने व्याधि को कम करने की बदले और बढ़ा दिया।

एक शिष्य द्वारा अपने गुरु के निर्देशों का अक्षरशः, उनसे थोड़ा भी भटके बिना, पालन किया जाना चाहिए। यदि वह अपने स्वयं के नवाचारों का प्रयोग करे, तो वह उस दूधवाले के समान ही होगा।

एक शिक्षक के दो मूर्ख शिष्य थे। एक दिन, उन्होंने उन्हें बुलाया और कहा, “मैं अपने पैरों में कुछ समस्या का अनुभव कर रहा हूँ। उन्हें अच्छे से मालिश कर दो।” वे शिष्य एक-एक पैर पकड़कर उनकी मालिश करने लगे। शीघ्र ही, विश्राम के लिए, शिक्षक ने अपने बाएँ पैर पर अपने दाहिने पैर को टिका दिया।

जो छात्र बाएँ पैर की मालिश कर रहा था, उसने सोचा, “यह क्या है? मेरे शिक्षक के पवित्र पैर पर कुछ गिर गया है। मैं, एक समर्पित शिष्य, ऐसा कैसे होने दूँ?” उसने दाहिने पैर को, बिना यह समझे कि वह अपने गुरु का ही है, रूखेपन से धकेल दिया। यह देखकर दूसरा शिष्य चिल्लाया, “तुम्हें क्या लगता है कि तुम क्या कर रहे हो? तुमने मेरे गुरु के पैर को धकेलने का साहस कैसे किया?” फ़िर, उसने गुस्से में बाएँ पैर को धक्का दे दिया। दूसरे शिष्य ने उसका प्रतिशोध लिया।

उन शिष्यों ने अपने शिक्षक की सुख-सुविधाओं की उपेक्षा करके झगड़ा किया। जब यह कुछ समय के लिए चलता रहा, तो गुरु उठकर बैठ गए और बोले, “तुम दोनों क्या कर रहे हो? मैंने तुम्हें अपनी वेदना को दूर करने के लिए अपने पैरों की मालिश करने के लिए कहा था, परन्तु तुम दोनों ने इसकी स्थिति को और बिगाड़ दिया। निकल जाओ।”

गुरुसेवा आवश्यक है, परन्तु अनुमति प्राप्त करके उसे उचित देखभाल के साथ किया जाना चाहिए। अनुचित सेवा गुरु के लिए केवल बाधा होगी।

चार छात्रों ने एक गुरु से मन्त्र-शास्त्र सीखा। अपनी पढ़ाई पूरी होने के बाद, वे अपने घरों की यात्रा पर निकल पड़े। जब वे एक जंगल से होकर जा रहे थे, तब एक मृत बाघ के पास से होकर गुज़रे। उनमें से तीन लोगों ने कहा, "हम सञ्जीवनी-मन्त्र में सिद्धहस्त हैं, जो मृतकों को पुनर्जीवित कर सकता है। क्या हमें इसकी प्रभावशीलता का परीक्षण नहीं करना चाहिए? आओ, हम अपने मन्त्र से इस बाघ को पुनर्जीवित करें।" चौथे छात्र ने उनके प्रस्ताव की मूर्खता को समझा। उसने उन्हें ऐसे करने से रोकने का पूरा प्रयास किया, परन्तु असफल रहा। इसलिए, वह पास के वृक्ष पर चढ़ गया और एक शाखा पर बैठ गया। उसके साथियों ने बाघ को नया जीवन देने के लिए सञ्जीवनी-मन्त्र का प्रयोग किया। वह माँसाहारी पशु उठ गया। भूख के मारे पीड़ित, उसने अपने उज्जीवकों को मार डाला।

मन्त्र शास्त्र में विद्वत्ता के होते हुए भी, सामान्य ज्ञान की कमी के कारण, तीनों छात्र मृत्यु के ग्रास बन गए। एक व्यक्ति का मस्तिष्क एक कुंद चाकू की तरह होता है, जो तब तक काटने के लिए अनुपयुक्त होता है जब तक कि वह शिक्षक से प्राप्त ज्ञान से तीक्ष्णधार वाला न हो जाए। सामान्य ज्ञान के बिना, पाण्डित्य किसी बन्दर के हाथों में धारदार चाकू के समान होता है। इस प्रकार, शिक्षा और सामान्य ज्ञान दोनों आवश्यक हैं; जो इनके बिना रहता है, वह भौतिक रूप से दृष्टिमान होते हुए भी, बौद्धिक रूप से अन्धा होता है।

2.42 जिन शिक्षकों से बचना चाहिए

श्वास रोग से पीड़ित एक रोगी ने एक वैद्य से सम्पर्क किया और अपनी व्यथा सुनाई। "चिन्ता न करें," वैद्य ने उनसे समझाते हुए कहा, "मेरे पास आपके लिए सही ओषधि है। मैं भी लम्बे समय से इसी व्याधि से पीड़ित रहा हूँ और यह ओषधि ले रहा हूँ। इसका मुझ पर अधिक प्रभाव नहीं दिख रहा है। अब जब आप आ गए हैं, तो मुझे इसकी क्षमता को परखने

का अवसर मिला है। मुझे लगता है कि यह आपकी व्याधि को ठीक कर देगा।"

ऐसे वैद्य पर किसी रोगी का विश्वास कैसे हो सकता है? इसी प्रकार, एक शिक्षक जो स्वयं नहीं जानता कि वह क्या सिखाता है, वह न तो अपने विद्यार्थियों में आत्मविश्वास जगा पाएगा और न ही अच्छी तरह से समझा पाएगा।

एक लड़के के रूढ़ि-वादी पिता उसे काशी ले गए और उसे वेदान्त पाठशाला में इस आशा के साथ प्रवेश दिलाया कि वह एक पण्डित तथा प्रसिद्ध विद्वान बन जाएगा। उसने कक्षाओं में भाग लिया क्योंकि उसके लिए ऐसा करना आवश्यक था, परन्तु वह न तो कड़ा परिश्रम कर रहा था और न ही बुद्धिमान था। इसके कारण, वेदान्त ग्रन्थों की समझ जो उसने प्राप्त की थी, वह बहुत अल्प मात्र थी। कुछ वर्षों के बाद, वह पाठशाला से बाहर हो गया और दक्षिण भारत में अपने घर लौट आया। उसने यह दावा किया कि उसने अपना अध्ययन सफलतापूर्वक पूरा कर लिया है। चूँकि वह एक धनी और सम्मानित व्यक्ति का बेटा था एवं पण्डित माना जाता था, इसलिए उसके नगर के कई वैदिकों को अपनी बेटियों को उसे विवाह में देने में कोई हिचकिचाहट नहीं थी। उसने शीघ्र ही विवाह कर लिया और स्वयं को वेदान्त के शिक्षक के रूप में स्थापित कर लिया। वह किसी भी व्यक्ति को स्वीकार करने के लिए अत्यन्त उत्सुक था जो शिष्य के रूप में आता था, चाहे वह व्यक्ति ब्रह्मचारी हो या गृहस्थ।

आलसी और अज्ञानी होने के कारण, उसने किसी भी कक्षा के लिए तैयारी करने का कष्ट नहीं उठाया। उसके पढ़ाने का ढंग था स्वयं पढ़ना या किसी छात्र से कुछ पङ्क्तियों को पढ़ने के लिए कहना, बिना विश्लेषण के केवल उसी विषय को दूसरे शब्दों में दोहराना, और अगली कुछ पङ्क्तियों की ओर बढ़ जाना। समय-समय पर, वह कुछ चुटकुले सुनाता था और सांसारिक उदाहरण देता था जो कि प्रासंगिक होने से अधिक अप्रासंगिक होते थे। उन प्रश्नों को, जिनके उत्तर उसे पता नहीं थे, उन्हें वह तीन प्रकार से सम्भालता था।

कभी-कभी, वह कहता था, "यह विषय महत्त्व का नहीं है। उस पर समय नष्ट करने की हमें कोई आवश्यकता नहीं है। पढ़ते रहिए।" जब पूछा गया विषय स्पष्ट रूप से महत्त्वपूर्ण था, तब वह घड़ी की ओर देखता था। कुछ ही मिनटों में कक्षा समाप्त होने वाली होती, तो वह कहता, "आज इसके लिए समय नहीं बचा। हम कुछ समय के बाद देखेंगे।" यदि बहुत समय शेष रहा हो, तो वह उदासीनता से कहता था, "इसी विषय की चर्चा की गई है और हमारे पाठ के ही एक भाग में स्पष्ट किया गया है, जिसे हम आगे देखने वाले हैं। इसलिए, अब इस पर विचार करने की कोई आवश्यकता नहीं है।"

वह भाग्यशाली था कि उसके छह छात्रों को उस पर बहुत विश्वास था और वे मानते थे कि वेदान्त पण्डित बनाने के लिए, उनके पास उसके अतिरिक्त कोई नहीं है। इतना ही नहीं, वे अपने द्वारा प्राप्त ज्ञान के आभास से, पूरी तरह से सन्तुष्ट अनुभव करते थे। शिक्षक मुदित था और वैसे ही वे छात्र भी प्रसन्न थे, परन्तु उन्हें पता नहीं था कि वे महान हानि के भागी थे।

एक नगर में, एक दिन, एक दाढ़ी वाला युवक गेरुवे रंग की रेशमी धोती और कुर्ता धारण किए हुए आया। जब कुछ लोग उससे मिले, तो उसने कहा कि वह सात वर्ष ध्यान में लीन रहने के बाद, हिमालय से आया है। उसने अपनी बात रखते हुए कहा कि उसके गुरु एक सर्वज्ञ देवपुरुष थे, जो वर्षों पहले अचानक उसके सामने प्रकट हो गए थे। उसके गुरु ने लोगों को शान्ति, इच्छाओं की पूर्ति और अन्त में पुनर्जन्म से मुक्ति दिलाने के लिए, उसे अब तक अज्ञात, सरल व त्वरित प्रक्रिया के बारे में सिखाया था।

उसके गुरु ने उसके शरीर के चुनिन्दे स्थानों को स्पर्श करके, उसे सत्य के ज्ञाता के रूप में बदला दिया था और उसे विशेष शक्तियों से सम्पन्न बना दिया था। "यहाँ सात वर्ष तक ध्यान करो। फ़िर, विभिन्न स्थानों की यात्रा करो और उस शक्तिशाली विधि को दूसरों को सिखाओ, जिसे मैंने तुम्हें बताया है," गुरु ने अदृश्य होने से पहले ऐसा कहा था। लोग उसके विवरण से प्रभावित थे। एक व्यक्ति ने उससे अपने गुरु से मिलने से पहले के उसके जीवन के बारे में पूछा। उसने उत्तर दिया, "यह एक बन्द अध्याय है। नया आध्यात्मिक जन्म लेने के बाद, मुझे इसके बारे में कुछ नहीं कहना चाहिए और न ही कहूँगा।"

उसे बहुत मानने वाले एक सम्पन्न व्यक्ति के भवन में, उसके उपयोग के लिए कुछ कमरे दिए गए। उस सन्ध्याकाल, उसने कुछ श्रोताओं को भाषण दिया। एक अच्छे वक्ता होने के नाते, उसने आराम से अपने श्रोताओं का ध्यान अपनी ओर खींच लिया। अपने प्रवचन के समय, उसने कहा, "शान्ति और मुक्ति पाने के लिए, विश्व को या इच्छाओं को भी त्यागने की कोई आवश्यकता नहीं है। मैं उन लोगों को सिखाने के लिए उद्यत हूँ, जो पूरे विश्वास के साथ मुझसे सम्पर्क करते हैं। मैंने अपने गुरु से जो नई विधि प्राप्त की है, वह सबसे प्रभावी और सरल है, परन्तु अधिक समय लेने वाली नहीं है।"

उसके शिष्यों के लिए आवश्यक था कि मूल रूप से बाहर जाने वाली साँस के साथ तालमेल में, एक गधे के रेंकने जैसी ध्वनि उत्पन्न करें। पाँच मिनट तक ऐसा करने के बाद, उन्हें मानसिक रूप से उससे प्राप्त एक अक्षर के मन्त्र का जप करते हुए, साँस लेना और जितना शीघ्र हो सके साँस छोड़ना होता था। उसने उन्हें आश्वासन दिया कि कुछ समय मन्त्र का जप करने पर, उन्हें सहज लगेगा। तब उन्हें मन्त्र को रोकना था, सामान्य रूप से साँस लेना था और उस अनोखे अनुभव के गुम होने तक, उसका आनन्द लेना था। इस प्रक्रिया को एक अँधेरे कमरे में कार्यान्वित किया जाना था।

किसी शिष्य को मन्त्र में दीक्षित करने से पहले, उसने कहा, "मेरे सामने पूर्ण स्वीकारोक्ति करो। अपनी शक्ति के द्वारा, मैं तुम्हें कमियों और दोषों के परिणामों से मुक्त कर दूँगा। एक बार जब मैं ऐसा कर लेता हूँ, तो यह कोई मायने नहीं रखेगा कि तुम अपनी रीति बदलते हो या नहीं।" शिष्य की बात सुनने के बाद, उसने अपने शिष्य की छाती पर अपना दाहिना हाथ रखा और तीन बार कहा — "मैं तुम्हें पापों से मुक्त करता हूँ।" फ़िर, उसने एक अँधेरे कमरे में दीक्षा की एक जटिल प्रक्रिया प्रारम्भ की, जिसके समय शिष्य को आँखें बन्द करके स्थिर बैठना पड़ता था।

दीक्षा के बाद, उसने प्रत्येक शिष्य को अपना एक फ़्रेम किया हुआ चित्र भेंट किया। फ़िर वायु में अपना हाथ लहराते हुए उसने कुछ कुङ्कुम उत्पन्न किया,

जो उसने अपने शिष्य को दिया। वह इस बात पर अत्यन्त गौर करता था कि उसका कोई भी शिष्य, मन्त्र या ध्यान प्रक्रिया के बारे में दूसरे को नहीं बताए। उसने कड़ी चेतावनी दी कि गोपनीयता का कोई भी उल्लंघन, शिष्य के लिए प्रक्रिया को निष्फल कर देगा। इसके अतिरिक्त, इन नियमों का उल्लंघन करने वाला शिष्य छह महीने के भीतर गम्भीर रूप से रोगग्रस्त हो जाएगा।

दीक्षा के समय, प्रत्येक शिष्य ने शरीर में झुनझुनी संवेदनाओं का अनुभव किया; उनमें से कुछ शिष्यों के पास कई तरह के अनुभव थे, जो उन्हें आश्चर्य और आनन्द से भर दिया। ध्यान प्रक्रिया के समय, शिष्यों को थोड़े समय के लिए मन्त्र का जाप करने के बाद, एक अजीब अनुभूति हुई; कुछ शिष्यों को दर्शन प्राप्त हुए और वे हर्षित हुए। प्रत्येक शिष्य ने अपने गुरु से प्राप्त चित्र पर एक दिन के लिए अपने आप कुछ श्वेत चूर्ण बनते देखा।

गुरु लम्बी यात्राओं पर बार-बार जाता था और उसने शीघ्र ही ढेर सारे अनुयायियों और प्रखर प्रसिद्धि को प्राप्त कर लिया। कई लोगों ने उसे कृतज्ञता की भावना से प्रभूत दान या महंगी वस्तुएँ दीं। उसके शिष्यों को इस बात का बोध नहीं था कि उसके सम्पर्क में आकर, वे हानि उठा रहे हैं, लाभ नहीं पा रहे हैं।

हाथ की सफाई से, वह अपने दाहिने हाथ की हथेली पर कुङ्कुम ले आता था। उसके चित्र पर राख का क्रमिक गठन, केवल फ्रेम के काँच पर उपयुक्त रसायनों को लगाने का परिणाम था। तेज़ी से साँस लेने से होनेवाले अतिवातायनता के कारण, ध्यान के समय शिष्य एक अजीब अनुभव पाते थे। दीक्षा के समय, वह अत्यल्प बिजली के सदमे (mild electric shock) देने के लिए एक उपकरण का उपयोग किया करता था और किसी शिष्य के शरीर के बालों में धीरे-धीरे हेरफेर करके, झुनझुनी संवेदनाएँ पैदा करता था, जो फैलने लगती थीं। जो शिष्य अपनी आंखें बन्द करके आस्था से भरा हुआ बैठा था, और वह भी एक अँधेरे, शान्त कमरे में, उसे न तो अविश्वास होता था और न ही उसके छल की पहचान।

विश्वास, आकांक्षाओं, स्वयं के सुझावों और सम्मोहक सुझावों की शक्ति को गुरु जानता था और उनका भरपूर लाभ उठाता था। इस प्रकार, दीक्षा के समय, कुछ शिष्यों को प्राप्त विशेष अनुभव, उस गुरु द्वारा उन्हें सफलतापूर्वक सम्मोहित करने के परिणाम थे; वे सम्मोहन के प्रति अत्यधिक संवेदनशील थे और गुरु उन्हें एक सपाट स्वर में बार-बार दिए गए उचित सुझावों द्वारा मोहावस्था में डालता था। ध्यान के समय, कुछ लोगों को जो अनोखे अनुभव हुए, वे ऐसे कुछ कारकों के परिणाम थे — जैसे कि आगे चलकर होने वाले घटनाओं के बारे में जो उसने कहा था, उस पर उनका विश्वास और उनकी उच्च अपेक्षाएँ।

गुरु को उसके शिष्यों द्वारा की गई स्वीकारोक्ति का लाभ उठाने में और दीक्षा के समय, भोली-भाली महिलाओं का यौन शोषण करने के बारे में कोई पछतावा नहीं था। वह जानता था कि वे उसकी इस चेतावनी पर ध्यान देंगे कि दीक्षा के विवरण और उनके साथ शारीरिक सम्पर्क द्वारा उन्हें 'विशेष शक्ति' प्रदान करने का विवरण कभी न प्रकट करें।

लोगों को इस व्यक्ति जैसे ढोंगी गुरुओं के शिष्य बनकर और उस अज्ञानी वेदान्त पण्डित जैसे शिक्षकों के अधीन छात्र होकर, बहुत वंचित होने की सम्भावना है। यह दुर्भाग्य की बात है कि वेदान्त को, बिना गहन ज्ञान के, उजागर करने वाले व अज्ञानी या पूर्णतः ढोंगी गुरु आजकल साधारण हो गए हैं। कहा जाता है, "बहुत से ऐसे उपदेशक हैं जो अपने शिष्यों के धन को हथिया लेते हैं, परन्तु बहुत दुर्लभ वह होता है जो अपने शिष्यों के दुःख को दूर करता है।" शास्त्र कहते हैं, "उस गुरु को भी त्याग देना चाहिए जो कलंकित हो, उचित व अनुचित का संज्ञान नहीं लेता हो व दोषपूर्ण मार्ग पर चलता हो।"

भगवत्पाद जी ने एक सच्चे सद्गुरु का वर्णन इस प्रकार किया है — "जिसने तत्त्व-साक्षात्कार प्राप्त किया हो और अपने शिष्य के हित के लिए सतत तत्पर हो।" ऐसे गुरु का ही आश्रय लेना चाहिए। एक छली द्वारा भटक दिए जाने की अपायशङ्का से बचने के लिए, केवल ऐसे गुरु के पास जाने का परामर्श दिया जाता है कि जो महान आचार्यों की एक परम्परा से सम्बन्धित हो, जो शास्त्रों से परिचित हो, जो शास्त्रों के अनुसार पढ़ाता हो, जो स्व-आविष्कृत पन्थ का

प्रचार नहीं करता हो, जो अपने मन और इन्द्रियों का स्वामी हो, जो विरक्त हो, जिसका आचरण निष्कलंक हो, जो स्पष्ट रूप से शिष्य के कल्याण में रुचि रखता हो और जो शिष्य से बदले में किसी की भी अपेक्षा नहीं रखता हो।

2.43 छद्म-अद्वैतियों का पाखण्ड

एक संन्यासी भोजन और आध्यात्मिक साधनाओं से जुड़े किसी भी नियम का पालन नहीं कर रहा था। एक गृहस्थ ने उससे सम्पर्क किया और पूछा, "ऐसा लगता है कि आप किसी भी नियम का पालन नहीं कर रहे हैं। आप अपनी इच्छानुसार खाते हैं, अपना समय भटकते हुए बिताते हैं और ऐसे कार्य करते हैं जो एक संन्यासी के लिए अशोभनीय हैं। क्या आपका ऐसा होना उचित है?" संन्यासी ने उत्तर दिया, "सब कुछ ब्रह्म है। शरीर और मन कर्म करते हैं, जबकि मैं शुद्ध, चेतन आत्मा हूँ जो निष्कलंक है। वास्तव में, मेरे लिए ये बहुत कम मायने रखते हैं कि शरीर और मन क्या करते हैं। सचमुच, सब कुछ ब्रह्म है।"

गृहस्थ ने पूछा, "क्या आप भिक्षा के लिए मेरे घर आएँगे?" "हाँ," संन्यासी ने उत्तर दिया, "मुझे कोई आपत्ति नहीं है। मेरे लिए, जो आत्मा में मग्न है, कुछ भी मायने नहीं रखता। मैं आऊँगा।" उस अपराह्न को संन्यासी गृहस्थ के घर गया और भोजन करने बैठ गया। हालाँकि, उसके आतिथेय ने उसे पानी की एक बूँद तक भी नहीं दी। जैसे-जैसे क्षण बीतते गए, वह छटपटाने लगा। उसके आतिथेय ने जानबूझकर उसकी छटपटाहट को अनदेखा किया। अन्त में, और विलम्ब को सहन करने में असमर्थ, वह संन्यासी चिल्लाया, "मुझे प्रतीक्षारत रखने से तुम्हारा क्या तात्पर्य है? मुझे बहुत भूख लगी है। मुझे शीघ्र परोसो।"

गृहस्वामी उसके पास आया और कहा, "मैं यह बात समझने में विफल हूँ कि आप में भूख और प्यास कैसे पैदा हो सकती हैं, जो पूरी तरह से आत्मा के आनन्द में डूबे हुए हैं। आप सर्वव्यापी हैं, क्योंकि आत्मा का स्वरूप ऐसा

ही है। मैं आपको पानी देने तक असमर्थ हूँ, क्योंकि सर्वव्यापी होने के नाते, आप पहले से ही उसे भीतर और बाहर से व्याप्त कर चुके हैं।" संन्यासी यह कहते हुए खड़ा हुआ, "ऐसे मत बोलो। मैं अपनी भूख को सह नहीं पा रहा हूँ।" इसके बाद, वह भोजन के अन्वेषण में निकल गया।

उस संन्यासी में न आत्म-संयम था और न ही वैराग्य। इसलिए वह अज्ञानी संन्यासियों के लिए बने नियमों का पालन नहीं करता था। उसने केवल अपने दुराचार के समर्थन के लिए, अद्वैत दर्शन का दुरुपयोग किया। उसके अनियन्त्रित चाल-चलन से, उसे बहुत पाप लगे; उसकी अद्वैत घोषणाओं ने उसे पापों से कोई सुरक्षा नहीं दी।

ग्रहण के समय, एक पण्डितजी स्नान के लिए समुद्र में गए। उनके पास ताँबे का एक पात्र था। उन्होंने सोचा, "यदि मैं स्नान करते समय इस पात्र को किनारे पर छोड़ दूँ, तो कोई इसे चुरा सकता है। दूसरी ओर, अगर मैं इसे अपने साथ ले जाऊँ, तो यह मेरे हाथ से फिसलकर जल में खो जा सकता है। मुझे क्या करना चाहिए?" उन्होंने समुद्र तट पर एक गड्ढा खोदा, पात्र उसमें रखा रेत से उस पात्र को ढँक दिया। उस स्थल का पता लगाने में सक्षम होने के लिए, उन्होंने वहाँ एक रेत का लिङ्ग बना दिया। उन्होंने चैन की साँस ली और नहाने चले गए।

कुछ लोगों ने किनारे पर लिङ्ग को और पण्डितजी को समुद्र में नहाते देखा। उन्होंने मान लिया कि सभी को समुद्र में स्नान करने से पहले, एक रेत का लिङ्ग बनाना चाहिए। कुछ समय बाद, पण्डितजी उस स्थान पर आए जहाँ उन्होंने अपना पात्र छिपाया था। उन्होंने वहाँ क्या देखा? बालू से बने एक या दो नहीं, प्रत्युत कई लिङ्ग। "हे भगवन्," पण्डितजी चिल्लाए, "क्या हो गया है? इतने बहुत सारे लिङ्ग कैसे उग आए? मैं उस लिङ्ग का पता कैसे लगाऊँ जो मैंने बनाया था?" उन्होंने कुछ लिङ्गों के नीचे अपना पात्र ढूँढा, परन्तु उसे पाने में विफल रहे। अन्त में, पण्डितजी को रिक्त हाथ घर लौटना पड़ा।

उपर्युक्त कहानी इस तथ्य की झलक देती है कि बहुतों में बिना सोचे-समझे दूसरों का अनुकरण करने की प्रवृत्ति होती है। आँख बन्द करके दूसरों का

अनुकरण करना अनुचित है। इसके अतिरिक्त, लोगों की प्रवृत्ति ऐसी होती है कि जिनका वे सम्मान करते हैं, उनका अनुसरण करते हैं; इसलिए शिक्षकों व धार्मिक व्यक्तियों के लिए अनिवार्य है कि वे अच्छे मानकों को स्थापित करें।

एक व्यक्ति छात्रों के एक समूह को अद्वैत दर्शन की व्याख्या कर रहा था और अपने व्याख्यान के समय, उसने यह बताया कि संसार असत्य है। तभी अचानक, एक जंगली हाथी उसी ओर दौड़ता हुआ आया। चेले तितर बितर भाग खड़े हुए; शिक्षक कोई अपवाद नहीं था। दुर्भाग्य से, शिक्षक फिसलकर एक गड्ढे में गिर गया। हाथी के चले जाने के बाद, छात्रों ने सहायता के लिए चिल्लाते हुए अपने शिक्षक को गड्ढे में ढूँढ पाया। वे उसके पास गए और पूछे, "गुरुजी, आप हमें बता रहे थे कि संसार असत्य है। फ़िर जब हाथी ने आक्रमण किया, तो भय से जकड़े हुए आप क्यों भागे? इसके अतिरिक्त, अब आप सहायता के लिए क्यों चिल्ला रहे हैं?" असहाय शिक्षक ने एक पल के लिए सोचकर कहा, "कृपया बाहर आने में मेरी सहायता करें; फ़िर मैं समझाऊँगा।" तदनुसार, उसे बाहर निकाला गया।

शिक्षक उसी स्थान पर बैठ गया जहाँ वह पहले पढ़ाता था और बिना पलक झपकाए, घोषित किया, "मैंने जो कहा, मैं पूर्णतः उसका समर्थन करता हूँ। संसार असत्य है। जिस हाथी ने आक्रमण किया था, वह असत्य था। तुम लोग ने देखा कि मैं एक गड्ढे में गिर गया था और सहायता के लिए चिल्ला रहा था। वह सब असत्य था। अन्त में, तुम लोगों का मेरी सहायता करना भी अवास्तविक था।" स्पष्टीकरण से पता चलता है कि तथाकथित शिक्षक चतुर तो अवश्य था, परन्तु यह इस तथ्य को नहीं बदलता है कि वह पाखण्डी था।

व्यक्ति को अपनी अन्तरात्मा के प्रति सच्चा होना चाहिए। अद्वैत की ऊँची-ऊँची बातें करके कोई दूसरों से छल कर सकता है, परन्तु अगर वह अपने आचरण नहीं सुधारेगा, तो उसे उससे कोई लाभ नहीं मिलता। यह कहा जाता है, "जो सांसारिक सुखों से लगाव रखा हुआ है, परन्तु फ़िर भी कहता है कि सब कुछ ब्रह्म है, वह वास्तव में कर्म से गिरा हुआ है और ब्रह्म से भी। ऐसे व्यक्ति को नीच की तरह छोड़ दिया जाना चाहिए।" चूँकि ऐसा व्यक्ति

सत्य को जानने और मुक्ति प्राप्त करने में विफल रहता है, इसलिए कहा जाता है कि वह ब्रह्म से गिर गया है। चूँकि वह स्वयं को साक्षात्कार प्राप्त किए व्यक्ति का दिखावा करता है, इसलिए वह विहित कर्तव्यों का निष्ठापूर्वक अनुष्ठान नहीं करता है। इसलिए, यह घोषित किया गया है कि वह कर्म से पतित है।

2.44 विघटन किए बिना अन्वेषण

एक व्यक्ति के पास एक हारमोनियम था। जब उन्होंने उसे बजाया, तब उससे मधुर धुन निकली। मनमोहक धुनों को सुनकर दूसरे व्यक्ति ने सोचा, "इस तरह का मधुर संगीत कैसे निकलता है? सम्भवतः ये धुन इस यन्त्र के अन्दर स्थित हैं।" बहुत उत्सुक होकर, उसने हारमोनियम को खोलकर उसे टुकड़ों-टुकड़ों में विघटित कर दिया और प्रत्येक कोने में ध्वनियों का अन्वेषण किया। वह आन्तरिक भागों के साथ कितना भी तोड़-मरोड़ करता रहा, परन्तु उनमें से मूल संगीत नहीं प्राप्त कर सका। "आह, क्या आश्चर्य है! यह उपकरण अचानक कहीं से संगीत उत्पन्न करता है," उसने निष्कर्ष निकाला।

जबकि कुछ ऐसे अवसर होते हैं जहाँ किसी को खोलकर विघटित करके विश्लेषण करना चाहिए, ऐसी कई अन्य स्थितियाँ हैं, जहाँ इस प्रविधि से कोई सहायता नहीं मिलेगी। आत्म-विचार दूसरी श्रेणी में आता है। आत्मा से अनुप्राणित रहने वाले शरीर को वास्तव में बिना उद्ध्वंसन किए, आत्मा का विचार करना चाहिए।

2.45 सतही ज्ञान

किसी परोपकारी ने सभी चार वेदों को अच्छी तरह से जानने वाले को पचास सहस्र रुपये की राशि प्रदान करने की घोषणा की। कुछ दिनों के

बाद, एक युवक ने उससे सम्पर्क किया और पुरस्कार माँगा। "क्या आप चारों वेदों से परिचित हैं?" परोपकारी ने पूछा। पुरस्कार के इच्छुक उस युवक ने उत्तर दिया, "मुझे इस तथ्य की जानकारी है कि वेद चार हैं।" उस उत्तर से दानी दंग रह गया और पूछा, "इतना ही?" युवक ने कहा, "महोदय, मुझे पता है कि वेद संख्या में चार हैं। क्या यह पर्याप्त नहीं है?" वैसे तो परोपकारी को क्या करना था? उसने युवक को बस भगा दिया।

जिस तरह उस युवक का सतही ज्ञान उसे पुरस्कार दिलाने के लिए अपर्याप्त था, उसी तरह सत्य के ऊपरी या परोक्ष ज्ञान से मुक्ति नहीं मिल सकती। अद्वैत-परम-तत्त्व का अपरोक्ष-साक्षात्कार वह है जो अज्ञान का नाश करता है और जिससे जन्म-मृत्यु के संसार-भ्रमण से मुक्ति मिलती है।

2.46 सन्निकट वस्तु की उपेक्षा करना

एक बार दस मूर्खों ने एक नदी पार की। दूसरे किनारे पर पहुँचने के बाद, वे यह पता लगाना चाहते थे कि क्या वे सभी इस पार आ गए हैं। उनमें से एक ने गिनना प्रारम्भ किया। उसने स्वयं को छोड़कर सभी को गिना और यह निष्कर्ष निकाला कि उनमें से एक डूब गया है। इससे वह बहुत दुःखी हुआ। एक अन्य मूर्ख ने भी वही त्रुटि की और पुष्टि की कि एक व्यक्ति गुम हो गया है। परिणामस्वरूप सभी रोने लगे।

एक हितैषी उस ओर से जा रहा था और उसने यह जानना चाहा कि उनकी समस्या क्या है। मूर्खों में से एक ने कहा, "हम दस लोग नदी पार करने निकले थे, परन्तु अब हम केवल नौ हैं।" हितैषी चकित हो गया। उसने उनके नेता से कहा, "कृपया गिनें और मुझे बताएँ कि आप में से कितने यहाँ हैं।" जैसा कि दूसरों ने उससे पहले किया था, वह भी वही संख्या, "नौ," पर आ पहुँचा। आप्त व्यक्ति ने घोषणा की, "नहीं। दसवाँ मनुष्य मरा नहीं है।" मूर्खों ने कुछ सन्तोष का अनुभव किया। तुरन्त, उस व्यक्ति

की ओर संकेत करते हुए, जिसने गिनती की थी, उस हितैषी ने कहा, "दसवें व्यक्ति तुम हो।" शुभचिन्तक के शब्दों का महत्त्व मूर्खों की समझ में आ गया। उनके दुःख का स्थान उल्लास ने ले लिया।

प्रत्येक मूर्ख स्वयं को गिनना भूल गया; हम अद्वैत परब्रह्म होने के अपने वास्तविक स्वरूप को भूल गए हैं। कहानी के शुभचिन्तक जैसी भूमिका निभाते हुए, सद्गुरु अपने शिष्य से कहते हैं, "तुम सीमित एवं दुःखी नहीं हो, जैसे तुम अपने आप के बारे में कल्पना करते हो। तुम सर्वोच्च हो जो सत्-चित्-आनन्द स्वरूप है।" एक अत्यन्त शुद्धचित्त- वाला शिष्य तुरन्त प्रबुद्ध हो जाता है। नीची क्षमता वाले शिष्य को सन्देह और मिथ्या-ग्रहण जैसे दोषों से छुटकारा पाने हेतु, लम्बे समय तक अपने गुरु की सेवा व श्रद्धा से आध्यात्मिक साधना करनी पड़ती हैं। फ़िर, वह सत्य का प्रत्यक्ष बोध प्राप्त करता है।

2.47 उपनिषद् ज्ञान के निर्दोष साधन हैं

भर्च्छु नामक एक व्यक्ति किसी राजा का प्रिय था। अन्य राजसभासद, जो उससे अत्यधिक ईर्ष्या रखते थे, उससे मन ही मन खीझते थे। इसलिए उन्होंने एक योजना बनाई और उसके अपहरण करवाने की व्यवस्था की। उसके हाथ बँधे और आँखें ढकी हुई, भर्च्छु को राज्य से बहुत दूर ले जाया गया और एक घने जंगल के भीतर छोड़ दिया गया। वह सहायता के लिए चिल्लाने लगा।

उसके सौभाग्य से, एक वनवासी ने उसके रोने की ध्वनि सुनी। उसके पास आकर उसने उसकी आँखों से पट्टी हटाई और उसके हाथ खोल दिए। फ़िर, उसने इंगित किया कि किस दिशा में भर्च्छु को अपने राज्य तक पहुँचने के लिए आगे बढ़ना चाहिए। भर्च्छु कुछ समय के लिए निर्देशित दिशा में आगे बढ़ा और एक अन्य वनवासी से मिला। उसने उससे और निर्देश लिए। इस

प्रकार, अपनी यात्रा के समय, विभिन्न लोगों से दिशा-निर्देश माँगते हुए, वह अपने राज्य की सीमा तक पहुँच गया। हालाँकि, जिन राजसभासदों ने उसका अपहरण करने की व्यवस्था की थी, उनके द्वारा बरती गई सावधानियों के कारण, उन्हें उसके आगमन की भनक मिल गई। उन्होंने उसे धमकाया और राज्य में उसके प्रवेश को रोक दिया। बहुत पहले ही उन्होंने राजा को सूचित किया था कि भर्च्छु की मृत्यु हो गई है और धीरे-धीरे उन्हें इस सीमा तक आश्वस्त कर लिया था कि राजा को इसके सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं रहा।

एक दिन राजा राजधानी से जंगल की ओर निकल पड़ा। अकस्मात्, वह भर्च्छु से मिल गया। राजा को भर्च्छु से मिलकर बहुत प्रसन्नता होनी चाहिए थी। हालाँकि, उसने जो अनुभव किया वह प्रसन्नता नहीं, प्रत्युत डर था। इसका कारण यह था कि वह पूरी तरह से आश्वस्त था कि उसके सामने जो खड़ा था, वह भर्च्छु का भूत था, क्योंकि वह व्यक्ति भर्च्छु मर चुका था। वह तुरन्त मुड़ा और तेज़ी से भाग निकला, जिससे भर्च्छु बहुत दुःखी और उदास हो गया।

राजा की दृष्टि दोष-रहित थी और उसने उसे भर्च्छु की स्पष्ट छवि प्रस्तुत की। हालाँकि, मिथ्या-ग्रहण के दोष के कारण, वह सही निष्कर्ष पर नहीं पहुँचा। उपर्युक्त कहानी में बताए हुए राजा की आँखों की तरह, उपनिषद् भी निर्दोष हैं। वे सही ज्ञान उत्पन्न करते हैं। हालाँकि, ऐसे होते हुए भी, उपनिषदों का अध्ययन करने वाले कई लोग तुरन्त प्रबुद्ध नहीं हो जाते हैं। इसका कारण उनके मन में निहित दोष हैं। वे इन्द्रिय-विषयों के प्रति अत्यधिक लगाव, जो पढ़ाया गया है उसके बारे में सन्देह, साथ ही मिथ्याबोधों जैसे दोषों से घिरे हैं। यद्यपि उपनिषद् ज्ञान का निर्दोष साधन हैं, तथापि इस प्रकार के दोषों के कारण, कोई व्यक्ति सही ज्ञान प्राप्त करने में विफल रहता है।

2.48 अवास्तविक वास्तविक को इंगित कर सकता है

एक व्यक्ति सो गया। शीघ्र ही एक सपने में उसने स्वयं को एक उग्र बाघ द्वारा पीछा किए जाते हुए देखा। चूँकि बाघ उससे कहीं अधिक तीव्र गति से दौड़ आ रहा था, इसलिए उनके बीच की दूरी तेज़ी से घटती गई। वह भय से भर गया। वह इतना भयभीत था कि वह अचानक जाग गया; उसका माथा पसीने से भीग गया था। सपने में उसके द्वारा देखा गया बाघ निस्सन्देह अवास्तविक था। हालाँकि, वह एक वास्तविक प्रभाव, यानी प्रबोधन, लाने में साधक था।

कुछ लोग आपत्ति उठाते हैं — "अद्वैतियों के अनुसार, संसार अवास्तविक है और केवल ब्रह्म वास्तविक है। यदि हाँ, तो ब्रह्माण्ड में अन्तर्भूत वेद जो हैं, उनकी शिक्षाएँ असत्य होनी चाहिए। इसलिए, वे सच्चे ज्ञान उत्पन्न नहीं कर सकतीं। फलस्वरूप, वेदों पर आधारित अद्वैत दर्शन निरर्थक होना चाहिए।" यह आपत्ति अमान्य है।

संसार की अवास्तविकता की बात अद्वैतवादी केवल पारमार्थिक-सत्य के दृष्टिकोण से करते हैं। व्यावहारिक दृष्टिकोण से, जगत् और वेद अवश्य विद्यमान हैं। अद्वैतवादियों का एक और उत्तर यह है कि जैसे उपर्युक्त दृष्टान्त में देखा गया है, एक अवास्तविक वस्तु वास्तविक की ओर ले जा सकती है। इसलिए, अवास्तविक होते हुए भी, वेद तत्त्व-साक्षात्कार, तथा तद्द्वारा परब्रह्म में प्रतिष्ठा, प्रदान कर सकते हैं।

2.49 पहचान का अभिज्ञान

एक राजकुमार का बचपन में अपहरण कर लिया गया था। उसे एक जंगल में ले जाया गया और वहाँ मरने के लिए छोड़ दिया गया। सौभाग्य से, कुछ वनवासियों ने उसकी देखभाल की। उनके द्वारा पालन-पोषण किए जाने के

कारण, वह एक वनवासी के रूप में जीने, काम करने और चाल-चलन करने लगा। बरसों बीत गए। उधर राजधानी में, राजा का निधन हो गया। इसलिए, राजकुमार का अन्वेषण तेज़ कर दिया गया। कुछ लोग जो उसे एक बच्चे के रूप में जानते थे, उन्होंने अचानक उसे जंगल में देखा और यहाँ तक कि उसे पहचानने में भी सफल रहे। उन्होंने उसे उसके राजवंशी जन्म की सूचना दी। तब उन्होंने उससे कहा चूँकि उसका पिता मर गया है, इसलिए उसे सिंहासन ग्रहण करना उचित होगा। पहले तो उसने उन पर विश्वास नहीं किया। धीरे-धीरे, उसे विश्वास हो गया कि उन्होंने उससे सच कहा है। वह राजधानी लौट आया और शीघ्र ही एक राजा के अनुरूप आचरण करने लगा।

वास्तव में हम सर्वोच्च हैं, जो सभी बन्धनों से रहित हैं। अज्ञान के कारण, हम मानते हैं कि हम जन्म और मृत्यु के अधीन हैं और हमें दुःख का अनुभव करना पड़ता है। गुरु के वचनों के माध्यम से हमें अपने वास्तविक स्वरूप का बोध हो जाने पर, हम अपनी काल्पनिक हथकड़ियों को तोड़ देते हैं और आनन्दमय परब्रह्म बने रहते हैं। कोई वास्तविक परिवर्तन नहीं होता। झूठी मान्यताओं को त्याग दिया जाता है, जैसा कि राजकुमार के सम्बन्ध में हुआ।

2.50 बन्धन और मुक्ति का कारण — मन

एक तीन साल के लड़के ने एक सेब माँगा। चूँकि घर पर सेब नहीं था, इसलिए उसकी माँ ने उसके बदले उसे दूसरे फल दिए। उसने उन्हें लेने से मना कर दिया और हठपूर्वक कहा कि उसे एक सेब ही दिया जाए। उसकी माँ ने उससे कहा कि वह सायंकाल तक उसके लिए एक सेब खरीद देगी। हालाँकि, वह रो पड़ा और तब तक रोता रहा जब तक कि उसमें आसक्त माँ उसे एक फल व्यापारी के यहाँ नहीं ले गई और उसने उस लड़के को अपनी रुचि का एक सेब लेने की अनुमति नहीं दे दी। जब उसकी इच्छा पूरी हुई, तो वह प्रसन्नता से मुस्कुराने लगा।

उसकी सात वर्षीय बहन, जिसने यह सब देखा था, उसका थोड़ा उपहास करना चाहती थी। उसने मुख पर गम्भीर भाव का नाटक करते हुए, उससे कहा, "तुमने अनजाने में एक बीज खा लिया है। मैंने तुम्हें ऐसा करते हुए देखा। तुम्हें पता है क्या होगा? एक सेब का वृक्ष तुम्हारे पेट में उगने लगेगा। इससे तुम्हें बहुत वेदना होगी व यह तुम्हारी नाक और मुँह से बाहर निकलकर तुम्हें हँसी का पात्र बना देगा।" उसने उसकी बनाई हुई बात को पूर्णतः सही मान लिया और भय के मारे पीला पड़ गया। उसे भयभीत देखकर, उसकी माँ ने कारण का पता लगाया और उसे समझाने का पूरा प्रयास किया। उसने एक से अधिक बार इस बात पर बल दिया कि उसकी बहन उसकी टांग खींच रही है। परन्तु उस पर उनकी बात का तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ा। वह सतत आतङ्कित रहा और उसने घंटों पानी की एक बूँद भी नहीं पिया। उसकी माँ को उसकी चिन्ता सताने लगी। इसलिए, जैसे ही उसका पति काम से लौटा, उसने उसे सब कुछ बताया जो भी घटित हुआ था।

पिता ने अपने बेटे को अपनी बाहों में लिया और एक कोमल तथा आश्वस्त स्वर में कहा, "सामान्यतः, सेब के बीज को निगलने पर, पेट के अन्दर कोई भी वृक्ष नहीं उगता। यदि ऐसा होता भी है, तब भी छोटा होता है। वास्तव में, वह इतना छोटा है कि वह किसी भी वेदना का कारण नहीं बनता और दूसरों द्वारा नहीं देखा जा सकता। इसलिए, भले ही तुम्हारे भीतर एक पेड़ विकसित हो, इससे तुम न तो पीड़ित होगे और न ही उपहास का पात्र बनोगे। तुम्हें सेब पसन्द है। एक बार कभी जब तुम्हारे भीतर एक वृक्ष पनपेगा, तो तुम्हें सेब की निरन्तर आपूर्ति मिलेगी। तुम अपनी उङ्गलियों को अपने मुँह के अन्दर डालकर एक छोटा फल निकाल सकते हो और उसे चबाकर निगल सकते हो। क्या जब भी तुम चाहो, स्वादिष्ट सेब प्राप्त करने में सक्षम होना अद्भुत नहीं होगा?"

लड़के ने सिर हिलाया और उसके मुखमण्डल पर मन्दहास के चिह्न बन गए। "क्या तुम चाहते हो कि पेड़ बड़ा हो या नहीं?" पिता ने पूछा। "निश्चित रूप से मैं चाहता हूँ," लड़के ने उत्तर दिया। "बीज अंकुरित नहीं भी हो सकता है। परन्तु अगर ऐसा होता है, तो इसे एक वृक्ष के रूप में विकसित करने में

सहायता करने के लिए, तुम्हें खाना खाना होगा और पानी पीना होगा। यदि तुम अपने आप को भूखा रखोगे, तो पेड़ मर जाएगा," पिता ने बताया। लड़का तुरन्त अपनी माँ के पास गया और अपना भोजन व एक गिलास पानी माँगा। उसका भय पूर्णतः आमोद व उत्साह में बदल गया था।

एक सेब के लिए उसकी अधूरी इच्छा के कारण, लड़का प्रारम्भ में उदास था। इसके बाद, वह अपने अतिप्रिय शरीर के प्रति मूर्खतापूर्ण प्रकार से कल्पित आगामी आपत्ति के कारण, घबराहट की चपेट में आ गया था। इस तरह, सेब प्राप्त करने से पहले और बाद में, उसके दुःख का कारण उसका मन था।

राजा ऋषभ ने अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत का अभिषेक किया और अपनी सारी सम्पत्ति का त्याग कर दिया। भरत और उनकी पत्नी पञ्चजनी के पाँच बेटे थे। विद्वान और धर्मपालन में निष्ठावान, उसने न्यायपूर्ण शासन किया और अपनी प्रजा की अत्यन्त स्नेहपूर्वक देखरेख की। प्रजा अपने कर्तव्यों का पालन करती थी और राजा को उच्च सम्मान में रखती थी। राजा भरत ने दर्श-पूर्णमास जैसे अनेक यज्ञ किए और गहरी भक्ति के साथ भगवान विष्णु की पूजा की। लम्बे समय तक अपने राज्य पर शासन करने के बाद, उसने अपना राज्य और सम्पत्ति अपने बेटों को सौंप दी, और गण्डकी नदी के तट पर पवित्र क्षेत्र शालिग्राम के पास चला गया। वहाँ, वह वानप्रस्थ के रूप में रहता था। वह दिन में तीन बार स्नान करता था, बिना चूके अपना सन्ध्या-वन्दन करता था और पूजा में तथा भगवान के ध्यान में बहुत समय बिताता था।

एक दिन, जब उसने नदी में स्नान के बाद अपना सन्ध्यावन्दन पूरा किया, तब एक गर्भवती हिरनी को नदी के पास जाते हुए देखा, जो अपना प्यास बुझाने आई थी। जब वह अत्यन्त उत्सुकता से पानी पी रही थी, उसने एक शेर की दहाड़ सुनी। भय से त्रस्त, वह धारा के पार उछली। जैसे ही उसने ऐसा किया, उसके गर्भ में से भ्रूण उभरा और जल में गिर गया। थकावट और समय से पहले ही बच्चे को जन्म देने के कारण, माँ की मृत्यु हो गई। तरस खाकर, भरत ने अनाथ और असहाय शिशु को बचाया। उसने उसके पालन-पोषण का उत्तरदायित्त्व सम्भाला।

भरत ने उसका बहुत ध्यान रखा। उसके प्रति उसका लगाव बढ़ता गया। फलस्वरूप, जब भी वह जंगल में घूमने जाता था और वापस लौटने में समय लगता, तो वह चिन्ता से ग्रस्त हो जाता; उसे भय था कि उस हिरन पर किसी माँसाहारी ने आक्रमण कर दिया होगा। यहाँ तक कि जब वह आश्रम में था, तो उसने यह पुष्टि करने के लिए कि वह सुरक्षित और स्वस्थ है, अपने धार्मिक अनुष्ठानों को बाधित किया। समय बीत गया। अन्ततः, भरत मर रहा था। उसके मन में यह विचार व्याप्त हो गया कि हिरण का क्या होगा। उसने पशु को बचाने से पहले जिन प्रभु को लगभग प्राप्त कर लिया था, उनके बदले हिरण पर ध्यान केन्द्रित करते हुए, उसने अपनी अन्तिम साँस ली।

अपने गहन लगाव के फलस्वरूप, उसका हिरण के रूप में पुनर्जन्म हुआ। सौभाग्यवश, उसका पिछले जन्म की स्मृति ने उसका साथ नहीं छोड़ा। वह वापस शालिग्राम के पास गया, वहाँ रहने लगा और धैर्यपूर्वक एक हिरण के रूप में अपने जीवन के अन्त की प्रतीक्षा करता रहा। मृत्यु के बाद, उसने एक धर्मनिष्ठ ब्राह्मण की दूसरी पत्नी के इकलौते बेटे के रूप में पुनर्जन्म लिया। उसे अपने पिछले जन्मों का स्मरण था और इसलिए, संसार से लगाव का उसे बहुत भय था। आसक्ति को पूर्णतः त्यागकर, उसने अपना ध्यान ईश्वर पर केन्द्रित किया और तत्त्व-साक्षात्कार प्राप्त किया। उसने एक मन्दबुद्धि की तरह आचार-व्यवहार किया। उसके पिता ने उसका उपनयन किया और उसे पढ़ाया। हालाँकि भरत का मन यहाँ तक कि धार्मिक गतिविधि के प्रति भी विमुख था। इसलिए, उसे शिक्षित करने के उसके पिता के प्रयास असफल रहे। समय बीतने के साथ, भरत के माता-पिता की मृत्यु हो गई।

उसे मूढ़मति मानते हुए उसके सौतेले भाइयों ने उसे पढ़ाने के सभी विचार त्याग दिए। वे इस बात से अनभिज्ञ थे कि भरत सदैव परब्रह्म में स्थित एक जीवन्मुक्त था। भरत ने अपने कौपीन पर एक चीथड़े से अधिक कुछ नहीं पहना और धरती पर सोता था। उसके भाइयों ने उसे अपने खेतों में काम पर लगाया। उसने कोई आपत्ति नहीं जताई, परन्तु निःस्वार्थ भाव से काम किया। उसके भाइयों ने उसे खाने के लिए जो कुछ भी दिया, चाहे वह अच्छी तरह से पका हो या नहीं, वह खा लिया करता था।

एक दिन, पुत्र की इच्छा रखने वाले एक डाकू नेता ने देवी काली को नर-बलि चढ़ाने की व्यवस्था की। उसके सेवकों ने उस बलि के लिए लम्बे समय तक खोजबीन की और तब उन्होंने भरत को देखा, जो बलिष्ठ और प्रत्येक अङ्ग में निर्दोष था। उन्होंने उसे रस्सी से बाँध दिया, जिसका उसके द्वारा कोई विरोध नहीं किया गया, और उसे बलि के स्थान पर ले गए। वहाँ उन्होंने उसे नहा-धोकर सजाया। जब वह मारा जाने वाला ही था, तो देवी ने सन्त के जीवन को बचाने के लिए हस्तक्षेप किया और उन्होंने उन लोगों को मार डाला, जो उसका रक्त बहाना चाहते थे।

एक दिन, ऋषि कपिल से मिलने के लिए सिन्धु-सौवीर क्षेत्र का शासक एक पालकी पर निकला। नई नियुक्तियों की खोज में रहे पालकी-वाहकों के नेता ने भरत को देखा। उसने राजा की पालकी ढोने के लिए ऋषि भरत को चुना।

भरत ने विरोध में एक शब्द नहीं कहा। परन्तु वह अपनी आँखें धरती पर टिकाकर चलता था और उसकी गति दूसरों की गति से मेल नहीं खाती थी। तो पालकी ने हिचकोले खाए। राजा ने अपने पालकी वाहकों को समान गति से चलने का निर्देश दिया। पालकी हिचकोले खाती रही। यह जानकर कि उसके निर्देशों का वाञ्छित प्रभाव नहीं हो रहा था, शासक ने भरत को इसका उत्तरदायी पाया और उसे फटकार लगाई। व्यंग्यात्मक ढंग से, उसने भरत से कहा, "अरे! तुमने पालकी को बहुत दूर तक अकेले अपने ही बल पर ढोया है; तुम हृष्ट पुष्ट नहीं हो और उम्र ने तुम्हें बलहीन बना दिया है।"

राजा पर दया करते हुए, भरत ने उन्हें सत्य की शिक्षा दी। उसने कहा, "मोटापा का सम्बन्ध है मेरे शरीर से, मुझसे नहीं। आपका शरीर पृथ्वी का एक रूपान्तर है। वह जिस पालकी द्वारा वहन किया जाता है, वह पुनः पृथ्वी का रूपान्तर है। वाहक का शरीर भी पृथ्वी का ही बना है। पालकी कन्धे पर टिकी होती है जो धड़ के आधार पर स्थित है; धड़ भार को पैरों में स्थानान्तरित करता है; पैर धरती पर स्थित हैं। फ़िर मेरे द्वारा किसी बोझ को वहन किए जाने का प्रश्न ही कहाँ है? तय की जाने वाली दूरी या पहुँचे जाने वाला गन्तव्य जैसी धारणाएँ वास्तविकता पर आधारित नहीं हैं। केवल चैतन्य ही सत्य है। शेष सब आभास मात्र है।" राजा को भरत की महानता

का बोध हुआ और ऋषि के प्रबोधक, मार्मिक प्रवचन से बहुत लाभान्वित हुआ। भरत ने आसक्ति को तनिक भी अवकाश दिए बिना, अपना जीवन जिया और मृत्यु के बाद, विदेह-मुक्ति प्राप्त कर ली।

भरत का मन उसके पुनर्जन्मों का कारण था और उसके सत्य का ज्ञान प्राप्त करने का और इसलिए, मुक्ति का भी। मैत्रायणी-उपनिषद् घोषित करता है, "मन दो प्रकार का होता है, शुद्ध और अशुद्ध। इच्छा के साथ होने पर वह अशुद्ध है; इच्छा-रहित होने पर वह शुद्ध है ... मनुष्यों के बन्धन और मुक्ति का कारण वास्तव में मन ही है। जब वह वस्तुओं से जुड़ जाता है, तो बन्धन का कारण बनता है। विषयों के विचारों से रहित होने पर, वह मुक्ति की ओर ले जाता है ... जैसे ईंधन के समाप्त होने पर, अग्नि अपने मूल में विलीन हो जाती है, वैसे ही विचारों की समाप्ति पर, मन अपने स्रोत में, आत्मा में, लय हो जाता है ... मन को हृदय में, आत्मा पर, तब तक संयमित रखना चाहिए, जब तक कि वह नष्ट न हो जाए ... जिस मन का मल समाधि द्वारा धोया गया है और जो आत्मा पर दृढ़ स्थापित है, उसे प्राप्त आनन्द शब्दों में वर्णित नहीं किया जा सकता है।"

2.51 सर्वस्व का परित्याग

द्वापर युग में, शिखिध्वज नाम का एक राजा था, जिसने मालव देश पर शासन किया था। वह विद्वान था और उदारता, दया और वीरता जैसे सद्गुणों से सम्पन्न था। उसकी रानी सौराष्ट्र के राजा की बेटी चूडाला थी। वह अति पवित्र और अपने पति के लिए एक आदर्श साथी थी। पति-पत्नी एक-दूसरे से बहुत प्रेम करते थे और समय बीतने के साथ उनका आपसी स्नेह बढ़ता गया। वे बड़े आनन्द से एक साथ रहते थे।

बरसों बीत गए। उनका यौवन बीत गया और वे बूढ़े हो गए। उन्हें निश्चित रूप से बोध हुआ कि सभी सांसारिक वस्तुएँ और सुख क्षणिक हैं और ऐसी कोई सांसारिक वस्तु नहीं है, जिसे प्राप्त करने पर मन को दुःख से स्थायी

मुक्ति मिलता हो। गहराई से चिन्तन करते हुए, उन्होंने ऐसा निष्कर्ष निकाला कि केवल आत्मज्ञान ही संसार चक्र रूपी विषाक्त रोग से पूरी तरह से मुक्ति प्रदान कर सकता है। इसलिए, अपना पूरा मन लगाकर, उन्होंने ऐसा ज्ञान प्राप्त करने का प्रयास किया।

चूडाला ने ज्ञानियों से शास्त्रों का तात्पर्य सुना और फ़िर जो उसने सुना था, उस पर विचार किया। उसने सोचा, "मैं कौन हूँ? शरीर जड़ वस्तु है। मैं, जो चेतन हूँ, शरीर नहीं हो सकती। शरीर से जुड़ी इन्द्रियाँ, शरीर जैसे ही जड़ हैं; जैसे एक डंडे से वार किए जाने पर एक पत्थर हिलाया जा सकता है, वैसे ही वे मन से प्रेरित होती हैं। तो, मैं इन्द्रिय नहीं हूँ। और न ही मैं मन हूँ, जो मूल रूप से चैतन्य-रहित है; अन्ततोगत्वा, वह बुद्धि द्वारा प्रेरित किया जाता है, किसी जड़ वस्तु की तरह। बुद्धि, अहंकार द्वारा प्रेरित होने के कारण, निश्चित रूप से जड़ है और मैं बुद्धि नहीं हो सकता।"

इस तरह, गहराई से सोचते हुए, चूडाला इस निष्कर्ष पर पहुँची कि वह अद्वैत चित्, सर्वोच्च ब्रह्म है। अपने स्वरूप परम सत्य पर ध्यान केन्द्रित करते हुए, उसने आत्मज्ञान प्राप्त किया। वह विरक्त एवं सुख-दुःख और गर्मी-ठण्ड जैसे विरोधी द्वन्द्वों से अविचलित हो गई।

शिखिध्वज ने पाया कि चूडाला तेजस्वी दिख रही है। उसने उससे पूछा, "ऐसा कैसे है कि तुम ऐसी दिखती हो जैसे कि तुमने अपना यौवन फ़िर से प्राप्त कर लिया हो?" उसने उत्तर दिया, "मैंने संसार को त्याग दिया है जो न तो वास्तविक है और न ही पूरी तरह से असत्। मैं सांसारिक भोगों के बिना सन्तुष्ट हूँ और न तो हर्ष अनुभव करती हूँ और न चिढ़। मैं पूर्ण और अनन्त आत्मा में आनन्द लेती हूँ। इसलिए, मैं दीप्तिमान दिखती हूँ।"

हालाँकि, राजा को उसकी बातों का महत्त्व समझ में नहीं आया। इसलिए, उसने उससे उपहासपूर्वक कहा, "तुम बच्चे की तरह बकबक करती हो। तुम राजसी सुखों के बीच में हो। तुम्हारे कुछ त्यागने का प्रश्न ही कहाँ है? तुम भ्रमित हो। हे सुन्दरी, तुम शब्दों से खिलवाड़ कर रही हो। आनन्द लो।" वह हँस पड़ा और अपने अपराह्न के स्नान के लिए निकल गया।

चूडाला को शिखिध्वज पर तरस आ गया परन्तु उसे यह पता चला कि उसका पति आत्मज्ञान के बारे में उसके परामर्श पर ध्यान नहीं देगा। यद्यपि वह इच्छाओं से परे थी और अनवरत सन्तुष्ट थी, एक दिन, उसने यूँ ही अलौकिक शक्तियों को पाने का निर्णय किया। अपेक्षित नियमों का पालन करते हुए, उसने प्राणायाम और ध्यान का अभ्यास किया। उसने अपनी कुण्डलिनी जगाई। अन्त में, उसने बहुत छोटा या बृहत् बनने जैसी सभी प्रसिद्ध आठ योग-सिद्धियों को प्राप्त किया। आध्यात्मिक साधकों को सिद्धियों में अनुरक्त नहीं होना चाहिए और उन्हें अपने योग मार्ग में विक्षेपों और बाधाओं के रूप में देखना चाहिए। हालाँकि, चूँकि चूडाला पहले से ही प्रबुद्ध थी, उसके पाने या खोने के लिए कुछ भी नहीं था और उनकी प्राप्ति, उसे परब्रह्म में अपनी संस्थिति से तनिक भी विचलित नहीं की।

यद्यपि उसने अपने पति को उसकी अज्ञानता की नींद से जगाने का बहुत प्रयास किया, परन्तु उसने उसे केवल अपनी अत्यन्त प्यारी, परन्तु अबोध, पत्नी मानते हुए, उसके शब्दों पर ध्यान नहीं दिया। राजा ने बहुत दान किया, तीर्थयात्राएँ कीं और गम्भीर आहार प्रतिबन्ध व उपवास सहित प्रशस्त तपस्या भी की। फ़िर भी, वह सत्य से अनभिज्ञ बने रहा व कष्टों से तड़पता रहा। उसे दृढ़ता से लगने लगा कि उसका सुखभोग, अधिकार और कर्तव्य उसके सत्य के अन्वेषण में अवरोध हैं। इसलिए, उसने उन्हें त्यागने का निर्णय लिया।

उसने चूडाला से अकेले में कहा, “मैंने इस राज्य पर लम्बे समय तक शासन किया और विभिन्न भोगों का अनुभव भी किया। अब, वैराग्य से प्रेरित, मैं वानप्रस्थ होना चाहता हूँ। सुख, दुःख, सम्पत्ति और प्रतिकूलता उस व्यक्ति को पीड़ित नहीं करते जो त्याग कर चुका होता है और जंगल में रहता है। वहाँ रहकर, मैं सभी चिन्ताओं से मुक्त और प्रसन्न रहूँगा। तुम्हें मेरे सच्चे कार्य के मार्ग पर आगे बढ़ने के प्रयास को विफल नहीं करना चाहिए, प्रत्युत राज्य को सम्भालना चाहिए।” चूडाला ने उसे अवगत कराया कि उस समय राज्य का त्याग करना अनुचित है। परन्तु, वह अपने संकल्प पर अडिग रहा। रात को जब चूडाला सो रही थी, वह उसकी उपस्थिति से दूर चला गया। उसने अपने परिचारकों को बताया कि वह अकेले पहरे पर जा रहा है।

वह दूर के जंगल में चला गया और उसने पत्तों की एक झोंपड़ी बनाई। वहाँ वह जप और पूजा करते हुए रहता था। चूडाला ने अपनी योग शक्तियों से उसे ढूँढ़ लिया, परन्तु यह तय करके कि उसकी सहायता करने का वह उचित समय नहीं है, उसने उसे अकेला छोड़ दिया और राज्य की देख-भाल करती रही। समय बीत गया। अपने पति का उत्थान करने की इच्छा से और यह जानकर कि वह उसके परामर्श को गम्भीरता से नहीं लेगा, उसने उचित समय पर, स्वयं को तपस्या से दीप्तिमान एक ब्राह्मण लड़के में बदल दिया और शिखिध्वज से सम्पर्क किया। शिखिध्वज ने उठकर विधिवत् उसका सम्मान किया। चूडाला ने उसे बताया कि उसका नाम है कुम्भ और वह देवर्षि नारद का पुत्र है। शिखिध्वज उससे बहुत प्रभावित हुआ।

कुम्भ ने उससे कहा कि आत्मज्ञान पाने के लिए, उसे सब कुछ त्याग देना चाहिए। शिखिध्वज ने उत्तर दिया कि उसने अपने राज्य, अपने महल, धन और यहाँ तक कि अपनी प्रिय पत्नी को भी त्याग दिया है। शिखिध्वज ने तब पूछा, "क्या यह पूर्ण त्याग नहीं है?" कुम्भ के रूप में चूडाला ने उत्तर दिया, "यद्यपि आपने अपने राज्य और सभी वस्तुओं का त्याग किया है, तथापि यह पूर्ण त्याग नहीं है। आपको अभी भी लगाव है।" इन शब्दों को सुनने पर,, राजा ने कहा, "वर्तमान में, मैं इस जंगल से प्रेम करता हूँ। इसलिए, मैं अब इससे भी लगाव छोड़ दूँगा।" उसने जो करने का प्रस्ताव दिया, उसमें वह सफल रहा। फ़िर उसने कहा, "मैंने पूरी तरह त्याग कर दिया है।" चूडाला ने आपत्ति जताई और कहा, "यहाँ तक कि वृक्षों, नदियों और पहाड़ों के लिए अपने प्रेम का त्याग करने पर भी, आपने सब कुछ त्याग नहीं किया है।" फ़िर राजा ने अपने पात्र और झोंपड़ी, जिसमें वह रहता था, त्याग दिया। ऐसे होने पर भी, चूडाला असन्तुष्ट थी। अतः, शिखिध्वज ने अपने मृग-चर्म, रुद्राक्ष-माला, कटोरे आदि त्याग दिए और नग्न खड़ा हो गया।

एक बार फ़िर, चूडाला ने आपत्ति जताई कि उसने सर्वस्व का त्याग नहीं किया है। राजा ने सोचा कि चूँकि उसके पास केवल अपना शरीर बचा है, इसलिए पूर्ण त्याग प्राप्त करने के लिए, उसको उसे भी त्यागना चाहिए। वह स्वयं को आत्महत्या करने के लिए उद्यत हुआ, परन्तु उसकी पत्नी ने

उसे रोक दिया। उसने उससे कहा, "यदि आप इस शरीर को छोड़ भी देते, तो भी आपने पूर्ण त्याग नहीं किए होते। दूसरी ओर, यदि आप उसे छोड़ देते हैं जो इस शरीर का उत्प्रेरक है और जो सभी जन्मों और कर्मों का बीज है, तभी आप सब कुछ का त्याग किए होंगे।" राजा ने स्पष्टीकरण माँगा। चूडाला ने समझाया कि यह मन का त्याग है जो सबसे महत्त्वपूर्ण है। मन ही सब कुछ के रूप में प्रकट होता है। मन में वासनाएँ या प्रवृत्तियाँ समाविष्ट हैं और मन के वृक्ष का बीज अहंकार है। "अपने आत्म-स्वरूप का विचार ही मन के बीज को नष्ट कर देता है," चूडाला ने बल देकर कहा।

उससे निर्देशित राजा उसके परामर्श को अपनाने में सफल रहा और ज्ञानी बन गया। चूडाला वहाँ से चली गई और कुछ समय बाद उसके पास वापस आ गई। उसने सख्ती से उसकी परीक्षा ली, परन्तु वह अद्वैत सत्य में दृढ़ बना रहा। कुम्भ के रूप में अपने उद्देश्य को पूरा करने के बाद, उसने अपनी पहचान उसके सामने प्रकट की और उसे राज्य में लौटने के लिए मनवाने में सफल हुई। शिखिध्वज तब शासन करने लगा, परन्तु बिना किसी लगाव के, तथा बिना किसी प्रतिकूलता और समृद्धि से तनिक भी प्रभावित हुए। वह और उसकी पत्नी पूरी तरह से परमसत्य में रूढ़ बने रहे।

2.52 जगत् का भ्रमात्मकत्व

विद्यानिधि एक ब्रह्मचारी था जो एक वृद्ध महात्मा के अधीन वेदान्त का अध्ययन कर रहा था। एक पहाड़ी पर सुनसान और प्राकृतिक सौन्दर्य से भरपूर स्थल पर किसी जल-धारा के निकट स्थित एक छोटी सी झोंपड़ी में, केवल उसके गुरु और वह रहनेवाले थे। सदैव की भाँति, एक रात विद्यानिधि अपने गुरु के कमरे के प्रवेश द्वार के बाहर लेट गया। उसके गुरु कुछ समय पहले रात के विश्राम के लिए चले गए थे। कुछ ही मिनटों में विद्यानिधि सो गया। कुछ ही समय बाद, वह अपने गुरु की धीमी-धीमी कराहने की ध्वनि से जाग उठा। उसने द्वार खोला और यह जानने के लिए

प्रवेश किया कि उसके गुरु को किसी वस्तु की आवश्यकता है या नहीं। उसने अपने गुरु को अपना पेट पकड़े हुए स्पष्ट रूप से बहुत वेदना में पाया।

विद्यानिधि - हे भगवन्, क्या मैं वैद्य को गाँव से बुला लाऊँ?

गुरु - नहीं। रात में पाँच किलोमीटर की यात्रा करने का कष्ट उसे क्यों देना? कुछ भी हो, वेदना केवल शरीर-मन के सङ्घात के लिए है। मैं केवल निर्विकार और अप्रभावित साक्षी हूँ।

विद्यानिधि - मुझे पता है कि आप सुख और दुःख से अबाधित हैं, परन्तु मैं आपका दुःख सहन नहीं कर पा रहा हूँ। मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ कि मुझे कम से कम आपके लिए कुछ ओषधियाँ ले आने की अनुमति दीजिए।

गुरुजी ने देखा कि विद्यानिधि अत्यधिक चिन्तित था और उसके आँसू बह निकलने वाले थे। इसलिए, उन्होंने एक आयुर्वेदिक औषध का निर्देश किया और विद्यानिधि को वैद्य से मिलकर उसे लाने की अनुमति दी। तुरन्त ही विद्यानिधि निकल पड़ा। चाँद स्पष्ट दिखाई दे रहा था और वह वैद्य के गाँव तक केवल धारा के किनारे चलते हुए ही पहुँच सकता था। इसलिए, विद्यानिधि अपने साथ प्रकाश का कोई स्रोत नहीं ले गया। वह तेज़ चाल से आगे बढ़ा।

आधे घंटे की यात्रा के बाद, उसको अपने दाहिने पैर में तेज़ पीड़ा होने लगी। उसने पाया कि कांटों का एक गुच्छ उसके तलवे में घुस गया था। वह बैठ गया और ध्यान से उन्हें बाहर खींच निकाला। वेदना कम होने लगी। हालाँकि, सतत क्लेश के कारण, वह कुछ मिनटों के लिए बैठा रहा। फ़िर, वह यह सोचकर उठ गया, "मेरे गुरुदेव अस्वस्थ हैं। उनके लिए औषध ले जाने में विलम्ब करना मेरे लिए अनुचित है। किसी भी स्थिति में, चन्द्रमा तीन घंटे में अस्त हो जाएगा और मुझे इससे पहले वापस आ जाना चाहिए ताकि अँधेरे में यात्रा करने से बचा जा सके। काश मैं एक पक्षी की तरह उड़ सकता। मैं तब कुछ ही मिनटों में गाँव तक पहुँच कर वापस लौट सकता था।"

वह गाँव में वैद्य के घर पर आधे घंटे में पहुँचा। उसके द्वारा द्वार खटखटाए जाने पर, वैद्य के किशोर बेटे ने द्वार खोला। विद्यानिधि ने उसे बताया कि वह अपने गुरु के लिए एक विशेष औषध लेने आया है। लड़का व उसके

पिता गुरु के भक्त थे। तो, लड़के ने तुरन्त अपने पिता को जगाया। विद्यानिधि ने अपने गुरु की स्थिति का वर्णन किया और उस औषध का नाम बताया जिसे लाने के लिए वह आया था। वैद्य ने कहा, "मेरे पास इस औषध में से कुछ भी नहीं बचा है। परन्तु मैं इसे अभी बना लूँगा। लगभग आधे घंटे तक प्रतीक्षा करें।" फ़िर वैद्य ने अपना काम प्रारम्भ कर दिया। विद्यानिधि बैठ गया। चूँकि उसे नींद आ गई थी, तो उसने अपनी आँखें मूँद लीं।

उसने स्वयं को वापसी के मार्ग पर पाया। चलते-चलते, उसने स्वयं को धरती से उठता हुआ अनुभव किया। क्षणों में, वह आकाश में उड़ रहा था। जैसे ही वह अनायास ही कुटिया के पास मैदान में उतरने लगा, तो उसे पता चला कि ऊपर से देखने पर आश्रम कितना अलग दिखता है। वह अपने गुरु के पास गया। उस समय, उसने अपने कन्धे पर एक थपकी अनुभव किया। अचानक, उसने स्वयं को वैद्य के घर पर बैठा पाया। वैद्य के बेटे ने उससे कहा, "आप सो गए थे। पिता ने मुझसे कहा, 'जब तक औषध नहीं बन जाता, तब तक तुम उन्हें न जगाना।' लीजिए, यह औषध अब बना दिया गया है।"

विद्यानिधि ने औषध प्राप्त किया, वैद्य व उनके बेटे को धन्यवाद दिया और चला गया। चाँद की स्थिति से, उसने अनुमान लगाया कि उसने एक घंटा गाँव में बिताया होगा। उसने अपनी गति बढ़ा दी। आगे बढ़ते हुए, उसने सोचा, "वैद्य के घर में मेरा सपना स्पष्ट रूप से मेरी नई जाग्रदवस्था के अनुभव पर आधारित था। मैंने औषध के साथ अपने गुरु के पास वापस उड़ते हुए जाने में सक्षम होने के बारे में उत्कण्ठा से सोचा था और मैं अपने सपने में उड़ ही गया।" वह चन्द्रास्त से थोड़ा पहले आश्रम में पहुँचा। जब वह अपने गुरु के पास गया, तो उसने पाया कि उसके गुरु को अभी भी बहुत वेदना हो रही थी। उसने औषध दी। कुछ ही मिनटों में, उसके गुरु ने उससे कहा, "वेदना लगभग दूर हो गई है। तुमने मेरे लिए बहुत कष्ट सहा है। अब जाकर लेट जाओ।" विद्यानिधि अपनी चटाई पर वापस आ गया व शीघ्र ही सो गया।

वह भोर से पहले ही जाग गया, जैसा कि उसका अभ्यास था। उसने अपने गुरु के कमरे में झाँका और उनको शान्ति से सोते हुए पाया। कुछ समय

बाद, गुरुजी बाहर आए। विद्यानिधि ने आदरपूर्वक उनसे पूछा, "हे गुरुदेव, क्या मैं जान सकता हूँ कि आज आपका स्वास्थ्य कैसा है?" "अच्छा है," गुरुजी ने मन्दहास सहित उत्तर दिया और आगे बढ़ गए।

उस अपराह्न, वैद्य गुरुजी के प्रति सम्मान प्रकट करने आए। उन्हें देखते ही, विद्यानिधि ने कहा, "औषध ने हमारे गुरुजी पर शीघ्र ही काम किया।" "तुम किस औषध के बारे में बात कर रहे हो?" वैद्य ने चकित होकर पूछा। आश्चर्य में पड़ते हुए कि वैद्य कैसे भूल सकते हैं, विद्यानिधि ने समझाया, "मैं उस औषध की बात कर रहा हूँ जो आपने बनाया था और कल रात मुझे दिया था जब मैं आपके घर आया था।" "कल रात तो मुझसे मिलना तुम्हारे लिए असम्भव है। मैं पिछले एक हफ्ते से अपने गाँव में नहीं था। मैं कुछ घंटों पहले ही लौटा," वैद्य ने कहा। "क्या तुम अस्वस्थ हो?" उन्होंने पूछा। विद्यानिधि पूरी तरह से उलझन में था और चुप रह गया।

शीघ्रातिशीघ्र अवसर पर, उसने अपने गुरु से पूछा, "हे गुरुदेव, जैसा कि आप जानते हैं, आपकी अनुमति से, मैं कल रात आपके पेट के वेदना से मुक्ति देने के लिए वैद्यजी से एक औषध लेने गया था। हालाँकि, वैद्य अब कहते हैं कि वे कल रात अपने घर पर नहीं थे।" "मेरे वत्स, मुझे पेट वेदना नहीं थी और मैंने तुमको वैद्य से मिलने के लिए नहीं कहा," गुरु ने कहा, "मुझे विस्तार से बताओ कि तुम्हें क्या लगता है कि क्या हुआ।" विद्यानिधि ने उनकी बात का आदर किया और सब कुछ वर्णन किया। गुरुजी हँस पड़े।

तब गुरुजी ने विद्यानिधि को समझाया, "मेरे वत्स, कल मैं तुम्हें उन्नत आध्यात्मिक जिज्ञासुओं के लिए उपयुक्त उस वेदान्त प्रक्रिया पढ़ा रहा था कि जाग्रत और स्वप्न अवस्थाओं के जगत्, एक समान ही है। तुम्हें कई सन्देह थे और मैंने तुमसे कल कहा था कि मैं आज तुम्हें स्पष्टीकरण दूँगा। ईश्वर की कृपा से, तुमने एक ऐसा सपना देखा जिसके कारण, अब मेरा काम आसान हो गया है।

"तुम सो गए। तुम अब सोचते हो कि तुम मुझे पीड़ा में कराहते हुए सुनकर उठ गए थे। परन्तु, वह तुम्हारे सपने का आरम्भ बिन्दु था। तुम्हारा सपना

अपनी शय्या पर लौटने के साथ, समाप्त हुआ। तुम्हारे सपने के असामान्य प्रारम्भ और अन्त ऐसे थे कि जागने के बाद भी तुम अपने सपने को अपनी जाग्रदवस्था से अलग नहीं कर पाए। जैसा कि तुम देख सकते हो, तुम्हें प्रत्यक्ष अनुभव हुआ है कि जाग्रदवस्था का संसार, स्वप्न के जगत् के समान है।

"तुम्हारे सपने में, तुम्हें कांटों के सम्पर्क में आने से पहले, पीड़ा नहीं हुई थी, परन्तु तुमने उसे अनुभव तब किया जब कांटे तुम्हारे दाहिने पैर के तलवे में घुस गए। तुमने कांटों को पकड़कर बाहर निकाला। इसके बाद, वेदना धीरे-धीरे कम हो गई। ऐसा ही अनुभव तुम्हें जागते समय होता है। फ़िर तुम्हें जाग्रदवस्था के काँटों को, स्वप्नावस्था के काँटों के समान मिथ्या क्यों नहीं मानना चाहिए?

"तुम्हारे सपने में, आकाश में एक चन्द्रमा ने तुम्हें तुम्हारी यात्रा के लिए आलोक प्रदान किया। इसके अतिरिक्त, तुमने अपनी आगे की और वापसी यात्राओं के समय, उस चाँद को विभिन्न स्थितियों में देखा। तुमने चन्द्रमा की गति के आधार पर, समय बीतने का भी अनुमान लगाया। जब तुम चल रहे थे, तब तुमने अपने आपको धारा के किनारे आगे बढ़ते हुए पाया, परन्तु बैठते समय नहीं। तुम जाग्रदवस्था में इन सबका अनुभव इसी प्रकार से पा सकते हो। तो फ़िर तुम जाग्रदवस्था के चन्द्रमा, समय, स्थान और गति के प्रभाव को, सपने में अनुभव किए गए उनके समान क्यों नहीं मानते?

"तुम मानते हो कि सपने जाग्रदवस्था के वास्तविक अनुभवों पर आधारित होते हैं और जब तुम सपने से जागते हो, तो तुम एक झूठे संसार से एक वास्तविक जगत् में लौट आते हो। वर्तमान में, कल रात अपने सपने के समय, तुम्हारा एक और सपना था, जो प्रकट रूप से मुख्य सपने के तुम्हारे अनुभवों के आधार पर था। इसके अतिरिक्त, जब तुम दूसरे सपने से जागे, तब तुम मुख्य सपने में वापस लौट आए। क्या तुम्हारे जागने की स्थिति और तुम्हारे मुख्य सपने के बीच का सम्बन्ध, तथा तुम्हारे मुख्य सपने और दूसरे सपने के बीच का सम्बन्ध सममूल्य पर नहीं हैं? फ़िर तुम्हें अपने

जागने की स्थिति को मुख्य सपने की तरह अवास्तविक या झूठा क्यों नहीं मानना चाहिए?

“कल रात के तुम्हारे सपने की अवधि में, वैद्य और उनके बेटे ने, स्पष्ट रूप से तुम्हें अपने घर में सोते हुए देखा था, जब तुम अपना दूसरा सपना देख रहे थे। वे प्रमाणित कर सकते थे कि तुम अपनी कुटिया में उड़ते हुए वापस नहीं आए थे, जैसा कि तुम्हारे द्वारा अपने दूसरे सपने में अनुभव किया गया था। फ़िर, जाग्रदवस्था के वे लोग, जो तुम्हें सोते और सपने देखते समय देख सकते हैं, उनको तुम्हारे मुख्य सपने के वैद्य और उनके बेटे के समान तुम्हें क्यों नहीं मान लेना चाहिए?”

अन्त में, गुरुजी ने विद्यानिधि से पूछा, “क्या वेदान्त की कक्षा के अन्त में कल सन्ध्या तुमने जो सन्देह व्यक्त किए थे, वे अब हल हो गए?” “मेरे सन्देह दूर हो गए हैं। मैं अब यह स्वीकार करने की स्थिति में हूँ कि जाग्रदवस्था का जगत् उतना ही अवास्तविक है जितना स्वप्न में देखा गया संसार,” विद्यानिधि ने कहा।

गुरुजी ने कहा, “मेरे बच्चे, जब तुम अद्वैत तत्त्व का साक्षात्कार प्राप्त कर लेते हो, तब ही तुम्हें यह अडिग अनुभव होगा कि जाग्रत, स्वप्न और गहरी नींद — ये अवस्थाएँ भ्रमात्मक हैं और केवल उनका अधिष्ठानभूत शुद्ध चैतन्य ही वास्तविक है। तुम्हारी वर्तमान समझ इस दिशा में एक पग मात्र है। जब तक कोई व्यक्ति इच्छाओं से मुक्त नहीं होता, वह जाग्रत को स्वप्न के समान नहीं समझ सकता। अध्यात्म पथ पर निरन्तर प्रयास करो। भगवान की कृपा से, सफलता तुम्हारी होगी।”

अपने बृहदारण्यक-उपनिषद् के भाष्य में, भगवत्पाद जी ने समझाया है, “वेद जाग्रत के अनुभव को केवल एक स्वप्न मानता है,” और, “स्वप्नों में, लोक जो अस्तित्व में नहीं हैं, वे आत्मा के एक भाग होने के रूप में झूठे अध्यारोपित किए जाते हैं। जाग्रत के संसारों को भी वैसा ही समझना चाहिए ... चूँकि जाग्रदवस्था में और स्वप्नावस्था में भी, स्थूल और सूक्ष्म संसार — जिनमें क्रियाएँ, उनके कारक और उनके परिणाम सम्मिलित हैं

— केवल द्रष्टा द्वारा दृश्य वस्तुएँ हैं, इसलिए, वह द्रष्टा — जो चैतन्यस्वरूप आत्मा है — अपनी वस्तुओं तथा उन अवस्थाओं में देखे जाने वाले संसारों से अलग है और निष्कलंक है।"

2.53 एकत्व की दृष्टि

ऋषि ऋभु सृष्टिकर्ता ब्रह्मा जी के मानस-पुत्र थे। अपने स्वभाव से, वे अद्वैत परब्रह्म में दृढ़ता से रूढ़ थे और शास्त्र ज्ञान के भण्डार थे। उनका निदाघ नाम का एक शिष्य था। ऋभु द्वारा शिक्षित निदाघ शास्त्र में निष्णात था। हालाँकि, वह अद्वैत सत्य में अडिग संस्थित नहीं था। अपनी पढ़ाई के अन्त में, उसने अपने गुरु की अनुमति ली और एक गृहस्थ के रूप में, देविका नदी के तट पर वीरनगर में बस गया। उसने गृहस्थ-धर्म का अटल पालन करते हुए, एक पवित्र और धर्मार्थ जीवन बिताया। अनेक वर्ष बीत गए।

ऋभु सुनिश्चित थे कि निदाघ, जिससे वे लम्बे समय से नहीं मिले थे, अभी अज्ञानी ही है। ऋषि ने अपने विद्वान प्रिय शिष्य पर प्रभूत दया की और उसका उत्थान करने के लिए, व्यक्तिगत रूप से वीरनगर जाने का मन बना लिया। निदाघ ने अपना धार्मिक अनुष्ठान पूरा कर लिया था और जब इस बड़ी उत्सुकतापूर्वक आशा के साथ कि कोई अतिथि आए जिसका वह सत्कार कर सके और जिसे खिला सके, अपने घर के द्वार पर खड़ा था, तब उसने ऋभु को देखा। चूँकि ऋषि ने अपनी पहचान छिपाई थी, इसलिए निदाघ ने उन्हें नहीं पहचाना। हालाँकि, उसने ऋभु को आदरपूर्वक अपने घर आमन्त्रित किया और अपने अतिथि के पैर धोए।

ऋभु का विधिवत् सत्कार करने के बाद, निदाघ ने उनसे भोजन करने का अनुरोध किया। ऋभु सहमत हो गए, परन्तु उन्होंने पूछा, "पहले मुझे बताओ, तुम मुझे खाने की कौन से खाद्य पदार्थ परोसोगे?" निदाघ ने उन्हें एक भव्य सूची दी। हालाँकि, ऋभु ने उत्तर दिया कि उन खाद्य पदार्थों में

से, उन्हें अपने उपभोग के लिए उपयुक्त वस्तुएँ नहीं मिलीं। फ़िर उन्होंने निर्दिष्ट किया कि वे क्या चाहते हैं जो कि उन्हें दिया जाए; उनकी सूची में मुख्य रूप से खीर और हलवा जैसे मीठे पदार्थ सम्मिलित थे। निदाघ ने अपनी पत्नी को उपलब्ध सामग्रियों में से सर्वोत्तम पदार्थों से, सम्बन्धित व्यञ्जन सज्जित करने का निर्देश दिया। शीघ्र ही, ऋभु को एक ऐसा भोजन परोसा गया जिसमें उनके अभीष्ट सारे व्यञ्जन थे।

ऋभु के खाने के बाद, निदाघ ने उनसे बड़ी विनम्रता से पूछा, "हे महोदय, क्या भोजन ने आपको तृप्त किया है? क्या आपको आराम लग रहा है?" उसने यह जानने की इच्छा भी सम्मानपूर्वक व्यक्त की कि उसके अतिथि कहाँ के रहने वाले हैं, कहाँ से आ रहे हैं और कहाँ जा रहे हैं।

ऋभु ने कहा, "जो भूख का अनुभव करता है, उसे भोजन के बाद तृप्ति मिलती है। मुझे कभी भूख नहीं लगी। तो, मुझे तृप्ति कैसे हो सकती है? जब पाचन की अग्नि निगले गए व्यञ्जन का पचन करती है, तो भूख उगती है। इसी तरह, जब शरीर में उपलब्ध जलांश कम हो जाता है, तब प्यास लगती है। इस प्रकार भूख और प्यास शारीरिक धर्म हैं। वे मुझसे सम्बन्धित नहीं हैं, जो शरीर नहीं है। शान्ति और सन्तुष्टि मन की होती हैं और मेरी नहीं, जो मन नहीं हूँ। इस तरह, तृप्ति और शान्ति के बारे में आपके प्रश्न मेरे लिए अप्रयोज्य हैं।

"मैं सर्वव्यापी आत्मा हूँ, जो आकाश की तरह सबको व्याप्त करती है। अतः, मेरे किसी स्थान पर रहने, कहीं से आने, या किसी गन्तव्य की ओर बढ़ने का प्रश्न ही नहीं उठता। शरीरों में भिन्नता के नाते, आप, मैं और अन्य अलग-अलग दिखाई देते हैं, परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। आप और मैं सीमित और अलग-अलग नहीं हैं जो हम प्रतीत होते हैं; हम केवल अद्वैत आत्मा हैं।

"जो स्वादिष्ट माना जाता है, वह समय बीतने के साथ अखाद्य हो जाता है और घृणा का कारण बनता है। जो स्वादहीन है, वह कुछ स्वादिष्ट वस्तु में बदल सकता है। इस प्रकार, कोई भी खाद्य पदार्थ आन्तरिक रूप से

स्वादिष्ट या अरुचिकर नहीं है। ऐसा कोई खाद्य पदार्थ नहीं है जो अतीत, वर्तमान और भविष्य में स्वादिष्ट बना रहे। इसके अतिरिक्त, भोजन की विभिन्न पदार्थ जैसे चावल, गेहूँ, गुड़, दूध और फल सभी पृथ्वी के ही रूपान्तर हैं।

"सोचते हुए जैसे मेरे द्वारा बताया गया है, तुम्हें अपने मन को समदर्शी बनाना चाहिए। सदैव समदर्शी होना अद्वैत सत्य का ज्ञान प्राप्त करने और संसार के चक्र से मुक्त होने का उपाय है।"

ऋभु के ज्ञान भरे शब्दों को सुनकर, निदाघ ने कहा, "हे भगवन्, मुझ पर कृपा करें। आप मेरा भला करने आए हैं। कृपया मुझे बताएँ कि आप कौन हैं।" ऋभु ने कहा, "मैं ऋभु हूँ, तुम्हारा गुरु। मैं तुम्हें सत्य सिखाने यहाँ आया हूँ। यह जानो कि ब्रह्माण्ड में जो कुछ भी है, वह आन्तरिक रूप से परब्रह्म है। वास्तव में, कोई विविधता है ही नहीं; केवल अद्वैत आत्मा है।" निदाघ ने ऋभु को साष्टाङ्ग प्रणाम किया और अपने गुरु की पूजा की। ऋषि ऋभु अपने शिष्य को आशीर्वाद देकर चले गए।

वर्षों बाद, अपनी छलकती हुई दया से प्रेरित होकर, ऋभु अपने शिष्य पर अपनी कृपा बरसाने हेतु एक बार फ़िर वीरनगर आए; वे जानते थे कि निदाघ ने अभी भी सर्वोच्च में स्थिर संस्थिति प्राप्त नहीं की है। ऋभु ने देखा कि उस क्षेत्र का राजा बड़े धूमधाम से नगर में प्रवेश कर रहा है। निदाघ अपने हाथों में जंगल से प्राप्त कुश और यज्ञार्थ समिधा लिए हुए अलग खड़ा था। ऋषि एक अज्ञानी के भेस में निदाघ के पास पहुँचे और उसे साष्टाङ्ग प्रणाम किया। फ़िर, ऋभु ने पूछा, "हे पवित्र महोदय, आप यहाँ अकेले क्यों खड़े हैं?"

निदाघ - राजा आ रहे हैं। चूँकि सड़कों पर भीड़ है, मैं यहाँ प्रतीक्षा कर रहा हूँ।

ऋभु - ऐसा लगता है कि आप यहाँ की घटनाओं के बारे में अच्छे जानकार हैं। कृपया मुझे बताएँ कि यहाँ देखे गए लोगों में से कौन राजा है और शेष लोग कौन हैं।

निदाघ - बड़े हाथी के सवार नरेश है। शेष उनके परिचारक और अनुयायी हैं।

ऋभु - आपने एक साथ राजा और हाथी की ओर संकेत दिया है। कृपया स्पष्ट रूप से बताएँ कि दोनों में से कौन हाथी है और कौन राजा।

निदाघ - नीचे वाला हाथी और ऊपर वाला राजा। सवार और सवारी के सम्बन्ध से वास्तव में कौन परिचित नहीं है?

ऋभु - आपने नीचे और ऊपर की बात की। कृपया स्पष्ट करें कि नीचे और ऊपर के शब्दों का क्या अर्थ है।

निदाघ चिढ़ गया। वह ऋभु के कन्धों पर शीघ्रता से चढ़कर अपने पैरों से सवार होकर बैठ गया। फ़िर, उसने कहा, "अब, राजा की तरह मैं ऊपर हूँ, जबकि तुम हाथी की तरह नीचे हो।" बिना तनिक भी चिड़चिड़ाहट या झिझक के, ऋभु ने पूछा, "हे महान ब्राह्मण, आपने कहा कि आप राजा के समान हैं और मैं हाथी की तरह हूँ। यदि हाँ, तो आन्तरिक रूप से, आप कौन हैं और आन्तरिक रूप से, मैं कौन हूँ?"

इस प्रकार ऋभु ने निदाघ के मन को उस उपदेश की ओर मोड़ दिया, जो उन्होंने वर्षों पहले दिया था, कि आन्तरिक रूप से, सब कुछ सर्वोच्च परब्रह्म है और वास्तव में कोई विविधता नहीं है। निदाघ नीचे कूद गया, ऋभु के चरणों में दण्डवत् प्रणाम किया और उसने उन्हें अपने हाथों में पकड़ लिया। उसने कहा, "हे प्रभो, आप निस्सन्देह मेरे पूज्य गुरु, ऋषि ऋभु, हैं।"

ऋभु ने दया के साथ कहा, "एक छात्र के रूप में, तुमने बड़ी शुचितासम्पन्नता से मेरी सेवा की। तुम्हारे प्रति प्रेम के कारण, मैं तुम्हें सत्य के बारे में शिक्षित करने यहाँ आया हूँ। प्रत्येक वस्तु में, अद्वैत आत्मा का अपरोक्ष साक्षात्कार करो।" निदाघ प्रबुद्ध हो गया और ऋभु चले गए।

2.54 शुक जी के जीवन से शिक्षा

महर्षि वेदव्यास ने एक बार कठोर तपस्या की और पूरे मन से भगवान शिव जी की आराधना की। उन्होंने भगवान से प्रार्थना की कि उन्हें पाँच तत्वों — पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश — की दृढ़ता से सम्पन्न पुत्र प्राप्त होने के लिए आशीर्वाद दें। उनसे प्रसन्न होकर, शिव जी उनके सामने प्रकट हुए और बोले, "तुम्हें जिस तरह का पुत्र चाहिए, वह तुम्हारा होगा। महानता से सम्पन्न, वह अन्तरिक्ष और अन्य तत्वों की तरह निष्कलंक होगा। वह दृढ़ता से परब्रह्म में रूढ़ होगा और बहुत प्रसिद्धि प्राप्त करेगा।"

अपने अभीष्ट वरदान को प्राप्त करने के बाद, व्यास ने शमी के वृक्ष से दो लकड़ियाँ लीं और आग पैदा करने के लिए उन्हें एक दूसरे से रगड़ा। जब वे ऐसा कर रहे थे तो उन्होंने अप्सरा घृताची को देखा जो शीघ्र ही तोते का रूप धारण कर उनके पास आ गई। ऋषि से जीव का एक स्फुलिङ्ग अपने हाथ में स्थित छड़ियों के सम्पर्क में आया और उनमें से आध्यात्मिक तेज से उत्तेजित शुक का आविर्भाव हुआ। गंगा माता ने स्वयं उन्हें अपने जल से स्नान कराया। उस दिव्य बालक के उपयोग के लिए एक दण्ड और एक मृगचर्म आकाश से गिरे। इसके बाद उमा देवी के साथ भगवान शिव जी वहाँ आए और शुक का उपनयन किया।

भगवान की कृपा से, शुक अपने जन्म से ही प्रज्ञा से सम्पन्न थे और वेदों के जानकार थे। फ़िर भी, वेदों को अनिवार्य रूप से एक गुरु से सीखा जाना चाहिए। इसलिए, अपने उपनयन के बाद, शुक ने एक छात्र के रूप में बृहस्पति से सम्पर्क किया। देवगुरु के चरणों में वेद और शास्त्रों को शीघ्रता से सीखकर, वे अपने पिता के पास लौट आए।

शुक के ब्रह्मचर्य और मन तथा इन्द्रियों पर नियन्त्रण त्रुटिहीन थे और वे अत्यन्त विरक्त थे। उन्हें अद्वैत सत्य का साक्षात् ज्ञान था, परन्तु उन्होंने भूल से कल्पना की कि परब्रह्म को प्राप्त करने हेतु, अभी भी उनके द्वारा बहुत कुछ सीखना और करना बाकी है। उन्होंने अपने पिता से अनुरोध किया कि वे उन्हें सिखाएँ कि वे कैसे मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं।

व्यास ने अपने पुत्र को गम्भीरतापूर्वक निर्देश दिए। फ़िर भी, उन्होंने पाया कि उनका प्रबुद्ध पुत्र, जो योग में एक आदर्श बन गए थे, यह अनुभव करते रहे कि वे अज्ञानी हैं। इसलिए, व्यास ने उनसे कहा, "राजा जनक के पास जाओ। वे मोक्ष के विषय में तुम्हें सब कुछ बता देंगे।" जैसे ही शुक ने मिथिला जाने के लिए स्वयं को तैयार किया, व्यास ने कहा, "अपनी योग-शक्तियों का उपयोग करके वहाँ तक आकाश मार्ग से अपने आप को मत ले जाओ। पैदल जाकर विनम्रता के साथ जनक के पास पहुँचो।"

तदनुसार, शुक ने लम्बी दूरी पैदल ही तय की। मार्ग में उनके सामने आए कई सुन्दर दृश्यों से वे तनिक भी विचलित नहीं हुए। अन्त में, वे मिथिला में जनक के महल पहुँचे। हालाँकि, द्वार पर स्थित आरक्षकों ने उन्हें प्रवेश करने की अनुमति देने से मना कर दिया। बिना किसी विरोध के बड़बड़ाहट के, शुक प्रवेशद्वार के पास चुपचाप खड़े रहे। यह देखकर कि बालक क्रोध से मुक्त और तेज़ धूप के प्रति उदासीन थे, आरक्षकों में से एक ने उनकी महानता को पहचान लिया और उन्हें श्रद्धापूर्वक महल के एक कक्ष में ले गया।

जनक के मन्त्री ने वहाँ हाथ जोड़कर शुक का स्वागत किया और उन्हें एक अन्य कक्ष से होते हुए, रमणीय उद्यान में ले गया, जिसमें सरोवर, फूलों से सुशोभित कई पौधे और बहुत सारे फलों से भरे पेड़ थे। वहाँ कई अत्यन्त सुन्दर नवयौवनाएँ थीं। मन्त्री ने उन्हें शुक का सत्कार करने का आदेश दिया और वहाँ से चले गए। रंगीलियों ने उनके पैर धोए, उनका विधिवत् सम्मान किया और उन्हें खाने के स्वादिष्ट पदार्थ दिए। शुक के खाने के बाद, उन्होंने उन्हें बगीचे में रुचि की हर वस्तु दिखाई। वे संगीत, नृत्य और आमोद-प्रमोद में कुशल थीं और उनका मनोरञ्जन करने के लिए उन्होंने वह सब कुछ किया जो वे कर सकती थीं।

हालाँकि, शुक के मन-नियन्त्रण और वैराग्य इतना महान थे कि जिस तरह महल के द्वार पर उनके प्रति दिखाया गया अनादर से उनको कोई चिड़चिड़ाहट नहीं हुआ था, उसी प्रकार बगीचे और नवयौवनायों की चेष्टाओं से उनको कोई उल्लास नहीं हुआ। समचित्त होकर, वे उन्हें दिए गए एक

आसन पर बैठ गए और अपना सायं सन्ध्यावन्दन प्रारम्भ किया। तत्पश्चात्, वे गहन ध्यान में चले गए। जब तक वे उसमें से निकले, तब तक रात का एक तिहाई भाग बीत चुका था। वे रात के दूसरी तिहाई में सोए। तदुपरान्त, वे उठे और फ़िर से भोर तक योग में लीन रहे। कुछ समय बाद, जनक अपने पुरोहित, मन्त्री और अपने परिवार के सदस्यों के साथ शुक के पास पहुँचे। राजा ने पवित्र बालक को एक रत्नमय आसन पर बिठा दिया और उनकी पूजा की। शुक ने न तो आनन्द का अनुभव किया और न ही व्याकुलता का। उन्होंने राजा को अपना सम्मान दिया और अपनी यात्रा का उद्देश्य समझाया। उनके द्वारा उठाए गए प्रश्नों में से थे — "संसार चक्र से मुक्ति कैसे प्राप्त की जाती है? इसका साधन क्या ज्ञान है या तपस्या? यदि कोई ब्रह्मचारी ज्ञान तथा इष्ट-अनिष्ट जैसे परस्पर विरोधी द्वन्द्वों से मुक्ति प्राप्त करता है, तो क्या उसके लिए विवाह करना आवश्यक है?"

जनक ने अपने विचक्षणतापूर्ण उत्तर के समय कहा, "केवल ज्ञान और सत्य के अपरोक्ष साक्षात्कार के माध्यम से ही कोई मुक्त हो जाता है। बिना गुरु के मार्गदर्शन के, ऐसे ज्ञान और अनुभव प्राप्त नहीं किए जा सकते। ज्ञान वह नाव है जो संसार के सागर के पार ले जाती है और गुरु नाविक है। जिसका मन अपनी इन्द्रियों की शुद्धता और कई जन्मों में आचरित धर्म के नाते निष्कलंक हो गया है, वह अपने ब्रह्मचर्याश्रम में ही मोक्ष प्राप्त करता है। ब्रह्मचर्याश्रम में प्रबुद्ध और मुक्त होने के कारण, वैवाहिक जीवन उसके लिए किसी काम का नहीं है।

"सभी प्राणियों में अपनी आत्मा को और आत्मा में सभी प्राणियों को देखते हुए, बिना किसी भी वस्तु से जुड़े, जीना चाहिए। जो सभी प्राणियों, स्तुति और निन्दा, सुख और दुःख, सुवर्ण और लोहा एवं जीवन और मृत्यु को समभाव से देखता है, वह सर्वोच्च प्राप्त कर लेता है।"

जनक ने आगे कहा, "मैं देख रहा हूँ कि यह सारा ज्ञान जो मैं आपको बता रहा हूँ, वह इसके पहले से ही आप में है। आप मुक्ति के बारे में जानने के लिए आवश्यक सभी विषयों से पूरी तरह परिचित हैं। आपके ज्ञान, सिद्धि

और शक्ति, आपकी कल्पना से कहीं अधिक श्रेष्ठ हैं। सत्य का प्रत्यक्ष रूप से साक्षात्कार प्राप्त करने पर भी, कोई सर्वोच्च प्राप्त नहीं करता अगर वह अपने अनुभव पर सन्देह करता या उसे भय रहता है कि वह मुक्त नहीं होगा। जब ऐसी भ्रान्तियाँ दूर की जाती हैं, तो वह तुरन्त सर्वोच्च को प्राप्त कर लेता है। आपने पहले ही सत्य को जान लिया है। आपका मन स्थिर और शान्त है। आप इच्छाओं से मुक्त हैं और वास्तव में समदृष्टि वाले हैं। मैं और मेरे जैसे अन्य लोग आपको अविनाशी स्वतन्त्रता में रूढ़ देखते हैं।" जनक महाराज की बात सुनकर, शुक के सन्देह और चंचलता दूर हो गए; वे जीवन्मुक्त बन गए।

उन्होंने सम्राट जनक से विदा ली और उड़कर वहाँ चले गए जहाँ उनके पिता हिमालय में रह रहे थे। लोगों के प्रति दया से, व्यास जी ने वेद को चार विभागों में संहिताबद्ध किया। उन्होंने ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद के प्रसार का कार्य क्रमशः पैल, वैशम्पायन, जैमिनी और सुमन्तु को सौंप दिया। व्यास के चारों महान शिष्य मैदानों के लिए प्रस्थान किए और गृहस्थ बन गए; शुक, जिन्हें व्यास ने उन चार शिष्यों के साथ पढ़ाया था, ब्रह्मचारी बने रहे और वेदों का पाठ करते हुए, अपने पिता के साथ रहे। परीक्षित को भागवत सुनाने का श्रेय शुक जी को जाता है।

एक दिन, जब शुक अकेले थे, देवर्षि नारद जी उनसे मिले और मोक्ष के बारे में उनसे बात की। अपने परामर्श के समय, नारद जी ने कहा, "शास्त्र-विहित कर्मों के अनुष्ठान, जैसे यज्ञ, द्वारा लक्षित धर्म का त्याग करो, एवं शास्त्र-निषिद्ध कर्मों के अनुष्ठान, जैसे हत्या, द्वारा लक्षित अधर्म का त्याग करो। सत्य और असत्य का त्याग करो। इन सबको त्यागकर, उस मन को त्यागो, जिसके द्वारा इन सबका त्याग किया जाता है। कोई संकल्प लेना छोड़ कर, धर्म को त्यागो। वैराग्य से अधर्म का त्याग करो। मन से वाणी को नियन्त्रित करने से, सत्य या असत्य को बोलने से दूर रहो। मन के साथ तादात्म्य रखना छोड़ कर और यह जानने से कि तुम शुद्ध, अद्वैत चैतन्य हो, मन का परित्याग करो।"

शुक ने नारद जी की कही हुई बातों पर विचार किया। उन्होंने यह निश्चय किया कि वे अपनी योग-शक्तियों को संसार के सामने प्रदर्शित करेंगे और तत्पश्चात्, योग के माध्यम से अपने शरीर को त्यागकर, विदेह-मुक्ति प्राप्त करेंगे। नारद जी ने इस पर अपनी स्वीकृति व्यक्त की। शुक वहाँ गए जहाँ उनके पिता थे। अपने पुत्र के आशय को जानने पर, व्यास ने कहा, "मेरे प्रिय पुत्र, आज मेरे साथ रहो ताकि मैं कुछ और समय के लिए तुम्हें देखकर, अपनी आँखों को सन्तृप्त कर सकूँ।" हालाँकि, शुक बहुत ही विरक्त थे और विदेह-मुक्ति के लिए इतने उत्कटता से उत्सुक थे कि उन्होंने विलम्ब नहीं किया।

वे एक पहाड़ की चोटी पर चढ़ गए और कुछ समय के लिए समाधि में बैठे, ब्रह्म के परमानन्द में आनन्दित हुए। उस अवस्था से निकलने के बाद, उन्होंने नारद जी की प्रदक्षिणा की और उन देवर्षि से विदाई ली। फ़िर वे आकाश में उड़ चले। जैसे ही उन्होंने उड़ान भरी, ऋषियों और देवताओं ने उन्हें आश्चर्य से देखा। शुक ने प्रकृति के अभिमानि-देवताओं से अनुरोध किया, "अगर मेरे पिताजी मेरे पीछे आते हैं और बार-बार मुझे अपने नाम से पुकारते हैं, तो कृपया मेरी ओर से उत्तर दें।" समुद्रों, पहाड़ों, नदियों आदि के अधिष्ठातृ-देवता शुक जी से इतना प्रेम करते थे कि शुक जी के अनुरोध के अनुसार करने के लिए तुरन्त सहमत हो गए।

जैसे ही वे आकाश से होकर गुज़र रहे थे, उन्होंने अपने मार्ग में एक दूसरे से लगे हुए दो पहाड़ों की एक जोड़ी को देखा। धीमा हुए बिना, उन्होंने उनसे टक्कर मारकर उनके बीच से अपना मार्ग बना लिया। कई सम्मोहक अप्सराएँ गंगा में विवस्त्र खेल रही थीं, जब वे उनके ऊपर से उड़ चले। हालाँकि, उनका वैराग्य और आत्मतत्त्व में उनकी तल्लीनता अप्सराओं के लिए इतनी स्पष्ट थी कि उन्हें कोई लज्जा नहीं आई और उन्होंने अपनी नग्नता को ढँकने के लिए कोई प्रयास नहीं किया। शुक सूरज की दिशा में ऊपर की ओर उड़े और उन्होंने अपने विस्मयकारक योग प्रदर्शन को समाप्त करते हुए, अपने शरीर को त्याग दिया और उन्होंने अद्वैत परब्रह्म में आत्यन्तिक विदेह एकात्मकता प्राप्त की।

इस बीच, शुक के प्रति अपने प्रेम से प्रेरित होते हुए, व्यास ने अलौकिक रूप से अपने आप को उस स्थान पर पहुँचाया, जहाँ से उनके पुत्र ने आकाश मार्ग से उड़ान भरी थी। महर्षि व्यास ने शुक के आकाश-मार्ग का अनुसरण किया और शीघ्र ही शुक द्वारा विभाजित पहाड़ों पर पहुँच गए। व्यास से मिलने पर, ऋषियों ने उनसे शुक के अत्यन्त अद्भुत चमत्कारों का वर्णन किया। व्यास को अपने बेटे के इतने अनुस्मरण आए कि वे विलाप करने लगे और उन्होंने ऊँची ध्वनि में शुक को पुकारा। हर कहीं से प्रतिक्रिया आई, "भो!"

अपने बेटे की — जो वास्तव में सभी की आत्मा बन गए थे — महिमा देखकर, व्यास बैठ गए। जब गंगा में खेल रही नग्न अप्सराओं ने उन्हें निहारा, तो वे उद्वेलित हो गईं। लज्जा से भरकर, कुछ अप्सराएँ जल में गहराई तक कूद गईं। उनमें से कुछ बागों में भाग गईं, जबकि कुछ अप्सराओं ने शीघ्रता से अपने कपड़ों से स्वयं को ढक लिया। यह स्मरण करते हुए कि शुक की उपस्थिति में रमणियों को बिना कपड़े पहने रहने में कोई आपत्ति नहीं थी, व्यास को अपने बेटे पर गर्व अनुभव हुआ, परन्तु स्वयं पर लज्जा आई।

भगवान शिव जी व्यास के सामने प्रकट हुए जो अपने पुत्र के वियोग पर शोक से जल रहे थे। ऋषि को सान्त्वना देते हुए शिव जी ने कहा, "तुमने मुझसे एक ऐसे पुत्र के लिए प्रार्थना की थी जो पाँच तत्त्वों के समान हो। तुमने अपनी तपस्या से मनचाहा पुत्र प्राप्त किया। मेरी कृपा से, वह मानसिक रूप से निष्कलंक और आध्यात्मिक रूप से अति श्रेष्ठ था। उसने सर्वोच्च अवस्था प्राप्त कर ली है। तो, तुम शोक क्यों करते हो? उसकी ख्याति तब तक बनी रहेगी जब तक यह संसार रहेगा। मेरी कृपा से, अब से तुम्हारे साथ एक शुक जैसी छाया बनी रहेगी जो तुमको दिखाई देगी।" तब प्रभु अन्तर्धान हो गए। व्यास ने अपने बेटे की छाया को निहारा और उसने उन्हें प्रसन्नता से भर दिया।

शुक जी का जन्म सत्य के ज्ञान के साथ हुआ था। ऐसा जन्म सम्भव है, परन्तु अत्यन्त विरल है। एक व्यक्ति, जो प्रबुद्ध होने की देहली पर पहुँचकर

मर जाता है, वह अपने अगले जन्म में अनायास जीवन्मुक्त बन सकता है। उपनिषद् बताते हैं कि अपने पिछले कर्म के आधार पर, ऋषि वामदेव ने अपनी माँ के गर्भ में रहते हुए ही, सत्य का अपरोक्ष साक्षात्कार प्राप्त कर लिया।

शुक बिना पढ़ाए वेदों को जानते थे। फ़िर भी, वे उन्हें सीखने हेतु, एक शिष्य के रूप में बृहस्पति के पास गए। उन्होंने ऐसा इसलिए किया क्योंकि यह अनिवार्य है कि वेदों को एक गुरु से सीखा जाए। जो बच्चे नियमित रूप से वैदिक मन्त्रोच्चार के प्रभाव में रहते हैं, वे विधिवत् सिखाए बिना, वैदिक मन्त्रों का पाठ करने की स्थिति में हो सकते हैं। हालाँकि, वे वैदिक मन्त्र पाठ से जुड़े नियम से मुक्त नहीं होते।

मार्गदर्शन के लिए महात्मा के पास जाते समय, किसी को विनम्रता और सम्मान के साथ जाना चाहिए। यद्यपि शुक के पास आकाश मार्ग से जनक की उपस्थिति में शीघ्रता से पहुँचने की शक्ति थी, तथापि उन्होंने व्यास के परामर्श के अनुसार, मिथिला तक एक कठिन पैदल यात्रा की और जनक से मिलने के अवसर के लिए धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा की।

सन्देह व मिथ्यावधारणाएँ व्यक्ति को अपने अपरोक्ष अनुभव से लाभान्वित होने से रोक सकते हैं। निम्नलिखित दो उदाहरण इस पर बल देते हैं।

एक बार एक व्यक्ति जब अपने घर का पुनर्गठन और शुद्धि कर रहा था, तब उसे अचानक एक थैली दिखाई दी। बरसों पहले उसे छिपाने वाले उसके पिता ही थे। हालाँकि, उसके पिता ने अपने बेटे को उसके बारे में सूचित करना चाहा था, परन्तु वास्तव में ऐसा करने से पहले वे गम्भीर रूप से रुग्ण हो गए थे और व्याधि से उबरे बिना ही उनकी मृत्यु हो गई थी। उस बेटे ने थैली खोला और उसमें उसे 50 आकर्षक हीरे मिले। वे उसे प्रभूत धनराशि दिला सकते थे। उससे वह समुचित रूप से आराम से जी सकता था।

हालाँकि, उसने सोचा, “मेरे पिता ने इनके बारे में मुझसे बात नहीं की। इसलिए, उनके हीरे होने की सम्भावना नहीं है। सम्भवतः, वे काँच के टुकड़े

होंगे। अगर मैं उन्हें एक हीरे के व्यापारी के पास ले जाऊँ, तो वहाँ बहुमूल्य हीरों और काँच के मूल्यहीन टुकड़ों के बीच अन्तर करने में असमर्थ होने के कारण, वह सम्भवतः मेरा परिहास करेगा।" अपनी शङ्काओं और मिथ्यावधारणाओं के कारण, उसने थैली को वहीं रख दिया, जहाँ उसने इसे पाया था और वह अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए सङ्घर्ष करता रहा।

एक लड़का अपने कमरे में बिजली का बल्ब चालू करना चाहता था और इसलिए उसने उसके स्विच की ओर अपना हाथ आगे बढ़ाया। जैसे ही उसने उसे छुआ, उसे एक बिजली का झटका (electric shock) लगा। जैसे ही उसने अपने हाथ को झटके से वापस लिया, उसने अपनी कोहनी को एक मेज़ पर किसी वस्तु से टकराया। वह लड़का — जिसे पहले कभी बिजली का झटका नहीं लगा था — उसने सोचा, "मेरे मित्रों ने मुझे बताया है कि कोहनी की नस पर चोट लगने पर उन्हें झुनझुनी सा अनुभव हुआ है और इसका कारण है उसके ऊपर से गुज़रने वाली तन्त्रिका पर दबाव। लगभग निश्चित रूप से, मेरी बाँह में तेज़ सनसनी मेरी कोहनी पर लगे आघात के कारण हुई थी।" अपने प्रत्यक्ष अनुभव को पहचानने में असफल होने पर, उसने फ़िर से स्विच को छुआ। इस बार, परिणाम प्राणघातक रहा।

न केवल सांसारिक, किन्तु धार्मिक और आध्यात्मिक, विषयों में भी सन्देह और मिथ्याबोध बहुत हानि पहुँचा सकते हैं। भगवान कृष्ण ने भगवद्गीता में अर्जुन से कहा, "जिसे सन्देह है, उसके लिए न तो इहलोक है, न परलोक और न ही सुख।" मृत्यु के बाद जीवन के अस्तित्व के बारे में सन्देह से घिरा व्यक्ति, शास्त्रों की विधि-नियमों के अनुसार कर्म करने और सद्गति पाने के बारे में अनुत्साहित रहता है। चूँकि वह निश्चित रूप से नहीं जानता कि मृत्यु के बाद कोई जीवन नहीं है, इसलिए वह लौकिक जीवन में, बिना किसी हिचकिचाहट के, एक भौतिकवादी की भाँति जीवन का आनन्द भोगने में असमर्थ रहता है। इस प्रकार, उस सन्देह-ग्रस्त को दोहरा घाटा होता है।

शुक जी के जीवन से पता चलता है कि आत्मा के बारे में सन्देह और मिथ्याबोध, आध्यात्मिक सफलता को किस प्रकार रोक सकते हैं। यद्यपि शुक जी को अद्वैत सत्य का अनुभव था, फ़िर भी वे उसके बारे में दृढ़ विश्वास रखने में विफल रहे और, इसलिए, वे जीवन्मुक्त नहीं बन पाए। जब जनक महाराज ने उनकी अनिश्चितताओं और मिथ्याबोधों को दूर कर दिया, तब ही उन्होंने सर्वोच्च को प्राप्त किया।

आध्यात्मिक साधक के लिए वैराग्य, समभाव और मनोनिग्रह महत्त्वपूर्ण होते हैं। एक ब्रह्मचारी के लिए, जो शुद्ध-चित्त, विरक्त और संसार चक्र से मुक्ति के लिए उत्सुक है, विवाह न केवल अनिवार्य नहीं है, किन्तु सर्वथा निष्प्रयोजक भी है। ये शिक्षाएँ शुक जी के जीवन से प्राप्त की जा सकती हैं।

जीवन्मुक्त बनने के बाद भी एक व्यक्ति को अपने गुरु के प्रति पूज्य भाव से आचरण करना चाहिए। नारद जी ने शुक जी को विस्तृत आध्यात्मिक परामर्श दिया और इस प्रकार एक गुरु की भूमिका निभाई। इसलिए, सर्वश्रेष्ठ जीवन्मुक्त शुक जी ने नारद जी की पूजा की और अपने शरीर को त्यागने और विदेह-मुक्ति प्राप्त करने से पहले, देवर्षि से बिदा ली।

महान व्यक्ति के मन को भी आसक्ति अस्त-व्यस्त कर देती है। व्यास जी निस्सन्देह एक बहुत बड़े ऋषि और तत्त्वज्ञानी थे। फ़िर भी, शुक जी से अपने गहरे लगाव के कारण, जब शुक जी उन्हें सदैव के लिए छोड़कर चले गए, तब वे शोक में डूब गए। शुक जी वैराग्य के एक प्रतीक थे और उन्हें अपने शरीर सहित सब कुछ त्यागने में थोड़ी भी हिचकिचाहट नहीं हुई। सच्चा वैराग्य किसी व्यक्ति को कठोर नहीं बनाता। केवल अपने पिता की भावनाओं को ध्यान में रखने के कारण, विरक्त शुक जी ने प्रकृति के अभिमानी देवताओं से अनुरोध किया कि वे अपने पिता की पुकार पर उनकी ओर से प्रतिक्रिया दें।

विभाग 3

शास्त्रों का विशदीकरण

यह खण्ड — भगवद्गीता, उपनिषदों और ब्रह्म-सूत्रों का, उन पर भगवत्पाद जी के भाष्यों के अनुसार, गुरुजी का विशदीकरण, गुरुजी के कुछ सार्वजनिक व्याख्यान और अध्यात्म की दृष्टि से प्रसंगोचित विचारों पर उनके कुछ निजी विशदीकरण — इन पर आधारित है। यहाँ समाविष्ट स्पष्टीकरणों को 15 शीर्षों के अन्तर्गत समूहित किया गया है। गुरुजी द्वारा उच्चारित संस्कृत उक्तियों का अनुवाद तिरछे अक्षर में प्रस्तुत किया गया है और सन्दर्भ-निर्देश इस विभाग के अन्त में दिए गए हैं।

3.1 आठ उदात्त गुण

गौतम महर्षि ने अपने धर्म-सूत्रों में आठ 'आत्म-गुणों' या व्यक्तिगत गुणों की बात की है, जिन्हें हर किसी को विकसित करना चाहिए।[1] वे व्यक्ति के लिए मानसिक शान्ति और आनन्द पाने में काम आते हैं। वे पुण्य भी देते हैं और इसलिए, उनके लाभ वर्तमान जन्म तक ही सीमित नहीं हैं। इसके अतिरिक्त, अगर लोग उनको विकसित करने का प्रयास करते हैं, तो लोक एक सुखतर क्षेत्र बन जाएगा।

पहला ऐसा गुण है "सभी प्राणियों के प्रति दया"। ईश्वर को स्वयं के लिए पाने को कुछ भी नहीं है। फ़िर भी, अपनी दया और मानव जाति के उत्थान की इच्छा के कारण, उन्होंने कई अवतार लिए हैं। जब हमें दूसरों की सहायता करने की क्षमता दी गई है, तो यह उचित है कि हमें ऐसा करना चाहिए। अन्ततोगत्वा, परमेश्वर ने स्वयं हमें मार्ग दिखाया है। दूसरों के कष्टों को दूर करने की इच्छा ही दया कही जाती है। कुछ व्यक्तियों में करुणा स्वाभाविक रूप से होती है, जबकि कुछ अन्य लोगों में, यह महात्माओं के संग से उत्पन्न होती है, जो निश्चित रूप से बहुत दयालु होते हैं। भगवद्गीता में भक्तों के उन लक्षणों को सूचीबद्ध करते हुए, जो उन्हें भगवान को प्रिय बनाते हैं, भगवान कृष्ण सबसे पहले किसी भी प्राणि के प्रति घृणा की अनुपस्थिति, मित्रता और करुणा का उल्लेख करते हैं।

योग-सूत्रों में भी, मन की शान्ति की प्राप्ति के लिए, पीड़ित व्यक्ति के प्रति दया का विधान किया गया है।[2] द्वेष, अभिमान और ऐसी दूसरी भावनाएँ मन को उत्तेजित करती हैं। मान लीजिए कि एक व्यक्ति ऐसी भावना को विकसित करता है — "मैं कभी भी दुःखी नहीं होना चाहता। यही स्थिति दूसरों का भी है। उनकी पीड़ा मेरी जैसी ही है। इसलिए, किसी को दुःख न हो।" तब घृणा और अभिमान का निरोध होगा और मन इस निग्रह के न होने की तुलना में, अधिक शान्त हो जाएगा। दया का विकास क्रोध के लिए भी एक उपाय बन जाता है और यह सुविदित है कि क्रोध मन को गम्भीर रूप से व्याकुल करता है।

दूसरा गुण "क्षमा" है। सामान्यतः, जब कोई अप्रिय बात सुनता है या दूसरे द्वारा बनाई गई प्रतिकूल स्थिति का सामना करता है, तो उसको गुस्सा आता है और वह प्रतिशोध खोजता है। यदि कोई यथेष्ट बलवान रहे, तो वह सीधे प्रतिशोध लेता है। यदि नहीं, तो कोई कुटिल मार्ग से प्रतिशोध लेने का प्रयास करता है। इस प्रकार का व्यवहार एक उदात्त व्यक्ति का चाल-चलन नहीं माना जाता।

भले ही कोई व्यक्ति प्रतिशोध लेने की स्थिति में हो, त्रुटिपूर्ण काम करने वाले को क्षमा कर सकता है। किसी से भी द्वेष नहीं करना चाहिए। रामायण में हम पढ़ते हैं — "*राम अपने आत्म-संयम के नाते, दूसरे द्वारा अपने विरुद्ध की गई सैकड़ों त्रुटियों की स्मृति नहीं रखते हैं। दूसरी ओर, अपने प्रति किए गए एक ही उपकार से तृप्त हो जाते हैं।*"[3]

असहिष्णु और क्रोधित होने का क्या तात्पर्य है? ऐसा करने से व्यक्ति केवल अपनी मानसिक शान्ति खो देता है। मान लीजिए कि एक व्यक्ति दूसरे के द्वारा अपमानित या निन्दित किया जाता है। उसे गुस्सा आ सकता है। हानि भुगतने वाला कौन है? क्रोध एक कृतघ्न पदार्थ जैसा है। वह उस व्यक्ति को ही जला देता है जो उसे आश्रय देता है। क्रोधित होने के बदले, अपमानित या निन्दित व्यक्ति भली भाँति विश्लेषण कर सकता था कि क्या अपनी कोई वास्तविक कमी बताई गई थी। यदि ऐसा है, तो वह अपने उस दोष को दूर कर सकता है और उस व्यक्ति का आभारी हो सकता है जिसने इसे उसके संज्ञान में लाया। दूसरी ओर, निन्दा निराधार हो सकती है। ऐसा हो, तो वह सोच सकता है, "कहा जाता है कि दूसरों को आनन्दित करना भगवान की पूजा का ही एक रूप है।[4] इसलिए अगर यह व्यक्ति मेरी निन्दा करने में कुछ सन्तोष प्राप्त कर रहा है, तो मैं भाग्यशाली हूँ। अन्ततोगत्वा, बिना कोई प्रयास किए, मैं उसे कुछ आनन्द देकर भगवान की पूजा कर पा रहा हूँ; उसने मेरा बहुत उपकार किया है।"

तीसरा गुण है, "दोष नहीं ढूंढ़ना।" सामान्यतः, जो लोग कुशल या सफल नहीं होते हैं, वे ऐसे लोगों में दोष ढूंढ़ते हैं जो सक्षम, समृद्ध या प्रसिद्ध हैं। उनका आक्षेप तो मूल रूप से अपनी कमियों को छिपाने के लिए है; वैसी

टिप्पणियाँ रचनात्मक नहीं रहतीं। यह एक बुरी प्रथा है, क्योंकि हमें दूसरों के अच्छे गुणों की सराहना करनी चाहिए और दोषों की कल्पना करना या उन्हें खोजना नहीं चाहिए। भगवद्गीता में भगवान कृष्ण ने अर्जुन को, जो "*असूयक नहीं है,*"[5] सत्य की व्याख्या करने की अपनी इच्छा की घोषणा की। भगवत्पाद जी ने अपने प्रबोध-सुधाकर में कहा है कि जो व्यक्ति दूसरों की निन्दा सुनता है, वह पापी बन जाता है।[6] ऐसे व्यक्ति द्वारा किए गए पाप के बारे में क्या कहने की आवश्यकता है जो स्वयं छिद्रान्वेषण में संलग्न है?

मान लीजिए कि कोई सुखी लोगों के प्रति मित्रता का दृष्टिकोण विकसित करता है। इसके नाते, वह उनकी सफलता में केवल सन्तोष प्राप्त करेगा। उदाहरणार्थ, क्या एक पिता अपने बेटे की सफलता पर प्रसन्न नहीं होता? इसी तरह, एक मनुष्य दूसरे को मैत्री भाव से देखने पर प्रसन्न क्यों नहीं होगा? कहा जाता है, "*क्षुद्र चित्त वाले सोचते हैं, 'यह मेरा अपना है; यह पराया है।' विशाल हृदय वालों के लिए, पूरा विश्व एक परिवार है।*"[7] सभी को अपने परिवार के सदस्य के रूप में देखने वाले के मन को दूसरों की समृद्धि कैसे उत्तेजित कर सकती है? वस्तुतः, इस तरह के मनोभाव मन की शान्ति को हानि पहुँचाने वाली ईर्ष्या और इसी प्रकार के अन्य दोषों को मिटाकर, मन की शान्ति के कारण बनते हैं।

चौथा गुण "शुचित्व" यानी शुद्धता है। यदि हम एक ऐसे व्यक्ति से मिलें जो गन्दे कपड़े पहनता हो और जिसने कई दिनों से स्नान नहीं किया हो, तो उसकी बदबू उससे दूर निकल जाने के लिए हमें प्रेरित करती है। दूसरी ओर, बदबूदार व्यक्ति को कदाचित् ही किसी विकृति का पता चलता है। इसी तरह, कुछ लोगों को सार्वजनिक स्थानों पर थूकने का स्वभाव होता है। ऐसी प्रथाएँ घिनौनी और मैली हैं। इसलिए, प्रतिदिन स्नान करना व स्वच्छता का अनुपालन करना चाहिए। स्वच्छता तो शुचित्व का एक घटक है।

सूचीबद्ध आठ सद्गुणों में से पाँचवाँ है, "आलस्य से मुक्ति।" बहुत से लोग परिश्रम नहीं करते हैं और उन कार्यों में तत्परता से संलग्न नहीं होते हैं जिन्हें उन्हें करना चाहिए। लेकिन यह समझाने के लिए कि वे निर्धारित समय पर अपने कार्यों को निष्पादित करने की स्थिति में क्यों नहीं थे, वे किसी न

किसी कारण के बारे में सोचकर उसे प्रस्तुत करते हैं। कोई भी स्वामी आलसी कर्मचारी से प्रसन्न नहीं होगा। जहाँ तक अध्ययन को टालते रहने वाले छात्र की बात है, वह अपनी पढ़ाई में बुरा प्रदर्शन करता है। जब कोई व्यक्ति निरन्तर अपने विभिन्न दायित्वों को कर्तव्यनिष्ठा से और समय पर निष्पादित करने में सर्वदा व्यस्त रहता है, वह अच्छी तरह से अपने कर्तव्यों का निर्वहन कर पाता है, और उसके मन को आलसी या हानिकारक विचारों में अपने आप को संलग्न करने का बहुत कम अवसर मिलता है। इस प्रकार, आलस्य से बचना और उमंग को विकसित करना सभी के हित में है।

छठा महान गुण है, "मङ्गल स्वभाव।" जब हम कुछ लोगों से मिलते हैं, तो हम देखते हैं कि उनके शब्द और चेहरे के भाव भी मनभावन नहीं हैं। यह अवाञ्छनीय है। हमें सुखद ढंग से बोलना और आचरण करना चाहिए। उदाहरणार्थ, किसी वयोवृद्ध या महान व्यक्ति से मिलने पर, अशिष्टता से, "बैठो", कहने के स्थान पर, विनम्रता से एक आसन अर्पण करना चाहिए और उस व्यक्ति को बैठने के लिए आमन्त्रित करना चाहिए। सही भाषण तो वही है जो न केवल सुनने के लिए सुखद हो, किन्तु तथ्यात्मक भी हो। मनु ने कहा है, "*सच बोलो। प्रिय बोलो। व्यथित करने वाला सत्य मत कहो। ऐसा कुछ मत कहो जो सन्तुष्टिदायक हो लेकिन झूठा हो। यह सनातन धर्म है।*"[8] भगवान ने अर्जुन को सिखाया, "*अनुद्वेगकारक वचन, सत्य, प्रिय, हितकारक भाषण तथा स्वाध्याय अध्ययन का अभ्यास करना -- यह वाणी-सम्बन्धी तप कहा जाता है।*"[9] ऐसी वाङ्मय तपस्या व्यक्ति को शुद्ध करती है।

सातवाँ विहित गुण है, "कृपणता का अभाव।" सञ्चय करने की और दान में कुछ भी न देने की प्रवृत्ति लोभ का परिणाम है। भगवान कृष्ण ने काम, क्रोध और लोभ को नरक के तीन द्वारों के रूप में बताया है। सञ्चयन से हमें कभी लाभ नहीं होगा और जब हम मरेंगे, तो हम अपना धन अपने साथ नहीं ले जा सकते।

नीलकण्ठ दीक्षित जी ने उपहासपूर्वक परामर्श दिया है, "*यदि आप उत्सुक हों कि मृत्यु के बाद भी आप अपने धन से अलग न हों और उसे अपने सिर पर एक गट्ठा में अपने साथ ले जाएँ, तो उसे सत्पात्र, यानी योग्य व्यक्ति,*

को दें।"[10] परलोक में आप पैसे नहीं ले जा सकते। इसके बदले, अगर कोई कंजूस उन्हें दान देकर पुण्य में परिवर्तित कर लेता है, तो उसे इस बात से डरने की आवश्यकता नहीं है कि वह मृत्यु के बाद उन्हें खो देगा। अन्ततोगत्वा, पुण्य उसके साथ परलोक में जाएगा।

शास्त्र लालच के लिए एक मारक के रूप में सत्पात्र को दान देने का परामर्श देते हैं। इसलिए, दान दूसरों में सन्तोष लाने के साथ साथ, दाता के आध्यात्मिक कल्याण के लिए बहुत सहायक होता है। जिस व्यक्ति का कुछ धन खो जाता है वह दुःखी होता है। लेकिन, वह सुखी होता है और दुःखी नहीं जब वह स्वेच्छा से एक निर्धन छात्र को वही राशि देता है जो परीक्षा शुल्क का भुगतान करने की स्थिति में नहीं है। इस प्रकार, दान न केवल लेनेवाले को, परन्तु दाता को भी प्रसन्न कर सकता है।

एक व्यक्ति को एक साधु ने प्रतिदिन एक शाक भेंट करने का परामर्श दिया और कहा कि वह ऐसा करके बहुत पुण्य कमायेगा। उस निर्धन व्यक्ति ने परामर्श का यथावत् पालन किया। मृत्यु के बाद, एक राजपरिवार में उसका पुनर्जन्म हुआ और वह बड़ा होकर राजा बना। वह अपने पिछले जन्म में किए गए कार्यों को स्मरण करने में सक्षम था। इसलिए, वह प्रतिदिन एक शाक भेंट करता रहा। आश्चर्य की बात है कि मृत्यु के बाद, एक भिखारी के रूप में उसका पुनर्जन्म हुआ। वह इसका कारण नहीं समझ पा रहा था और इसलिए उसने उस साधु का परामर्श माँगा जिसने पहले उसे आशीर्वाद दिया था। महात्मा ने बताया कि राजा बनने से पहले वह बहुत निर्धन था; इसलिए, प्रतिदिन एक शाक का उपहार उसे बहुत पुण्य देने के लिए पर्याप्त था। लेकिन, एक राजा होते हुए, वह ऐश्वर्य सम्पन्न था। तो तब उसे किसी भी मूल्य का पुण्य प्राप्त करने के लिए, हर दिन केवल एक शाक का उपहार सर्वथा अपर्याप्त था। उसे पता चला कि कुछ मात्रा में पुण्य अर्जित करने के लिए, दान की सीमा किसी की वित्तीय स्थिति पर निर्भर करती है।

आठ गुणों में से अन्तिम है, "अस्पृहा," यानी लगाव का अभाव। हमारी सर्वाधिक समस्याएँ हमारी इच्छाओं के कारण होती हैं। पञ्चदशी में कहा गया है, "*आसक्त व्यक्ति संसार में बँध जाता है। अनासक्त व्यक्ति आनन्द*

का अनुभव करता है। इसलिए, जो आनन्द चाहता है, उसे सदा के लिए आसक्ति को त्याग देना चाहिए।"[11] आसक्ति के बिना, कुशलतापूर्वक काम करना और अपने सारे कर्तव्यों को पूरा करना निश्चित रूप से सम्भव है। लगाव वस्तुतः कुशल कामकाज को बिगाड़ देता है। सामान्यतः, शल्य-चिकित्सक अपने निकट सम्बन्धियों की शल्यचिकित्सा नहीं करते हैं। लगाव के मारे, अगर कार्य-निष्पादन में उलझाने या बिगाड़ने की कोई आशङ्का नहीं होती, तो ऐसा नहीं होता।

3.2 भक्ति के स्तर

अद्वैत-सिद्धि के प्रसिद्ध लेखक मधुसूदन सरस्वती जी कृष्ण के बहुत बड़े भक्त थे। उनका श्रेष्ठ अद्वैतवादी होना, उनके कृष्ण पर भावोत्तेजक पद्यों की रचना करने में किसी भी प्रकार का बाधक नहीं बना।

उन्होंने भक्ति के तीन स्तर बताए। पहला चरण वह है जहाँ भक्त ईश्वर के सम्बन्ध में "मैं आपका हूँ" अनुभव करता है। दूसरे शब्दों में, भक्त स्वयं को भगवान को समर्पित कर देता है। परमेश्वर के सच्चे सेवक का एक विशेष लक्षण यह है कि वह अपनी भक्ति और सेवा के बदले में, ईश्वर से कुछ भी नहीं चाहता।

इस सम्बन्ध में, निम्नोक्त उदाहरण का स्मरण आता है। प्रह्लाद के इस विचार को सिद्ध करने के लिए कि भगवान सर्वत्र विद्यमान हैं, तत्रापि हिरण्यकशिपु द्वारा इंगित एक स्तम्भ में भी, भगवान नरसिंह के रूप में स्तम्भ से आविर्भूत हुए। भगवान नरसिंह ने हिरण्यकशिपु का संहार किया, लेकिन वे बहुत भयङ्कर रहे। न केवल देवतागण उनके निकट आने से डरते थे, किन्तु स्वयं देवी लक्ष्मी भी। इसलिए, प्रह्लाद से, जो कि एक छोटा बालक था, प्रभु को शान्त करने के लिए कहा गया। प्रह्लाद ने सहमति व्यक्त की और क्रोध से खौलते भगवान के पास निडरतापूर्वक जाकर, उनके समक्ष साष्टाङ्ग प्रणाम किया। तुरन्त प्रभु शान्त हो गए और करुणा से द्रवित होकर, सिंहासन से

उठे जिस पर विराजमान थे और उन्होंने बालक के सिर पर अपना हाथ रखा। अपने भक्त से प्रसन्न होकर, प्रभु ने प्रह्लाद को वरदान माँगने के लिए कहा। तुरन्त, प्रह्लाद ने उत्तर दिया कि वह प्रभु से कुछ भी नहीं चाहता। भागवत में एक बहुत उत्कृष्ट श्लोक है जिसमें प्रह्लाद प्रभु को बताते हैं, "*जो भगवान से कुछ चाहता है, वह व्यापारी ही है, भगवान का सेवक नहीं।*"[12]

उपर्युक्त कहानी दो पहलुओं को सामने लाती है। एक तो यह है कि भगवान का सच्चा सेवक भगवान के अतिरिक्त और कोई शरण नहीं जानता। यही कारण है कि प्रह्लाद को भगवान नरसिंह के पास जाने में कोई डर नहीं लगा। दूसरा पहलू यह है कि परमेश्वर का सच्चा सेवक, प्रभु से कुछ नहीं चाहता। वास्तव में, वह मोक्ष के लिए भी प्रार्थना नहीं करता।

शिवानन्द-लहरी के एक श्लोक में भगवत्पाद जी भगवान से कहते हैं — "*मुझे बताइए कि आप मुझे इस अत्यन्त दुःखमय सांसारिक स्थिति से क्यों नहीं छुड़ा रहें हैं। यदि उत्तर यह है कि यह आपको प्रसन्न करता है कि मुझे इस प्रकार लुढ़कना चाहिए, तो मैंने वह सब कुछ पा लिया है जो पाना है।*"[13] जब भगवान प्रसन्न हो गए, तो चाहने के लिए क्या रह जाता है?

ईश्वर के सम्बन्ध में भक्ति का दूसरा चरण इस भावना का है — "वे मेरे हैं।" यहाँ भक्त भगवान के हित को सुनिश्चित करने के लिए निश्चित रूप से चिन्तित हैं। ऐसा नहीं है कि भगवान को भक्त की देखभाल की आवश्यकता है। फ़िर भी, भक्त के प्रेम के कारण, प्रभु अपने आप को भक्त द्वारा नियन्त्रित होना स्वीकार कर लेते हैं।

भागवत में भगवान कृष्ण की स्पष्ट घोषणा देखने को मिलती है, "*मैं अपने भक्त के अधीन हूँ, जैसे एक दूसरे के नियन्त्रण में रहता है।*"[14] यशोदा का कृष्ण के प्रति प्रेम "वह मेरा है" रूपी भक्ति का एक उदाहरण है। उनके लिए, कृष्ण उनका प्रिय बच्चा था; न कि प्रभु। लगता है कि प्रभु ने उनकी मातृ-वात्सल्य को इतना प्यार कर लिया कि वे जानबूझकर यशोदा से इस अभिज्ञता को वापस ले लिए कि वे भगवान के अतिरिक्त और कोई नहीं हैं। सर्वशक्त होते हुए भी, उन्होंने स्वयं को येशोदा द्वारा खल्ल से बाँधा जाना स्वीकार किया।

ईश्वर के सम्बन्ध में भक्ति के तीसरे चरण की भावना है, "मैं वह हूँ।" यानी, अद्वैत-साक्षात्कार ही भक्ति का उच्चतम स्तर है। एक कारण यह है कि जबकि अन्य भक्त, ईश्वर से कम से कम कुछ अल्प मात्र अलग होना स्वीकार करते हैं, इस वर्ग का भक्त उसे भी सहन नहीं कर सकता। अलगाव को कब पूरी तरह से मिटाया जा सकता है? स्पष्ट रूप से, वह तभी हो सकता है जब कोई साक्षात्कार कर लेता कि वह सर्वोच्च से अलग नहीं है। गीता में भगवान कृष्ण स्वयं संकेत करते हैं कि तत्त्वज्ञानी उनसे, अर्थात् भगवान से, भिन्न नहीं है।[15]

3.3 प्रणाम करो, आत्मसमर्पण करो और धन्य बनो

एक भक्त ने दयालु भगवान से अपने दो घोर पापों को क्षमा करने की प्रार्थना की।[16] वे कौन कौन से थे?

भक्त ने कहा कि उसने अपने पिछले जन्मों में से किसी में भी भगवान को प्रणाम नहीं किया था। यह एक बहुत बड़ा पाप था। अन्ततोगत्वा, उसे कैसे पता चला था कि उसने कभी भी भगवान को प्रणाम नहीं किया था? उत्तर तो बहुत सरल है। भक्त के अनुसार, भगवान को नमस्कार अपने आप से पुनर्जन्म से मुक्ति सुनिश्चित कर लेता है। अगर उसने पिछले जन्म में भगवान को प्रणाम किया होता, तो उसका यह जन्म नहीं होता। अब तो वह पैदा हो गया है; यह तथ्य दर्शाता है कि भगवान के समक्ष साष्टाङ्ग प्रणाम करने जैसा पवित्र कार्य पहले नहीं किया गया। वर्तमान जन्म में, वह अब भगवान को प्रणाम कर रहा है, और ठीक यही उसकी दूसरी त्रुटि का कारण रहा। परमेश्वर के प्रति अपने प्रणाम के कारण, वह निश्चित रूप से फ़िर से पैदा नहीं होगा। इस प्रकार, भविष्य में परमेश्वर को प्रणाम करने के लिए उसके पास कोई अवसर नहीं होगा। भविष्य के किसी भी जन्म में भगवान

को प्रणाम करने की उसकी अपरिहार्य विफलता उसका दूसरा पाप था! इन दो पापों को क्षमा किया जाना चाहिए; भक्त की यही प्रार्थना रही।

यह प्रार्थना दर्शाती है कि भगवान को प्रणाम करने को कितना महत्त्वपूर्ण मानना चाहिए। प्रायः, हममें से अधिकतर लोग भगवान के सामने हर दिन प्रणाम करते हैं, लेकिन इस कृति को बहुत ही साधारण मानते हैं। यह ठीक नहीं है। हमें प्रणाम करने का जो अवसर मिला है, उसे सबसे मूल्यवान और भगवान की कृपा से ही प्राप्त हुआ समझना चाहिए।

ईश्वर ने उस समय से भी हमारी देखभाल की है जब हम अपनी माताओं के गर्भ में असहाय लेटे थे। इसलिए, कृतज्ञता समर्पण की भावना के साथ, कम से कम पूरे मन से हमें भगवान को प्रणाम करना चाहिए।

क्या परमेश्वर हमें स्वीकार करेंगे, क्योंकि हम सचमुच किसी भी पशु की अपेक्षा, बहुत विलक्षण ढंग से अपने जीवन जीने का दावा नहीं कर सकते? हम अपनी अधिकांश ऊर्जा और समय अपनी रोटी कमाने में, और शेष समय का बड़ा भाग, सोते हुए बिताते हैं। तब हम पशुओं की अपेक्षा, बहुत अलग होने का दावा कैसे कर सकते हैं, जब तक कि हम दृढ़ता से ईश्वर के प्रति समर्पित नहीं हैं और आध्यात्मिक जीवन नहीं जी रहे हैं?

अपने शिव-भुजङ्ग-स्तोत्र में[17] भगवत्पाद जी शिव जी से यह प्रश्न पूछते हैं और फ़िर भगवान से कहते हैं कि वे आपको स्वीकारें, भले ही वे किसी पशु के समान हो। क्यों? क्या नन्दी शिव जी का वाहन नहीं है? निश्चित रूप से, यदि शिव जी नन्दी को स्वीकार कर सकते, जो एक बैल है, तो उनके पशु जैसे भक्त को स्वीकार करने में कोई समस्या नहीं होनी चाहिए। भक्त के पशु होने के बारे में सचमुच शिव जी कैसे परिवाद कर सकते थे, जब उन्होंने एक पशु को ही अपना बना लिया था?

पशु के समान होना एक बात है, पर पापी होना दूसरी बात। क्या होगा अगर भक्त दोष से भरा हुआ हो? तो क्या प्रभु उसे स्वीकार करेंगे? विचाराधीन श्लोक में, भगवत्पाद जी शिव जी से कहते हैं कि ऐसी स्थिति में भी, भोलेनाथ को अपना प्रेम देना चाहिए। क्यों? क्या शिव जी ने चाँद को अपने

सिर पर नहीं रखा था, जो भले ही अपनी सभी पत्नियों को एक समान रूप से देखने के अपने द्वारा दिए गए वादे का उल्लंघन किया था, और यहाँ तक कि अपनी गुरुपत्नी के साथ पलायन करने का घोर पाप भी किया था? निश्चित रूप से, यदि शिव जी ऐसे दोष वाले व्यक्ति को अपने सिर पर रख सकते हैं, तो केवल भक्त के दोषों के मारे, उसे अस्वीकार करने का कोई कारण भगवान के पास नहीं होना चाहिए।

चाहे भक्त पशु के समान और पापी क्यों न हो, फ़िर भी वह भगवान द्वारा स्वीकार किए जाने के योग्य हो। लेकिन क्या भक्त की प्रार्थना पाखण्ड के सभी अवशेषों से मुक्त नहीं होनी चाहिए? क्या भक्त को कम से कम दुधारा से मुक्त नहीं होना चाहिए? यहाँ भी भगवत्पाद जी असहमत हैं, क्योंकि वे शिव जी से कहते हैं, "यदि आप 'दो जीभ वाले' के विरोधी हैं, तो यह कैसे हो सकता कि आप कांटेदार साँप को गले के आभूषण के रूप में रखते हैं? अगर आप एक साँप को अपना सकते हैं, तो मुझे क्यों नहीं?"

अन्त में, भगवत्पाद जी शिव जी को स्मरण दिलाते हैं कि किसी व्यक्ति की स्थिति चाहे जैसी भी हो, वह प्रभु द्वारा स्वीकृत होने पर अवश्य धन्य हो जाता है। प्रार्थना का निहितार्थ यह है कि भगवान की कृपा असीम है और इसलिए, वे हमें अपने सभी दोषों और कमीयों के होते हुए भी स्वीकार कर लेंगे, यदि हम स्वयं को उनके प्रति समर्पित करते हैं। इस प्रकार, भगवान को प्रणाम करने में और स्वयं को उनके चरणों में समर्पित करने में हमारी भलाई है; इससे हम धन्य बन जायेंगे। शेष की देखभाल भगवान करेंगे।

3.4 भक्ति का अमृत

लोगों में प्यार करने की स्वाभाविक क्षमता होती है। स्नेह के लिए एक वस्तु की आवश्यकता होती है और जब वह वस्तु ईश्वर होती है, तो उसे भक्ति कहा जाता है। नारद जी भक्ति को भगवान के परम प्रेम के रूप में परिभाषित करते हैं।[18] इस तरह की भक्ति प्राप्त करने वाला, कोई भी वस्तु

पाने की इच्छा कभी भी नहीं करता और सदैव पूरी तरह से तृप्त और आनन्दित रहता है। जबकि पत्नी, धन आदि के प्रति अनुराग बन्धन का कारण बनता है, ईश्वर के प्रति अनुरक्ति तो बन्धन से मुक्त करता है। इन्द्रिय-विषय कभी सुख और कभी दुःख देता है। वह सदैव उपलब्ध नहीं होता है और कई दोषों से जुड़ा रहता है। दूसरी ओर, ईश्वर तो सदैव मनोहर हैं, निरन्तर उपलब्ध हैं और दोषों से पूरी तरह मुक्त हैं। इसके अतिरिक्त, सभी अच्छे गुणों का भण्डार भगवान के समान प्यारा कौनसा वस्तु या कौन व्यक्ति हो सकता है? उनकी महिमा इतनी मनोरम है कि ऋषि भी, जिन्होंने तत्त्वसाक्षात्कार प्राप्त कर लिया है और जिनको पाने के लिए कुछ शेष नहीं है, उनके बारे में सोचकर हर्षोन्मादित हो जाते हैं।

स्वरूपतः निराकार होते हुए भी, दयालु भगवान अपने भक्तों पर कृपा करने और लोगों को आसानी से उन पर चिन्तन करने में सक्षम बनाने के लिए, विभिन्न रूपों में प्रकट होते हैं। शास्त्रों में भगवान के कई अद्भुत रूपों का वर्णन है। हम मार्कण्डेय-पुराण के देवी-महात्म्य में पढ़ते हैं, "*आप शोभायमान हैं, सब मनोहर की अपेक्षा अधिक मनोहर हैं और अति सुन्दर हैं। आप श्रेष्ठों में से श्रेष्ठ हैं। आप परमेश्वरी हैं।*"[19]

एक भक्त प्रार्थना करना चाहता था, "हे भवानी, मुझ पर दयापूर्ण दृष्टी डालो, जो तुम्हारा सेवक है।" तो उसने "*भवानि त्वम्*" शब्दों के साथ आरम्भ किया। देवी अपने भक्त की इच्छा को पूरा करने के लिए इतनी उत्सुक थीं कि उन्हें यह नहीं पता चला कि भक्त द्वारा उच्चरित "आप" अर्थ के शब्द "*त्वम्*" से पहले का जो विराम था, वह केवल क्रमिक शब्दों के बीच का अन्तराल था। अनुरोध को पूर्ण मानते हुए, उन्होंने तुरन्त उसे "*भवानित्वम्,*" यानी भवानी होने की स्थिति प्रदान की; यानि उसे अपने साथ एक बना लिया। भगवत्पाद जी ने अपने सौन्दर्य-लहरी में यह कहा है।[20]

प्रभु की दया सभी तक फैली हुई होती है। जब सुग्रीव ने विभीषण को स्वीकार करने के बारे में अपनी चिन्ता व्यक्त की तब राम ने सुग्रीव को क्या तब नहीं बताया, "*जो कोई भी केवल एक बार मेरी शरण चाहता है और कहता है, 'मैं तुम्हारा हूँ'; मैं उसे अभय प्रदान करता हूँ*"?[21] एक सच्चे भक्त

को किसी भी चिन्ता का कोई कारण नहीं रहता, क्योंकि उसने अपना तन और मन भगवान को समर्पित कर दिया है, और भगवान के हाथों में अपना सब कुछ छोड़ दिया है। आत्मसमर्पण करने वाले भक्तों के प्रेम से अभिभूत, कृष्ण ने उद्धव से घोषित किया, "*कुछ भी लालसा नहीं रखने वाले, किसी से वैरभाव नहीं रखने वाले और सर्वत्र एक ही दृष्टि वाले ऋषि के पैरों की धूल से स्वयं को शुद्ध करने के लिए, मैं सदैव उनका अनुसरण करता हूँ।*"[22] ब्रह्माण्ड के पूर्ण स्वामी द्वारा कैसी अनोखी उद्घोषणा!

जबकि यह कहा जाता है कि एक सच्चा भक्त भगवान की प्रेमपूर्ण देखभाल में है, यह अनुमान लगाना त्रुटिपूर्ण होगा कि किसी भक्त को कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए। अन्ततोगत्वा, प्रभु न केवल सबसे दयालु हैं, किन्तु पूरी तरह से न्यायी भी। यदि किसी व्यक्ति ने पूर्व जन्मों में बड़े अपराध किए थे, तो उसे पीड़ा के रूप में, बिना किसी दण्ड के, मुक्त कर देना न्याय का उल्लंघन होगा। कारुण्य के आधार पर हत्यारों को दण्ड से बचाने वाला एक न्यायाधीश, समाज के प्रति बड़ा अन्याय कर रहा होगा। वह निश्चित रूप से, किसी अपराधी को दिए गए दण्ड को, परिस्थिति और पछतावे को मन में रखते हुए, कम कर सकता है। इसी तरह, भगवान, न्यायी होने के नाते, भक्तों को भी दण्ड देते हैं, लेकिन दयालु होने के कारण, दण्ड को जितना हो सके कम कर देते हैं। मात्र इसलिए कि एक माँ अपने बच्चे को डाँटती है, क्या इसका तात्पर्य यह है कि वह अपनी सन्तान से बहुत प्यार नहीं करती?

ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापी और कृपासागर हैं। इसलिए, ऐसा कुछ भी नहीं है जो भक्त को भगवान को बताना है जो उन्हें पहले से ही ज्ञात न हो। ऐसा होने पर भी, अगर भक्त कहता है, "मुझे यह चाहिए; मैं उसे चाहता हूँ," तो कैसे कहा जा सकता है कि दिव्य भगवान के अनुग्रहपूर्ण फल प्रदान पर उसका पूर्ण विश्वास है? इसके अतिरिक्त, यहाँ तक कि जब विश्वास अपर्याप्त है, तब भी किसी वस्तु के लिए प्रार्थना करने से बचना उचित होगा। यह अति स्पष्ट है कि ईश्वर का संकल्प अचूक है। यह भी अच्छी तरह से जाना जाता है कि लोग अपनी आशा पूरी होने पर सुखी होते हैं और वह पूरी न होने पर दुःखी। इसलिए, जो अपने संकल्प को भगवान के

संकल्प से एक ताल रखता है, उसके पास कभी भी असन्तोष का कोई कारण हो ही नहीं सकता। पीड़ा का अनुभव भक्त के लिए शोक और विलाप का कारण कैसे हो सकता है, यदि वह ऐसा मनोभाव विकसित करता हो कि पीड़ा भी उसके अत्यन्त हित में है, जैसा कि उसके प्रिय परमेश्वर ने ऐसा विहित किया है? किसी भी स्थिति में, शोक और विलाप पीड़ा को कम नहीं करते; वे केवल उसे बदतर बनाते हैं।

भक्ति का मार्ग इस मायने में अद्वितीय है कि व्यक्ति उसमें बहुत आगे बढ़ने से पहले ही, शान्ति और आनन्द का अनुभव करना प्रारम्भ कर देता है। इसके अतिरिक्त, बुद्धि की तीक्ष्णता, विद्वत्ता, पराक्रम, आयु, काया, सामाजिक स्थिति, व्यवसाय, धन आदि अगण्य हैं। भगवान सबसे प्यारे होने के नाते, कोई कारण नहीं है कि कोई भी भक्ति नहीं कर सकता। व्यक्ति किसी के बारे में सकारात्मक रूप से जुड़ने और सोचने से, उससे प्यार करने लगता है। इसी तरह, ईश्वर और उनकी महिमा के बारे में बार-बार सोचने से, ईश्वर के प्रति भक्ति विकसित की जा सकती है। उनके बारे में सोचना कठिन नहीं है, क्योंकि कोई भी मानसिक रूप से उनके नाम का जाप कर सकता है और अपने सभी कार्यों और विचारों को उन्हें समर्पित कर सकता है। भक्ति को विकसित करने में पवित्र भक्तों की संगत अत्यधिक सहायक है, क्योंकि, उनमें हम आत्मसमर्पण और शान्ति देखते हैं। इसके विपरीत, बुरी संगत तद्विरुद्ध प्रभाव पैदा करती है एवं व्यक्ति के मन को ईश्वर से दूर और इन्द्रिय-विषयों की ओर ले जाती है।

प्रारम्भ में, जब कोई व्यक्ति अपने मन को भगवान में स्थापित करने का प्रयास करता है, तो हो सकता है की वह अपने मन को सहयोगी न पाए और ऐसा करने में उसे बहुत आनन्द न मिले। हालाँकि, निराशा का कोई कारण नहीं है। नवोदित भक्त भगवान को अपने मन की कृत्यों का विस्तृत विवरण देकर, स्थिति को अपने लाभ में बदल सकता है। मानसिक रूप से भगवान को यह कहने में क्या कठिनाई है, "मेरा मन आपके बारे में सोचने से नकारता है। देखें कि यह किस तरह से विद्रोह करता है"? परमेश्वर के साथ ऐसी बातचीत उनके बारे में सोचने का अपने आप में एक उपाय है।

यहाँ तक कि जब कोई व्यक्ति भगवान पर अपने मन को कुछ समय तक केन्द्रित करने में सक्षम होता है, तब वह शान्ति का अनुभव करता है। इसका कारण यही है कि कम से कम उस छोटी अवधि के लिए, वह चिन्ताओं से मुक्त रहता है और अपनी माँ की गोद में एक बच्चे की तरह रहता है। महान भक्तों की उपस्थिति में, शान्ति और आनन्द का अनुभव आसानी से हो जाता है। यह सुखद अनुभव ही भगवान के बारे में और भी सोचने के लिए नवोदित भक्त को प्रेरित करता है। फ़िर भी, उसके लिए यह पहचानना आवश्यक है कि प्रारम्भिक अवस्था में मन के ईश्वर के बारे में लम्बे समय तक भूल जाने की आशङ्का रहती है। इसलिए, अनवधानता को किसी अवसर दिए बिना, उसे लगन से भगवान के बारे में बार-बार सोचने का प्रयास करते रहना चाहिए।

अपने शिवानन्द-लहरी के एक श्लोक में, भगवत्पाद जी ने भक्ति के विकास में स्तरों को चित्रित किया है।[23] पहले चरण में, भक्त किसी न किसी तरह भगवान के पास पहुँचता है, जैसे अंकोल के वृक्ष का बीज वृक्ष तक पहुँच जाता है और स्वयं को तना से जोड़ देता है। इसके बाद, अनुग्रह का प्रभाव, जो पहले भी था, स्पष्ट रूप से अनुभूत होने लगता है। प्रभु भक्त को वैसे ही पकड़ लेते हैं, जैसे चुम्बक सुई को खींचकर पकड़ रखता है। भक्त ईश्वर के खिंचाव का अनुभव करता है। तीसरे स्तर में, भक्त और प्रभु एक पुरुष और उसकी पतिव्रता पत्नी की तरह एक दूसरे के निकट होते हैं। प्रेम दृढ़ता से परस्पर होता है। अगले चरण में, जैसे एक लता वृक्ष की सुन्दरता को बढ़ाती है, वैसे ही भक्त ईश्वर की महिमा में जोड़ता है। सचमुच, प्रह्लाद जैसे भक्त ईश्वर के आभूषण थे। अन्तिम चरण में, भक्त भगवान के साथ विलीन हो जाता है जैसे कि एक नदी सागर के साथ जा मिलते हुए एक हो जाती है।

भगवान कृष्ण ने करुणापूर्वक सिखाया है कि विभिन्न क्षमताओं के भक्तों को भक्ति का अभ्यास कैसे करना चाहिए।[24] संसार में ऐसा कुछ भी नहीं है जो भगवान से अलग हो। तो एक परिपक्व आध्यात्मिक आकांक्षी को परामर्श दिया जाता है कि वह विराट-पुरुष के रूप में भगवान पर अपने मन और बुद्धि को केन्द्रित करे; सब कुछ भगवान के शरीर के, जोकि ब्रह्माण्ड है, एक अंश के रूप में देखा जाता है। सब कुछ भगवान से सम्बन्धित के रूप में

देखने में असमर्थ आध्यात्मिक आकांक्षी को, कृष्ण ने भगवान के किसी चुने हुए रूप पर मन को बार-बार स्थिर करना सिखाया है। अगर कोई व्यक्ति इस प्रकार ध्यान करने में असमर्थ हो, तो उसे निर्देश दिया जाता है कि वह प्रभु के लिए कर्म करने में तत्पर रहे। भक्त को भगवान के बारे में सुनने, उनकी महिमा गाने, उनकी मूर्ति की पूजा करने आदि में स्वयं को संलग्न करना चाहिए। अन्त में, भले ही आकांक्षी ऐसे कार्यों में मग्न होने में असमर्थ हो, तो उसके लिए इससे भी आसान एक विकल्प उपलब्ध है। प्रभु कहते हैं कि ऐसे साधक को एक संयमित मन से, अपने सभी कार्यों को ईश्वर के लिए समर्पित कर देना चाहिए और सभी कार्यों के फल की तृष्णा को त्याग देना चाहिए। प्रायः, कोई परिणामों की लालसा से प्रेरित होकर कार्य करता है। इस तरह का कार्य बन्धन का उत्पादक है। आध्यात्मिक आकांक्षी भगवान के अपने प्यार से प्रेरित होकर, परिणामों के लिए लगाव के बिना, ईश्वर के लिए कार्य करता है। जिस प्रकार पूजा के समय भगवान को एक फल समर्पित किया जा सकता है, उसी प्रकार भक्त कर्मों का फल भगवान को समर्पित करता है। वह, "मैं ईश्वर के लिए यह कर्म करता हूँ" — इस भावना के साथ कार्य करता है; वह, "मैं ऐसा करता हूँ ताकि भगवान मेरे प्रति अनुकूल रहें" — ऐसे मानते हुए एक कदम नीचे नहीं जाता है। वह सफलता और विफलता को समभाव से देखता है; यहाँ सफलता में चित्तशुद्धि की प्राप्ति भी सम्मिलित है।

भगवान के लिए कर्म करने के नाते, भक्त दुष्कर्मों से दूर रहता है। वह दृढ़ता और उत्साह के साथ कार्य करता है। अन्ततोगत्वा, उसकी भक्ति उसे अपना अत्युत्तम प्रयास करने के लिए प्रेरित करती है। शास्त्रों को ईश्वर के निर्देशों के रूप में मानते हुए, वह श्रद्धापूर्वक स्वयं के लिए उचित शास्त्र-निर्धारित कर्तव्यों का पालन करता है। जो परमेश्वर की आज्ञाओं की अवज्ञा करता है और अपने धार्मिक कर्तव्यों की उपेक्षा करता है, वह सच्चा भक्त कैसे हो सकता है? इस प्रकार, कार्यों के फल से अनासक्त होने का अर्थ अक्षमता या असावधानी नहीं है। इसके विपरीत, भक्त का प्रदर्शन सांसारिक व्यक्ति के आचरण से श्रेष्ठतर रहता है; सांसारिक व्यक्ति के विपरीत, एक भक्त चिन्ता, हताशा आदि से प्रभावित नहीं रहता।

प्रभु की घोषणा है, "*मन को मुझ पर केन्द्रित करो। मेरे भक्त बनो। मेरी पूजा करो। मुझको प्रणाम करो। (इस प्रकार आचरण करते हुए, मुझे सभी फल, उपाय और आवश्यकताओं को समर्पित करते हुए) तुम मेरे ही पास आओगे। मैं तुम से सचमुच ऐसी प्रतिज्ञा करता हूँ, क्योंकि तुम मेरे लिए प्रिय हो।*"[25] कौन वास्तव में स्वयं को ईश्वर के सामने आत्मसमर्पण नहीं करना चाहेगा जो बहुत प्यार करने वाले और प्यारे हैं!

3.5 भगवद्गीता के मूलभूत तत्त्व

भगवान कृष्ण जी द्वारा अर्जुन को प्रतिपादित तत्त्व क्या है? क्या भगवान घोषित करते हैं कि मुक्ति किसी के वास्तविक स्वरूप के साक्षात्कार से ही प्राप्त होती है या उनका विचार यह है कि कर्म भी मुक्ति का साक्षात् कारण है? क्या यह प्रभु का मत है कि कई आत्माएँ हैं और वास्तविक संसार है, या प्रभु यह मानते हैं कि वास्तव में परब्रह्म के अतिरिक्त कोई और नहीं है और यह संसार पारमार्थिक रूप से सत्य नहीं है? इन प्रश्नों का उत्तर देने के लिए, यह स्पष्ट रूप से अनिवार्य है कि हम गीता की ही ओर मुड़ें।

भगवान अर्जुन को आत्मा की अमरता और शरीर एवं शारीरिक गुणों से उसके पूर्ण अलगाव की ओर संकेत देते हैं। "*आत्मा न तो पैदा हुई है, न ही मरती है और न ही इसका अस्तित्व मिट जाता है। यह अजन्मा, सनातन, अविकारी और प्राचीन है। शरीर के मारे जाने पर यह नहीं मारी जाती है।*"[26] आत्मा के शरीर से अलग होने के बारे में, इस प्रकार की स्पष्ट घोषणाएँ गीता में कई स्थानों में पाई जाती हैं।

प्रभु ने ऐसे ही स्पष्ट रूप से कहा है कि आत्मा किसी भी शारीरिक गतिविधि से अछूती है और क्रिया-रहित है। उदाहरणार्थ, उन्होंने कहा है, "*अनादि और निर्गुण होने के नाते, यह अविनाशी आत्मा शरीर में रहते हुए भी, न तो कार्य करती है और न ही कलंकित होती है।*"[27]

फ़िर, वह क्या है जो कार्य करता है? जैसे प्रभु ने विभिन्न स्थानों पर अपने वक्तव्य द्वारा स्पष्ट किया है, *"प्रकृति के गुण सारे कर्म करते हैं। जिसकी समझ पर अहंकार का मेघ छाया हो, वह अनुभव करता है — 'मैं कर्ता हूँ'।"* [28] ऐसी घोषणाओं से यह स्पष्ट होता है कि आत्मा सर्वथा अकर्ता है और पूरी तरह से निष्कलंक है। ऐसी आत्मा वास्तव में बन्धन को कैसे झेल सकती है? यदि बन्धन वास्तविक नहीं है और अज्ञान के कारण होता है, तो भगवान की घोषणाएँ आसानी से सार्थक होंगी।

प्रभु कहते हैं, *"जो देखता है कि सभी कार्य केवल प्रकृति द्वारा किए जाते हैं और आत्मा अकर्ता है, वही वास्तव में देखता है।"*[29] यह विचार कि सच्चा ज्ञान अज्ञान को नष्ट करता है और मुक्ति देता है, कृष्ण जी द्वारा इस तरह के शब्दों से समझायी गई है — *"जो श्रद्धावान है और ज्ञान पर तत्पर है एवं इन्द्रियों को नियन्त्रित कर रखा है, वह सच्चा ज्ञान प्राप्त करता है। ज्ञान प्राप्त करने के बाद, वह तुरन्त परम शान्ति पा लेता है।"*[30]

क्या ईश्वर की कृपा मुक्ति नहीं देती है? क्या कृष्ण जी यह नहीं कहते हैं, *"जो केवल मुझमें शरण लेते हैं, वे इस माया को पार कर लेते हैं?"*[31] हाँ, वास्तव में प्रभु ने कहा है कि वह भक्तों को मुक्ति प्रदान करते हैं। लेकिन यह देखना होगा कि वे ऐसा कैसे करते हैं। उन्होंने स्वयं स्पष्ट किया है, *"उनके प्रति अनुकम्पा के कारण, उनके मन में निवास करने वाला मैं, ज्ञान रूपी दीपक के माध्यम से अज्ञान से उत्पन्न अन्धकार को नष्ट करता हूँ।"*[32] इस प्रकार, प्रभु ने दिखाया है कि ज्ञान मुक्ति का साधन है। ऐसा ज्ञान सभी कर्मों के फल को नष्ट कर देता है। प्रभु का कहना है, *"जिस प्रकार अग्नि ईंधन को भस्म कर देती है, उसी प्रकार ज्ञान की अग्नि भी सभी कार्यों को जला देती है।"*[33]

यह अवश्य नहीं कहा जा सकता है कि वही प्रभु, जो कर्म और ज्ञान के विरोध की घोषणा करते हैं, अपनी शिक्षाओं को भूल जाते हैं और कहते हैं कि मुक्ति इन दोनों के संयोजन से होती है। उन्होंने समनुरूपता से सिखाया है कि कर्म उसके लिए होते हैं जिसने आत्म-साक्षात्कार प्राप्त नहीं किया हो, और जिसने आत्म-साक्षात्कार प्राप्त कर लिया हो, उसे केवल आत्मा में 'बने रहना' है। ईश्वर स्पष्ट करते हैं, *"योग प्राप्त करने का यत्न करने वाले मुनि के*

लिए, कर्म को साधन कहा जाता है। उसी व्यक्ति के लिए जब उसने योग प्राप्त कर लिया है, शान्ति को साधन माना जाता है।"[34]

"*जिसका जन्म हुआ है, उसका निधन निश्चित है*"[35] — इसे स्वयंसिद्ध मानने से प्रभु ने बताया है कि जिसका आरम्भ है उसका अन्त होना ही चाहिए। अगर कर्म से सच्ची मुक्ति मिलती, तो आरम्भ होने के कारण, ऐसी मुक्ति का अन्त भी अवश्य होना चाहिए। इसलिए, कर्म से मुक्ति नहीं मिल सकती। कर्म का योगदान चित्त की शुद्धि है। कृष्ण जी इसे स्पष्ट करते हैं जब वे कहते हैं, "*यज्ञ, दान और तपस्या बुद्धिमानों के शोधन-कारक हैं।*"[36]

आत्माओं का नानात्व और परब्रह्म के साथ उनके सम्बन्ध के बारे में प्रभु के निम्नोक्त शब्द उनके रुख का वर्णन करते हैं। वे कहते हैं, "*जिसे योग द्वारा स्थिर बनाया गया है, वह सर्वत्र समरूप देखता है और सभी प्राणियों में स्थित आत्मा को, तथा सभी प्राणियों को आत्मा में स्थित, देखता है।*"[37] आत्मा के लिए एकवचन का उपयोग यह बताता है कि वास्तव में आत्मा का कोई नानात्व नहीं है। परमात्मा के साथ आत्मा के सम्बन्ध के बारे में स्वयं भगवान ने कहा है, "*हे गुडाकेश, मैं सभी प्राणियों के हृदयों में स्थित आत्मा हूँ,*"[38] और "*मुझे क्षेत्रज्ञ (व्यक्तिगत आत्मा) समझो।*"[39]

3.6 सच्चे और छद्म अद्वैतियों के बीच धरती-आकाश का अन्तर

यह सर्वविदित है कि अद्वैत दर्शन केवल ब्रह्म को पारमार्थिक सत्य के रूप में पहचानता है और मानता है कि विश्व भ्रम है, जिसका ब्रह्म के अतिरिक्त कोई अस्तित्व नहीं। अविद्या, यानी अज्ञान, के कारण व्यक्ति में ऐसा मिथ्याबोध होता है कि वह शरीर या मन है और द्वैत तथ्य है।

जीवात्मा वस्तुतः परमात्मा से अभिन्न है। वास्तव में सच्चा अद्वैती वह है जिसने साक्षातकार किया है कि वह परब्रह्म है। अद्वैत दर्शन को सही मानने वाले दूसरे भी अद्वैती कहलाते हैं, लेकिन वह शब्द-प्रयोग कुछ गौण है।

जिन्होंने सत्य को अपरोक्ष रूप से जाना है, वे ज्ञानी कहलाते हैं; वे जीवित रहते हुए भी मुक्त हैं। ऐसे व्यक्ति अति विरल होते हैं। कृष्ण गीता में बताते हैं, "*वह जो जानता है कि वासुदेव सब कुछ है, सो बहुत दुर्लभ हैं।*"[40] निरहङ्कार होते हुए, ऐसे ऋषि अपनी प्रज्ञा को घमण्ड से नहीं दिखाते हैं।

दूसरी ओर, कई ऐसे हैं जिन्हें ऐसी अनुभूति प्राप्त नहीं हुई है, लेकिन वे ऐसी बात किया करते हैं और ऐसा व्यवहार करते हैं जैसे कि उन्होंने मुक्ति प्राप्त कर ली है। हम यहाँ तक लोगों को पाते हैं कि वे अपने आचरण में बहुत विनियमित नहीं हैं। पूछने पर वे कहते हैं, "अन्ततोगत्वा, मैं शरीर या मन नहीं हूँ। मैं न तो कार्यवाही करता हूँ और न ही मैं कार्यवाही से प्रभावित हूँ। और यही नहीं, संसार केवल असत्य है। तो मैं इस बात की चिन्ता क्यों करूँ कि शरीर और मन कौन से कार्य में लगे हुए हैं?"

इस सम्बन्ध में एक कहानी है। एक व्यक्ति छात्रों के एक गुट को अद्वैत दर्शन पढ़ा रहा था और अपने प्रवचन के समय बताया कि संसार मिथ्या है। तभी अचानक एक जंगली हाथी उसी ओर दौड़ता हुआ आया। शिष्य उतनी तेज़ी से दौड़ निकले जितना उनके पैर उन्हें ले जा सकते थे; शिक्षक कोई अपवाद नहीं था। दुर्भाग्य से, शिक्षक फिसलकर एक गड्ढे में गिर गया। हाथी के चले जाने के बाद, छात्रों ने सहायता के लिए चिल्लाते हुए अपने शिक्षक को गड्ढे में खोज पाया। वे उसके पास गए और पूछे, "हे गुरुजी, आप हमें बता रहे थे कि संसार असत्य है। फ़िर जब हाथी ने आक्रमण किया, तो भय के मारे जकड़े हुए आप क्यों भाग उठे? इसके अतिरिक्त, अब आप सहायता के लिए क्यों चिल्ला रहे हैं?" असहाय शिक्षक ने एक पल के लिए सोचकर कहा, "बाहर आने में मेरी सहायता करें, फ़िर मैं समझाऊँगा।"

छात्रों ने उसे बाहर निकाला। शिक्षक फ़िर से अपने आसन पर बैठा जहाँ वह पढ़ा रहा था और बिना पलक झपकाए, घोषित कर दिया, "मैंने जो कहा, मैं उसपर अडिग हूँ। संसार असत्य है। जिस हाथी ने आक्रमण किया, वह असत्य था। तुम लोगों ने मुझे आतङ्क में भागते देखा, लेकिन मेरी उड़ान अवास्तविक थी। तुम लोगों ने देखा कि मैं एक गड्ढे में गिर गया था और

सहायता के लिए चिल्ला रहा था। वह सब असत्य था। अन्त में, तुम लोगों का मेरी सहायता करना भी अवास्तविक था।"

सम्भवतः उपर्युक्त स्पष्टीकरण से पता चलता है कि तथाकथित शिक्षक चतुर था, लेकिन यह इस तथ्य को नहीं बदलता है कि वह पाखण्डी था। हर एक व्यक्ति को अपनी अन्तरात्मा के प्रति सच्चा होना चाहिए। अद्वैत सिद्धान्त की ऊँची-ऊँची बातें करके, कोई दूसरे को ठगा सकता है, लेकिन यदि वह अपने आपको नहीं सुधारता, तो ऐसा व्याख्यान किसी काम नहीं आएगा। ऐसा कहा जाता है, "*जो सांसारिक सुखों से जुड़ा हुआ है, लेकिन फ़िर भी कहता है कि सब कुछ ब्रह्म है, वह वास्तव में कर्म और ब्रह्म दोनों से भी भ्रष्ट हुआ होता है। ऐसे व्यक्ति को नीच की तरह त्याग दिया जाना चाहिए।*"[41] चूँकि वह सत्य का साक्षात्कार पाने और मोक्ष प्राप्त करने में विफल रहता है, ऐसा कहा जाता है कि वह ब्रह्म से गिर गया है। ब्रह्मज्ञानी होने का दिखावा करने के नाते, वह अपने विहित कर्तव्यों का निष्ठापूर्वक पालन नहीं करता। इसलिए कहा जाता है कि वह कर्म से पतित है।

तो ब्रह्म का साक्षात्कार प्राप्त किए बिना भी, कोई व्यक्ति ऐसा व्यवहार क्यों करता है कि संसार असत्य है, भले ही उसके पास ऐसा ज्ञान नहीं है? इसका एक कारण है आत्म-भ्रम। दूसरा कारण यह है कि वह अच्छा नाम कमाना चाहता है। नीलकण्ठ दीक्षित जी ने उपहास में लिखा है, "*सदैव हाथ में जपमाला रखना, कभी-कभी अपनी आँखें खोलना और यह घोषित करना कि सब कुछ ब्रह्म है — ये अच्छी छवि बनाने के निश्चित उपाय हैं!*"[42]

ऐसे छद्म-अद्वैती आजकल दुर्लभ नहीं हैं। उनके लिए कठोपनिषद् की इस घोषणा को ध्यान में रखना अच्छा होगा — "*जो बुरे आचरण से निवृत्त नहीं है, जिसकी इन्द्रियाँ अपने वश में नहीं हैं, जिसका मन एकाग्र नहीं है और जिसका मन एकाग्रता के फल के लिए ललक से मुक्त नहीं है, वह ज्ञान द्वारा आत्मा को प्राप्त नहीं कर सकता।*"[43] यह स्पष्ट है कि सच्चा ज्ञान तभी उदित हो सकता है जब आध्यात्मिक अनुशासनों के अभ्यास से मन को बहुत शुद्ध किया गया हो।

3.7 परब्रह्म को जानने के लिए आवश्यक पूर्वापेक्षाएँ

महर्षि बादरायण जी के ब्रह्म-सूत्रों में से पहला है, "*इसलिए, ब्रह्म पर विचार-विमर्श इसके बाद किया जाना चाहिए।*"[44] "इसके बाद" शब्द दिखाता है कि परब्रह्म के वास्तविक स्वरूप पर विचार-विमर्श कुछ आवश्यकताएँ पूरी होने के बाद ही किया जाना चाहिए। कर्मों से सम्बन्धित वेदों के कर्म-काण्ड भाग में विस्तृत संस्कारों का ज्ञान, वह पूर्व सामग्री नहीं है। इसके व्यतिरिक्त, इसमें "साधन-चतुष्टय" — यानी चार आध्यात्मिक साधनों का समावेश — है। भले ही कोई लम्बे समय तक वेदान्त ग्रन्थों का अध्ययन करता हो, उनमें प्रवीणता प्राप्त करता हो और एक ऐसा प्रतिपादक बन जाता हो जो विद्वानों और सामान्य लोगों को प्रसन्न करता हो, तथापि यदि उसके पास साधन-चतुष्टय नहीं है, तो उसे सत्य का साक्षात्कार नहीं मिलेगा। वेदान्त में अपनी सारी विद्वत्ता के होने पर भी, वह संसार के चक्र में फँसा रहेगा। दूसरी ओर, जो व्यक्ति साधन-चतुष्टय से सुसज्जित होता है और एक ऋषि के मार्गदर्शन के अनुसार प्रयास करता है, वह परब्रह्म का साक्षात्कार, और उससे मुक्ति, प्राप्त कर सकता है।

साधन-चतुष्टय का पहला पहलू "विवेक" है। आध्यात्मिक आकांक्षी को शाश्वत — जोकि ब्रह्म है — और क्षणिक — जोकि बाकी सब कुछ है — इनके बीच का अन्तर जान लेना चाहिए। केवल वही जो जानता है, "यह शाश्वत है; यह क्षणिक है," क्षणिक जगत् से अपने मन को वापस लेने के लिए प्रवृत्त होगा। जगत् को न केवल विनाशी देखा जाना चाहिए, किन्तु अत्यन्त भ्रमात्मक रूप में भी। वास्तव में, कौन ऐसी वस्तु की इच्छा करेगा जिसे वह भ्रम के रूप में मानता हो? इन्द्रिय वस्तुओं को क्षणभङ्गुर देखना पर्याप्त नहीं है, क्योंकि लोग सामान्यतः सांसारिक सुखों की खोज में पाए जाते हैं, हालाँकि यह जानने के बाद भी कि ये उपभोग सदैव नहीं रहते हैं।

साधन-चतुष्टय का दूसरा तत्त्व "वैराग्य" है और जैसा कि पहले देखा गया है, यह विवेक से उपजा है। जब किसी का कोई निकट सम्बन्धी या मित्र मर

जाता है, तब उसे संसार में उदासीनता लग सकती है। हालाँकि ऐसी उदासीनता शीघ्र ही दूर हो जाती है। केवल विवेक से पैदा हुआ स्थिर वैराग्य ही परब्रह्म प्राप्ति की ओर ले जाता है। साधक को उस सीमा तक वैराग्य विकसित करना चाहिए जब तक कि वह अपने शरीर सहित सारे सांसारिक और स्वर्गीय भोगों को कौए के उत्सर्जन के समान अनाकर्षक न पा ले।

साधन-चतुष्टय का तीसरा घटक "शमादि-षट्क-सम्पत्ति" — छह गुणों का समुच्चय — है। इनमें से पहला "शम" यानी मन-नियन्त्रण है। मन के अपने लक्ष्य पर स्थिर रहना इसका लक्षण है। दृढ़ वैराग्य न होने पर, मन का ध्यान इन्द्रिय वस्तुओं की ओर भटकता रहेगा। दूसरी ओर, जो बार-बार इन्द्रिय वस्तुओं की कमियों को देखता है — जैसे कि वे क्षणिक हैं, उन्हें प्राप्त करने के लिए खर्चा और प्रयत्न की आवश्यकता होती है और वे नीरस भी हो जाते हैं — वह उनकी ओर आकर्षित होना बन्द कर देता है। उसका मन उनसे विचलित होने से रुक जाता है। इस प्रकार, वैराग्य तो स्थिर मन-नियन्त्रण का आधार है।

"शम" यानी मन-नियन्त्रण "दम" यानी इन्द्रियों को अपनी अपनी सम्बन्धित वस्तुओं से वापस लाने की सुविधा प्रदान करता है। कठोपनिषद् में इन्द्रिय-विषयों की तुलना सड़कों से, इन्द्रियों की घोड़ों से और मन की लगाम से की गई है।[45] तो अपने लक्ष्य पर अटूट मन के द्वारा, इन्द्रियों को नियन्त्रित रखा जा सकता है; मन पर नियन्त्रण से, इन्द्रियों की गतिविधि का संयम होता है। हालाँकि, यह नहीं माना जाना चाहिए कि साधक को पहले इन्द्रियों की गतिविधियों को अनदेखा करते हुए, केवल मन को नियन्त्रित करने पर ध्यान देना चाहिए। जैसा कि भगवान गीता में बताते हैं, इन्द्रियाँ शक्तिशाली हैं और मन को अस्थिर कर सकती हैं।[46] इन्द्रिय-विषयों से बचना, मन पर नियन्त्रण पाने के लिए अनुकूल स्थिति प्रदान करता है; सुन्दर दृश्यों, स्वादिष्ट वस्तुओं इत्यादि की उपस्थिति में भी इन्द्रियों का दृढ़ संयम एक नियन्त्रित मन द्वारा ही किया जा सकता है।

इन्द्रिय-निग्रह "उपरति" या प्रत्याहार का, यानी मन को लौटाने का, अग्रदूत है। उपरति तो इन्द्रिय भोगों से और बन्धन-कारक कर्मों से है। यदि कोई सांसारिक गतिविधियों में और धार्मिक कर्मों के अनुष्ठान में डूबा रहता है, तो

वह ब्रह्म को जानने के लिए — जो निर्विशेष और सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है — निरन्तर और गहन प्रयास कैसे कर सकता है? प्रत्याहार की सीमा तब होती है जब शरीर सहित संसार से कोई पूरी तरह अनजान हो जाता है, और योग की पराकाष्ठा निर्विकल्प-समाधि में डूब जाता है।

शमादि-षट्क-सम्पत्ति का चौथा तत्त्व है "तितिक्षा" यानी सहनशीलता। बिना किसी प्रतिशोधों के विचार के तथा बिना चिन्ता और विलाप के, सभी कष्टों का सहन करना — इससे सच्ची तितिक्षा की पहचान होती है। जब प्रत्याहार अपने चरम पर होता है, तो मन गर्मी, सर्दी आदि को नहीं पहचानता है। हालाँकि जब गर्मी, सर्दी आदि अनुभूत होते हैं, तो वे सहन किए जाते हैं। सामान्य रूप से, जब लोग कुछ अप्रिय अनुभव को सुधारने में असमर्थ होते हैं, तो वे चिन्ता और विलाप करते हैं। सच्ची तितिक्षा से सम्पन्न आध्यात्मिक आकांक्षी अलग है। चिन्ता, विलाप आदि से कलंकित मन, सत्य के बारे में सफलतात्मक विचार-विमर्श करने के लिए अयोग्य है।

गुरु व शास्त्र के शब्दों को सत्य मानने की दृढ़ स्वीकृति "श्रद्धा", यानी विश्वास, है। सांसारिक सम्बन्धों में भी, एक व्यक्ति दूसरे के शब्दों के अनुसार तब तक नहीं सोचता जब तक कि उस पर श्रद्धा की कमी हो। ऐसी स्थिति में, उन विचारों में विश्वास के महत्त्व के बारे में क्या कहा जाना चाहिए जिन्हें इन्द्रिय-ग्रहणबोध के माध्यम से पता नहीं लगाया जा सकता? सत्य को जानने हेतु, गुरु और शास्त्र में गहन विश्वास महत्त्वपूर्ण हैं। इसके अतिरिक्त, केवल वही — जिसका मन एकाग्र हो, जिसकी इन्द्रियाँ संयमित हों, जो प्रत्याहारशील बन गया हो और जो सहनशील हो — जो यह सिखाए जाने पर, "केवल ब्रह्म ही सत्य है; बाकी सब भ्रम हैं। तुम ही वास्तव में परब्रह्म हो," इस प्रकार का दृढ़ विश्वास प्राप्त कर सकता है, "यह सचमुच ऐसा है।"

गुरु और शास्त्र में अत्यधिक विश्वास सन्देह और विकर्षणों से मुक्ति दिलाता है। इसलिए, साधक अपनी बुद्धि को सभी गुणों से रहित ब्रह्म पर स्थापित करने में सक्षम रहता है। बुद्धि की इस तरह की स्थिर स्थापना शमादि-षट्क-सम्पत्ति के छठे तत्त्व "समाधान" है। "शम" के चरण में भी मन अपने लक्ष्य, ब्रह्म, पर स्थिर हो जाता है, लेकिन प्रयास से ऐसा ध्यान पूरा होता है; इसके

अतिरिक्त, सन्देह पूरी तरह से हल नहीं हुए हैं। इस प्रकार, "समाधान" और "शम" एक समान नहीं हैं; "समाधान" तो "शम" का समापन या फल है।

अन्त में हम साधन-चतुष्टय के चौथे और अन्तिम घटक पर आते हैं। यह है "मुमुक्षुत्व", जोकि मोक्ष की उत्कट इच्छा है। जब सांसारिक प्रवृत्तियों से कलंकित मन वाला व्यक्ति वेदान्त का विस्तृत प्रवचन सुनता है, तो उसे मोक्ष की इच्छा अनुभूत हो सकती है। हालाँकि ऐसी इच्छा क्षणभङ्गुर है और सुनने के समय से परे कदाचित् ही बनी रहती है। यह मुक्ति की ओर नहीं ले जाती और इसे निम्न प्रकार के मुमुक्षुत्व के रूप में वर्गीकृत किया जाता है।

जब शास्त्र ग्रन्थों के श्रवण से विवेक और उससे वैराग्य उत्पन्न हो जाते हैं, तब व्यक्ति सांसारिक विषयों को त्याग देता है तथा निष्ठापूर्वक विचार-विमर्श करने के लिए, एक प्रबुद्ध गुरु के पास जाता है। उसके बाद, उसमें मध्यम दर्जे का मुमुक्षुत्व विकसित होता है जब वह अपने गुरु की शिक्षाओं का श्रवण करता है। यह भी अपर्याप्त है।

जब वह अटल विरक्ति को प्राप्त कर लेता है, तो उसका मन एकाग्र हो जाता है। गुरुकृपा की बाढ़ में डूबा हुआ, वह मोक्ष के अतिरिक्त कुछ भी पाने के लिए नहीं तरसता। वह मुक्त होने में कैसा भी विलम्ब का सहन नहीं कर सकता; वह ऐसे व्यक्ति के समान है जो अपने सिर पर लगी हुई आग बुझाने के लिए, पानी की ओर दौड़ता है। उसका मुमुक्षुत्व सुविकसित प्रकार का है। उत्तम अधिकारी होने के कारण, वह शीघ्र ही तत्त्व का अपरोक्ष अनुभव, यानी ब्रह्म-साक्षात्कार, प्राप्त कर लेता है और जीवित रहते हुए ही मुक्त हो जाता है।

3.8 सारी बुराई का स्रोत

अर्जुन ने भगवान कृष्ण से पूछा, "*हे वार्ष्णेय, अनिच्छुक होते हुए भी, किससे प्रेरित होकर मनुष्य पाप करता है, जैसे कि उसे विवश किया गया हो?*"[47] अर्जुन चकित है क्योंकि उसने पाया कि न केवल वे जो बुराई करना चाहते हैं, किन्तु वे भी जो अधर्म से दूर रहना चाहते हैं, पाप करते दिखाई देते हैं।

यह ऐसा है, जैसे एक राजा द्वारा किसी कार्य को करने के लिए आदेशित सेवक के समान, किसी को त्रुटि करने के लिए विवश किया जा रहा हो।

भगवान अर्जुन को सभी बुराई का स्रोत बताना चाहते हैं। वे कहते हैं, "*यह काम है और यह क्रोध है जो बड़ा भक्षक और महा पापी 'रजो-गुण' से पैदा हुआ है। इसे यहाँ (इस विषय में) शत्रु समझो।*"[48] सारे जगत् का शत्रु वह लालसा है जिसके मारे सभी प्राणियों को बुराई प्राप्त होती है। जब किसी कारण से इच्छा रोकी जाती है, तो वह क्रोध के रूप में बदल जाती है। इसलिए, क्रोध इच्छा का एक उत्परिवर्तन है।

ब्रह्माण्ड में सब कुछ प्रकृति के तीन गुण — यानी सत्त्व, रजस् और तमस् — इनसे बना है। सत्त्व एक शान्तिपूर्ण, सुखप्रद स्वभाव के लिए निमित्त है, रजस् अति सक्रिय और संलग्न प्रकृति के लिए है तथा तमस् आलस इत्यादि के लिए है। भगवान के अनुसार, काम रजस् से पैदा होता है। प्रभु के शब्दों की एक वैकल्पिक व्याख्या यह है कि रजस् के पैदा होने के लिए, काम स्वयं कारण है। जब इच्छा प्रकट होती है, तो वह रजस् को जगाती है, तब व्यक्ति कार्य करने के लिए प्रेरित होता है। काम को भगवान ने बहुत पापी घोषित किया है, क्योंकि तभी कोई पाप करता है जब वह इच्छा से प्रभावित होता है। इस कारण से, इस संसार में काम किसी का शत्रु है।

विचारों को अपने वास्तविक परिप्रेक्ष्य में घोषित करने के लिए भगवान वास्तव में सक्षम हैं। इस प्रकार, भगवत्पाद जी इस भाग पर टिप्पणी करते हुए, "*भगवान*" शब्द का अर्थ बताते हैं। वे कहते हैं कि प्रभु को भगवान इसलिए कहा जाता है क्योंकि उनमें '*भग*' विद्यमान है। विष्णु-पुराण के अनुसार, *भग* का अर्थ है ये छह सम्पत्ति — पूर्ण प्रभुत्व, वीर्य, यश, वैभव, वैराग्य और मोक्ष।[49] विष्णु-पुराण यह भी कहता है, "*वह भगवान कहलाता है जो उत्पत्ति और प्रलय को, भूतों के आगमन तथा निर्गमन को, और ज्ञान एवं अज्ञान को जानता है।*"[50]

प्रभु दिखाते हैं कि कैसे इच्छा हमारी शत्रु है। वे तीन उदाहरण देते हैं जो इच्छा द्वारा ज्ञान के आवरण में श्रेणियों को समझाते हैं। वे कहते हैं, "*जैसे धुएँ से आग आवृत होती है, गन्दगी से दर्पण ढका जाता है और गर्भ से भ्रूण*

आच्छादित रहता है — वैसे ही काम से ज्ञान ढका रहता है। हे कुन्तीपुत्र, बुद्धिमान की निरन्तर शत्रु इस इच्छा से — जो लालची है और तृप्त नहीं होनेवाली है — लोगों का ज्ञान आच्छादित रहता है।"[51] धुएँ से ढकी आग जल सकती है। गन्दा दर्पण स्वच्छ किए जाने तक स्पष्ट प्रतिबिम्ब उत्पन्न करने में असमर्थ होता है। भ्रूण तो पूरी तरह से अदृश्य और सीमित रहता है।

परिणाम भुगतने से पूर्व ही बुद्धिमान व्यक्ति जानता है कि वह तृष्णा से दोषपूर्ण रास्ते पर लिया जा रहा है। इसलिए, वह दुःख अनुभव करता है। अतः, तृष्णा बुद्धिमान की शत्रु है। दूसरी ओर, विषयों को तरसते समय, अज्ञानी इच्छा को अपना मित्र मानता है। नासमझ व्यक्ति परिणाम भुगतने के समय ही समझ पाता है कि इच्छा ने उसे दुःखी बनाया है, लेकिन उससे पहले नहीं। इच्छा सदैव अतृप्त और लालची होती है। कहा जाता है, *"कभी भी भोग से लालसा तृप्त नहीं होती, जैसे कि घी डालने से आग नहीं बुझती।"*[52]

इसके बाद, भगवान बताते हैं कि यह शत्रु कहाँ रहती है, ताकि शत्रु को मारना आसान हो। वे कहते हैं, *"इन्द्रियों, मन और बुद्धि को इसका आसन कहा गया है। इनके द्वारा ज्ञान को छिपाकर, यह देही आत्मा को मोहित करती है।"*[53] इच्छा पर विजय कैसे प्राप्त की जा सकती है? प्रभु कहते हैं, *"इसलिए, हे भरतवंश के श्रेष्ठ, पहले इन्द्रियों को वश में करके, इस पापी वस्तु को हटा दो, जो ज्ञान का प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष विनाशक है।"*[54]

भगवद्गीता के दूसरे अध्याय में ही, भगवान ने संकेत दिया था कि इन्द्रियाँ हानिकारक हैं, क्योंकि वे एक उद्यमशील बुद्धिमान व्यक्ति के मन को भी बलात् दूर ले जाती हैं।[55] इसलिए तृष्णा पर विजय पाने के लिए, यह अवश्य है कि इन्द्रियों पर लगाम लगाई जाए। केवल इतना ही पर्याप्त नहीं। अन्ततोगत्वा, मन और बुद्धि भी इच्छा के स्थान हैं। इसलिए, प्रभु के अनुसार, किसी को बुद्धि से परे उस आत्मा को जानना चाहिए, शुद्ध मन से आध्यात्मिक लवलीनता प्राप्त करनी चाहिए और इस प्रकार, इच्छा का वध करना है।[56] जब कोई जानता है कि वह शरीर-मन का सङ्घात नहीं है, प्रत्युत वह आत्मा है जो अपरिवर्तनशील है और शुद्ध ज्ञान स्वरूपी है, तो वह किसी भी दृश्यमान वस्तु की इच्छा करना बन्द कर देता है।

बृहदारण्यक-उपनिषद् में कहा गया है, *"इच्छुक मनुष्य पुनर्जन्म लेता है। लेकिन, जो इच्छा नहीं रखता, उसका पुनर्जन्म कभी नहीं होता। जो इच्छाओं के बिना रहता है, जो इच्छाओं से मुक्त है, जिन की इच्छावस्तुएँ प्राप्त हो गई हैं और जिसके लिए इच्छा की सभी वस्तुएँ केवल आत्मा ही हैं — ऐसे व्यक्ति के (वाक् इत्यादि) करण (उसकी मृत्यु पर) नहीं निकलते (किसी अन्य शरीर में चले जाते) हैं। ब्रह्म ही होते हुए, वह ब्रह्म में विलीन हो जाता है।"*[57]

बृहदारण्यक-उपनिषद् के इस मन्त्र में यह विवरण है कि इच्छाओं के बिना रहने की स्थिति कैसे प्राप्त होती है। जब कोई जान जाता है कि केवल आत्मा ही विद्यमान है और इसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, तो वह इच्छा के सभी विषयों को प्राप्त कर लेता है। अन्ततोगत्वा, उसके लिए आत्मा के अतिरिक्त — जो स्वयं है — इच्छा की कोई वस्तु रहती ही नहीं। चूँकि उसे इच्छा की सभी वस्तुएँ प्राप्त हो गई हैं, इच्छाएँ उसे छोड़ देती हैं। सामान्यतः, एक इच्छा की तृप्ति उस इच्छा को केवल अस्थायी रूप से शान्त कर देती है; लालसा फ़िर से उठती है, बल के साथ। लेकिन, आत्मज्ञानी के सम्बन्ध में इच्छा की पूर्ति निरन्तर होती है। इस प्रकार, यह कहना उचित होगा कि इच्छाएँ उसका साथ छोड़ देती हैं। चूँकि इच्छाओं ने छोड़ दिया है, वह इच्छा-रहित है।

आत्मा साक्षात्कार प्राप्त करने से ही इच्छा की समस्या का पूर्ण समाधान हो सकता है। अन्यथा, तृष्णा को दबाकर रोका जा सकता है, लेकिन उसका बीज बना रहता है। यही कारण है कि भगवान ने आत्म-संस्थिति को आशा का उन्मूलन करने का मार्ग बताया है। इन्द्रियों का संयम इस लक्ष्य की ओर एक महत्त्वपूर्ण कदम है।

3.9 तीन अशुद्ध वासनाएँ

ब्रह्म साक्षात्कार के लिए गम्भीरता से प्रयास करने वाले व्यक्ति के लिए, केवल काम, क्रोध और लोभ को ही नहीं, किन्तु और तीन प्रकार के अशुद्ध

वासनाओं को, यानी मानसिक प्रवृत्तियों को, मिटा देना महत्त्वपूर्ण है। वासनाओं के इस त्रय के अन्तर्गत हैं — लोक-वासना, यानी संसार से जुडा हुआ मानसिक छाप, शास्त्र-वासना, जोकि शास्त्र से सम्बन्धित मानसिक प्रवृत्ति, और देह-वासना, माने शरीर सम्बन्धी छुपे हुए मानसिक संस्करण। ये वासनाएँ तत्त्व साक्षात्कार की जागृति को रोकती हैं। मुक्तिका-उपनिषद् में इस प्रकार घोषित किया गया है — *"लोक-वसना, शास्त्र-वासना और देह-वसाना जिस व्यक्ति में हैं, उसमें सच्चा ज्ञान कभी भी उद्भूत नहीं होता।"*[58]

वासनाएँ मानसिक बीज हैं जिनके कारण, इच्छा जैसी भावनाएँ, बिना किसी भी पूर्वभावी सोच-विचार के, शीघ्र ही उत्पन्न हो जाती हैं। एक बैल द्वारा पीछा किया गया दुर्भाग्यशाली एक लड़का, किसी अन्य समय पर किसी और बैल से पीछा किए जाने पर, एकाएक भय अनुभव करता है। पहले अनुभव से उत्पन्न वासना दूसरे बैल को देखने पर सक्रिय हो जाती है और लड़के के मन को भय भीत करती है। वर्तमान और पिछले जन्म के विचारों और अनुभवों से प्रत्यारोपित और पोषित अनगिनत वासनाएँ मन में रहती हैं। अच्छी वासनाएँ आध्यात्मिक प्रगति में सहायक होती हैं, जबकि बुरी वासनाएँ इसके प्रति विरोधी हैं। एक बुरी वासना की अपनी विपरीत वासना को परिश्रमपूर्वक फैलाने से उसे शक्तिहीन बनाया जा सकता है। इसलिए, एक आध्यात्मिक आकांक्षी को उचित शुद्ध वासनाओं को विकसित करके, अशुद्ध वासनाओं को निष्प्रभावी करना होगा।

लोक-वासना एक ऐसी मनोग्रस्ति से सम्बन्धित है — "मैं सदैव ऐसा व्यवहार करूंगा कि लोग मेरी निन्दा नहीं करें, और इसके बदले, मेरी प्रशंसा करें।" यह वासना आध्यात्मिक आकांक्षी के लिए एक अवरोध है, क्योंकि वह जो माँगता है सो प्राप्त नहीं किया जा सकता। कुछ ऐसे व्यक्ति कम से कम सदैव होंगे जो हमें या हमारे द्वारा किए गए कार्य को अस्वीकार करते हैं।

सीता जी पवित्रता की प्रतिमान थीं। उन्होंने अपनी पवित्रता की पुष्टि करने के लिए, अग्नि-परीक्षा भी ली। फ़िर भी, अयोध्यावासियों ने सीता जी पर कलंक लगाया और भगवान श्रीराम की भी निन्दा करते हुए कहा कि लंका में सीता को स्वीकार करने में, वे काम से प्रभावित हुए थे। जब श्रीराम और

सीता जी जैसे अकलंकित देवताओं का भाग्य ऐसा रहा, तो दूसरों के भाग्य के बारे में क्या कहा जाना चाहिए? इसलिए, यह कहा गया है - *"ऐसा कोई भी साधन उपलब्ध नहीं है, जिससे सभी लोगों को सन्तुष्ट किया जा सके। इसलिए मनुष्य को सदैव वही करना चाहिए जो अपने लिए सही हो।"*[59] मोक्ष बोधक ग्रन्थ आध्यात्मिक आकांक्षी को परामर्श देते हैं कि वह प्रशंसा और निन्दा के साथ एक समान व्यवहार करे; लोक-वासना से प्रेरित प्रयास करने की निरर्थकता को समझते हुए, अपने आप को लोक-वासना से छुटकारा प्राप्त करना चाहिए।

लोक-वासना के उन्मूलन के बारे में कुछ बिन्दुओं पर ध्यान देने की आवश्यकता है। इसका अर्थ यह नहीं कि मुमुक्षु दूसरों के अभिप्राय की ओर ध्यान न देते हुए, उसका तिरस्कार कर देता है। वह निश्चित रूप से आत्म-सुधार के लिए, दूसरों की टिप्पणियों का उपयोग कर सकता है; वह उसे त्याग कर देता है जिसके निमित्त वह क्रमशः प्रशंसा किए जाने और नीचा दिखाए जाने पर, हर्षित और विषादित होता है। अन्य आध्यात्मिक विषयों के सन्दर्भ में, लोक-वासना पर विजय प्राप्ति का प्रयास किया जाना चाहिए। उदाहरणार्थ, मुख्यतः अपने घर पर अच्छा नाम कमाने की इच्छा के कारण, बुरे संगत से अपने आप को बचा कर रखने वाले एक लड़के को, ऐसी लोक-वासना को, बिना अन्य उचित कदम उठाए, बिना सोचे रोकना लाभदायक नहीं होता। इसके अतिरिक्त, अपनी बागी की छवि को बनाए रखने का यत्न करने वाला, जो दूसरों की बातों पर ध्यान नहीं देता, वह भी लोक-वासना की चपेट में रहता है; उस छवि का संरक्षण उसके लिए आवश्यक है।

शास्त्र-वासना तीन प्रकार की होती है — अध्ययन के प्रति धुन, कई विषयों के साथ पूर्वव्यस्तता और शास्त्रों में निर्दिष्ट आदेश के पालन के सम्बन्ध में नकचढ़ा व्यसन। तैत्तिरीय-ब्राह्मण में एक कथा है, जिससे पहले प्रकार की शास्त्र-वासना को निर्देशित किया जा सकता है।[60] वेद कहते हैं कि भरद्वाज सतत तीन जन्मों में वेदों का अध्ययन गम्भीरता से करता रहा। अपने चौथे जन्म में भी उसने अपने उस प्रयास को बनाए रखना चाहा। उस पर दया करते हुए, इन्द्र ने सभी वेदों का अध्ययन करने की असम्भवता को समझाया

और फ़िर भरद्वाज को सगुण-ब्रह्म के बारे में सिखाया। यद्यपि भरद्वाज का वेदों का अध्ययन त्रुटियुक्त नहीं था, तथापि सारे वेदों में पारङ्गत बनने की उसके व्यसन में समस्या थी। ऐसी शास्त्र-वासना से छुटकारा पाने के लिए, आध्यात्मिक आकांक्षी को स्वयं को समझाना चाहिए कि किसी विषय को उसकी समग्रता से जानना असम्भव है।

कई विषयों के अध्ययन की लत भी बुरी है। कावशेय-गीता में वर्णित दूर्वासा मुनि की कहानी प्रासंगिक है। कहा जाता है कि दूर्वासा मुनि अपने सम्मान समर्पित करने के लिए, एक बार भगवान शिव जी की सभा में उपस्थित हुए। वे एक गाड़ी भर ग्रन्थों के साथ पहुँचे। नारद जी ने कमर पर एक बड़े बोझ से दबे गधे से उनकी तुलना करके उनका परिहास किया। दूर्वासा मुनि अपने व्यसन से चिढ़कर, उससे मुक्त हो गए और अपने ग्रन्थ समुद्र में फेंक दिए। तत्पश्चात्, शिव जी ने उन्हें आत्मतत्त्व का उपदेश दिया। यह समझना चाहिए कि विभिन्न विषयों के ग्रन्थों में व्यस्त रहने से ब्रह्म को नहीं जाना जा सकता। इस प्रकार, कठोपनिषद् घोषित करता है, *"बहुत अध्ययन करने से या ग्रन्थों के अर्थ को समझने के बल से या केवल बहुत कुछ सुनने से, यह आत्मतत्त्व प्राप्त नहीं किया जा सकता।"*[61] इसी तरह, छान्दोग्य-उपनिषद् में हम देखते हैं कि कई प्रकार के विषयों में महारत प्राप्त करने पर भी, नारद दुःख से मुक्त नहीं थे, क्योंकि उन्होंने आत्मा का साक्षात्कार नहीं पाया था। दुःख को मिटानेवाले उस ज्ञान को प्राप्त करने के लिए, वे एक शिष्य के रूप में सनत्कुमार जी के पास आ पहुँचे।[62] कहा गया है — *"पवित्र ग्रन्थों की चर्चा के गन्दे चिथड़े को निरर्थक चबाने से क्या लाभ है? बुद्धिमानों को हर तरह से अपने आन्तरिक चैतन्य की ज्योति को खोजना चाहिए।"*[63]

शास्त्र विहित कर्मों का निष्ठापूर्वक अनुष्ठान उस व्यक्ति के लिए आवश्यक है, जो उनका अनुष्ठान त्यागने के स्तर तक आगे नहीं बढ़ा हुआ हो। हालाँकि, धार्मिक अनुष्ठानों के सम्बन्ध में अनुचित नकचढ़ापन — जो तीसरे प्रकार के शास्त्र-वासना का लक्षण है — एक अड़चन है। योग-वासिष्ठ में दासुर की कहानी है जो यहाँ प्रासंगिक है। अपने तीव्र नकचढ़ेपन के कारण,

दासुर सारे संसार में अपने धार्मिक अनुष्ठान करने के लिए, पर्याप्त रूप से शुद्ध एक भी स्थल को नहीं चुन पाया था।[64]

श्री विद्यारण्य जी ने अपने जीवन्मुक्ति-विवेक में वासनाओं के नाश के बारे में विस्तार से बताया है। वे बताते हैं कि शास्त्र-वासना से विद्या का गर्व बढ़ाया जाता है और कुछ अपमान कभी न कभी, कहीं न कहीं होती ही है। शास्त्र-वासना की अपेक्षाओं को पूरा करने की असम्भावना के अतिरिक्त, शास्त्र-वासना को अशुद्ध बताने का यह एक कारण है।

अन्त में, हम देह-वासना पर आते हैं। यह तीन प्रकार की होती है, जिन में से निकृष्टतम प्रभेद आत्मा को शरीर मानना है। ऐसी पहचान त्रुटिपूर्ण है, क्योंकि यह विचार शास्त्र द्वारा विरोध किया गया है और यह दुःख का कारण है। दुर्भाग्य की बात है कि यह लगभग सब कहीं प्रचलित है। जड़ से उखाड़ना कठिन होने के नाते, "आत्मा शरीर से अलग है" — इस सही धारणा को विकसित करके, इसे सावधानी से उद्यमपूर्वक निपटना चाहिए।

दूसरे प्रकार की देह-वासना शारीरिक शोभा को प्राप्त करने की आकांक्षा से लक्षित किया जाता है। इस तरह की वासना से प्रेरित होकर, उदाहरणार्थ, लोग सौन्दर्य प्रसाधनों के उपयोग से स्वयं को सुशोभित करने और गंगा जी जैसी नदियों में स्नान करके, स्वयं को शुद्ध करने का कष्ट उठाते हैं।

स्वच्छता प्रशंसनीय है और इसे उन आठ महान गुणों में सूचीबद्ध किया गया है, जिन्हें सभी को अपनाना चाहिए। योगशास्त्र में इसे ध्यान के सहायक के रूप में वर्णित किया गया है।[65] समस्या तो यह है कि ऐसा त्रुटिपूर्ण विश्वास रखना कि शरीर वास्तव में और सर्वदा शोभित या शुद्ध बनाया जा सकता है; यह जो असम्भव है, उसको पूरा करने के प्रयास की ओर ले जाता है।

उदाहरणार्थ, आकर्षण और सुगन्ध सौन्दर्य के प्रसाधनों के होते हैं, शरीर के नहीं, जो वसा, माँस, हड्डियों आदि का एक संयोजन है। शरीर को एक सुन्दर पोशाक नहीं बदलता। स्वर को मधुर बनाने के लिए, काली मिर्च का सेवन न तो निश्चित रूप से प्रभावी है, न तो वह प्रभाव अटूट है। नहाने से शरीर बाहर से स्वच्छ हो जाता है, लेकिन केवल कुछ समय के लिए। जहाँ तक पवित्रता

प्राप्त करने के लिए गंगा जी में स्नान जैसे शास्त्रोपदिष्ट उपायों की बात है, तो इस विचार को ध्यान में रखना चाहिए कि शास्त्र में ऐसे प्रबल वचन उपलब्ध हैं जो बताते हैं कि शरीर सदैव अशुद्ध है।

देह-वासना का तीसरा रूप तो दूसरे प्रकार से जुड़ा है; शरीर को दोषों से मुक्त करने के सतत प्रयास में बने रहना इसका लक्षण है। अस्वस्थता को मिटाने का प्रयास इसके अन्तर्गत है। समस्या यह है कि अस्वस्थता को सदैव दूर नहीं रखा जा सकता और न ही हर एक रोग को ठीक किया जा सकता।

शरीर के बारे में शास्त्र जोर देकर कहते हैं कि वह स्वभावतः अशुद्ध वस्तुओं का कोष है। इस प्रकार, मैत्री-उपनिषद् में उपलब्ध है — "*हे प्रभु, यह शरीर दुर्गन्धि व तुच्छ है और त्वचा, हड्डियों, स्नायु, मज्जा, माँस, रक्त, वीर्य, बलगम, आँसू, कफ़, मूत्र, मल, पित्त और श्लेष्मा का एक संयुक्त पिण्ड है। इसमें अपनी इच्छाओं को पूरा करने का क्या अर्थ है?* "[66]

यहाँ पर इस बात पर जोर देना आवश्यक है कि आध्यात्मिक आकांक्षी को स्वच्छ रहना चाहिए और स्वास्थ्य के प्रति असावधानी नहीं बरतनी चाहिए। एक अस्वस्थ एवं गन्दा शरीर आध्यात्मिक साधना के अभ्यास के लिए अनुकूल नहीं रहता। हालाँकि, उस आकांक्षी को आकर्षक दिखने की अपनी लालसा से छुटकारा पाना चाहिए और स्वास्थ्य तथा शारीरिक दोषों के बारे में मुक्ति से व्यस्तता छोड़ देनी चाहिए।

यह उल्लेखनीय है कि योग-सूत्रों में यह निर्दिष्ट है कि शुचित्व में प्रतिष्ठित व्यक्ति, शरीर के प्रति वैराग्य को विकसित करता है।[67] सामान्यतः, जो नियमित रूप से नहाता है, वह सूखे पसीने की दुर्गन्ध इत्यादि को पहचानता है, जबकि स्वभावतः गन्दा व्यक्ति द्वारा ऐसा करना प्रायः असम्भव है। इस प्रकार, शरीर की सहजात अशुद्धता को पहचानने के लिए, स्वच्छ व्यक्ति ही अधिकतर सुसज्जित होता है।

3.10 ईश्वर, जगत् का कारण

हमें दो प्रकार के कारण देखने को मिलते हैं — उपादान-कारण और निमित्त-कारण। जिस मूल सामग्री से एक उत्पाद बनता है, वह उसका उपादान-कारण होता है; दूसरा तो केवल उस वस्तु को बनाने में सहायक होता है। उदाहरणार्थ, एक मटकी का उपादान-कारण मिट्टी है, जबकि इसका निमित्त-कारण कुम्हार है। हम विश्व को देखते हैं और इसके सम्बन्ध में यह प्रश्न उठता है कि इसका उपादान-कारण क्या है। ईश्वर वह उपादान-कारण हैं या नहीं? बादरायण जी ने ब्रह्मसूत्रों में इस विषय पर विचार किया है। वेदान्त का सिद्धान्त है कि ब्रह्म न केवल ब्रह्माण्ड का निमित्त-कारण है, किन्तु उपादान-कारण भी है।

इस पर कुछ आपत्तियां उठाई गई हैं। उपनिषदों में ऐसे तात्पर्यवाले वक्तव्य हैं कि ईश्वर ने जगत् की सृष्टि करने से पहले विचार किया। कुम्हार एक मटके के बारे में सोचता है और फ़िर उसे बनाने के लिए आगे बढ़ता है। ईश्वर ने भी सोच-विचार किया और फ़िर विश्व का निर्माण किया। इस प्रकार, कुम्हार के समान होने के नाते, ईश्वर को जगत् का केवल निमित्त-कारण माना जाना चाहिए। विश्व में हमें किसी भी उपादान-कारण का ऐसा उदाहरण नहीं मिलता है, जो विचार करने के बाद किसी वस्तु का उत्पादन किया हो।

और एक तर्क यह है कि शास्त्र भगवान को सारे संसार का प्रभु घोषित करते हैं। राजाओं जैसे प्रभुओं के सम्बन्ध में, केवल निमित्त-कारणता देखी जाती है, उपादान-कारणता नहीं। वास्तव में, कोई भी राजा ऐसी उत्पादन सामग्री के रूप में नहीं रहा, जिससे महल या मार्ग निर्मित हुआ है।

एक और कारण यह है कि विश्व में कई कमियाँ हैं। यदि किसी कार्य में दाग है, तो उसके उपादान-कारण में भी अशुद्धता होनी चाहिए। तो ईश्वर ब्रह्माण्ड का उपादान-कारण हो, तो वे दोषों से मुक्त नहीं होंगे। न केवल यह प्रस्ताव कि ईश्वर का कलंकयुक्त होना नीरस है, किन्तु शास्त्र द्वारा खण्डित भी। उदाहरणार्थ, श्वेताश्वतर-उपनिषद् में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि परब्रह्म अविकारी और निरंजन है।[68] इसलिए, ईश्वर के जगत् के उपादान-कारण होने की पुष्टि नहीं की जा सकती है।

उपर्युक्त जैसे तर्कों के आधार पर, यह कहा गया है कि ईश्वर विश्व का केवल निमित्त-कारण हैं, उपादान-कारण नहीं। उपनिषदों के यथार्थ अभिप्राय को घोषित करते हुए, बादरायण जी ने कहा हैं, "*ब्रह्म को उपादान-कारण भी होना चाहिए, ताकि प्रस्ताव और दृष्टान्त का विरोध न हो।*"[69] अब इस ब्रह्म-सूत्र पर और विचार करेंगे।

छान्दोग्य-उपनिषद् में हम ऋषि उद्दालक अरुणी के बारे में पढ़ते हैं जो अपने पुत्र श्वेतकेतु से पूछते हैं, "*क्या तुमने उस उपदेश के बारे में पूछा, जिसके द्वारा अश्रुत सुना हुआ हो जाता है, न मनन किया हुआ मनन किया हुआ हो जो जाता है और अविदित ज्ञात हो जाता है?*"[70] किसी वस्तु के निमित्त-कारण को जानने मात्र से, वह वस्तु विदित नहीं होता। दूसरी ओर, चूँकि किसी कार्य का इसके उपादान-कारण के अतिरिक्त कोई अस्तित्व नहीं है, इसलिए उपादान-कारण के ज्ञान से कार्य ज्ञात हो जाता है। तो उद्दालक का प्रस्ताव जगत् के उपादान-कारण से सम्बन्धित है। जैसे कि उपनिषद् गहराई से बताता है कि ब्रह्म को जानने से सब कुछ ज्ञात हो जाता है, ब्रह्म को उपादान-कारण होना ही चाहिए। अन्यथा, प्रस्ताव का विरोध हो जाएगा।

अन्य उपनिषदों में भी हम इसके समान मूल आधार पाते हैं। तदनुसार, बृहदारण्यक-उपनिषद् में याज्ञवल्क्य जी का प्रस्ताव है, "*मेरे प्रिय, आत्मा का श्रवण, मनन और निदिध्यासन करने से यह सब जाना जाता है।*"[71] मुण्डक-उपनिषद् में, छात्र शौनक अपने गुरु अङ्गिरस से पूछता है, "*वह क्या है, जिसे जानने पर यह सब कुछ ज्ञात हो जाता है?*"[72] इन सभी विचारों में, मूलभूत प्रतिज्ञा बाधित हो जाएगी यदि ईश्वर केवल निमित्त-कारण हों।

छान्दोग्य-उपनिषद् की ओर लौटते हुए, हम पाते हैं कि उद्दालक कई दृष्टान्त देते हैं जो स्पष्ट रूप से उपादान-कारण का उल्लेख करते हैं। उदाहरणार्थ, वे कहते हैं, "*मिट्टी के एक ढेले को जानने से, मिट्टी से बनी सभी वस्तुएँ ज्ञात हो जाती हैं। सारे विकार का आधार वाक है; वह नाम मात्र है। यह (मिट्टी का विकार) केवल मिट्टी के रूप में ही सच है।*"[73] जब मिट्टी को जाना जाता है, तो मिट्टी के सभी उत्पादों, जैसे कि घट, को ज्ञात माना जा सकता है, क्योंकि घट का मिट्टी के अतिरिक्त कोई अस्तित्व नहीं है और मूल रूप से वह एक

नाम है, जो मिट्टी के एक विशेष आकार को दिया जाता है। उद्दालक का एक और दृष्टान्त है, *"सोने के टुकड़े को जानने से, सोने से बनी सभी वस्तुएँ ज्ञात हो जाती हैं।"*[74] ऐसे सारे दृष्टान्त अनुचित होंगे, ब्रह्म केवल निमित्त-कारण हो तो।

इस प्रकार, प्रस्तुत ब्रह्म-सूत्र बताता है कि ब्रह्म विश्व का उपादान-कारण नहीं होता तो शास्त्र की प्रतिज्ञा और दृष्टान्त बाधित हो जाते। सूत्र "उपादान-कारण भी" शब्दों से निर्दिष्ट करता है कि ब्रह्म निमित्त-कारण भी है। वास्तव में, यदि ईश्वर के अतिरिक्त जगत् का कोई अन्य निर्माता होता, तो ब्रह्म के ज्ञान से ही सब कुछ ज्ञात होना असम्भव होता; और वैसे तो प्रतिज्ञा एवं दृष्टान्त सूक्त नहीं होते। इसके अतिरिक्त, छान्दोग्य-उपनिषद् स्पष्ट रूप से घोषित करता है कि जगत् के प्रकट होने से पहले, केवल परब्रह्म था, एक ही बिना दूसरे के; ब्रह्म के विचार-विमर्श के बाद, सृष्टि की भी बात की गई है।[75] इस प्रकार, ब्रह्म निमित्त-कारण भी है।

इससे पूर्व एक आपत्ति प्रस्तुत की गई थी कि संसार में कहीं भी हमें ऐसा उपादान-कारण नहीं मिलता जो विचार करता हो व उत्पाद बनाता हो। यह विश्व के कारण के सम्बन्ध में उचित नहीं है, जिसे केवल वेदों से जाना जा सकता है। उपनिषदों से यह भी समझा जा सकता है कि विश्व बनने के लिए, ब्रह्म वस्तुतः परिवर्तित नहीं होता है। प्रत्युत, पूर्ण बने रहते हुए, माया के कारण, विश्व के रूप में प्रकट होता है, जैसे मन्द प्रकाश में ठीक से नहीं दिखाई देने वाली रस्सी, साँप या भूमि के छिद्र के रूप में दिखाई देती है।

3.11 ईश्वर न तो पक्षपाती है, न ही क्रूर

विश्व में बहुत कुछ ऊँचनीच है। कहा जाता है कि देवताओं को स्वर्ग में बहुत आनन्द मिलता है और वे वैसी शक्तियों से सम्पन्न होते हैं जो मनुष्य नहीं। मनुष्य एक मध्यमवर्गीय प्राणी है जबकि सृष्टि में मनुष्य से पशु निम्नतर हैं।

ऊँचनीच के तथ्य के अतिरिक्त, बहुत पीड़ा भी है। सभी पशु और मनुष्य मृत्यु के अधीन हैं और स्वर्ग के निवासियों को, अपने पुण्य के भण्डार के समापन पर — जिसके कारण ही उन्हें स्वर्ग निवास प्राप्त हुआ — मनुष्य लोक में लौटना पड़ता है। यहाँ तक कि छोटे, मासूम शिशुओं को भी कभी-कभी बड़ी पीड़ा अनुभव करते देखा जाता है। रोग, दुर्बलता, इत्यादि का व्यापक रूप से सामना किया जाता है, जिनका परिणाम दुःख होता है।

वेदान्त सिद्धान्त के अनुसार, ब्रह्म जगत् का उपादान- और निमित्त-कारण है। तदनुसार, बड़ी मात्रा में ऊँचनीच और कष्टों से जुड़े इस संसार के निर्माता ईश्वर ही होने चाहिए। ऊँचनीच का विधान करने के नाते, क्या ऐसे भगवान पक्षपाती नहीं होंगे? और तो और, गहरा दुःख पैदा करनेवाले होने के कारण, क्या ईश्वर क्रूर नहीं होंगे? निश्चित रूप से, एक पक्षपाती और क्रूर ईश्वर कोई भी सच्चा ईश्वर नहीं है। ईश्वर को विश्व का निमित्त-कारण मानने के प्रस्ताव से यह निष्कर्ष निकलता है। यह निष्कर्ष सर्वथा अस्वीकार्य होने के कारण, भगवान संसार के रचयिता नहीं हो सकते। यह ब्रह्म-सूत्र में बादरायण जी द्वारा प्रस्तुत किए गए और खण्डित किए गए आपत्तियों में से एक है।

महर्षि बादरायण एक सूत्र में कहते हैं, *"ईश्वर में पक्षपात और क्रौर्य नहीं हैं, क्योंकि वे अन्य कारकों को अपने परिगणन में लेते हैं, चूँकि वेद वैसे दिखाते हैं।"*[76] यदि ईश्वर ने इस संसार की सृष्टि मनमाने ढंग से की होती, बिना किसी कारक को ध्यान में रखे, तो वे पक्षपात और क्रूरता के आरोपों का लक्ष्य बन सकते। हालाँकि, ईश्वर निर्दोष हैं क्योंकि यह असमान सृष्टि विभिन्न प्राणियों के पुण्य और पाप के अनुरूप उनके द्वारा लाई गई है। ईश्वर वर्षा की तरह हैं। धान और जौ जैसे विभिन्न प्रकार के फसलों की उगाई का सामान्य कारण वर्षा है। हालाँकि, बीजों में असमानता के कारण फसलों के बीच अन्तर होता है। वर्षा तो इसका कारण नहीं होती, जो धान से अलग जौ के बीज को अंकुरित करती है। वर्षा की तरह, ईश्वर देवताओं, मनुष्यों आदि के जन्म का साधारण कारण हैं। लेकिन देवता द्वारा अपने पिछले जन्म में अर्जित अधिक पुण्य के फलस्वरूप, उन्हें देवता जन्म प्राप्त होता है; मानव जन्म उस जीव के पूर्व कृत पुण्य और पाप के मिश्रण से होता है।

यह कैसे जाना सकता है कि ईश्वर जन्तुओं के पुण्य और पाप के अनुसार सृष्टि करते हैं? सूत्रकार बताते हैं, "*चूँकि, वेद वैसे दिखाते हैं।*"[76] उदाहरणार्थ, बृहदारण्यक-उपनिषद् सिखाता है, "*अच्छे कर्मों से वह (जीव) पुण्यशील बन जाता है और बुरे कार्यों से नीच हो जाता है।*"[77] भगवद्गीता में भगवान अर्जुन से कहते हैं, "*जिस प्रकार लोग मेरी पूजा करते हैं, उसी प्रकार मैं उनकी इच्छाओं को पूरा करता हूँ।*"[78]

सूत्रकार आगे एक और आपत्ति प्रस्तुत करके उसका समाधान देते हैं। "*अगर यह तर्क दिया जाए, 'सृष्टि से पहले, कर्म में किसी भी प्रकार के अन्तर न होने के कारण, यह सम्भव नहीं है,' तो हम उत्तर देते हैं, 'नहीं,' चूँकि संसरण का कोई आरम्भ नहीं है।*"[79] आपत्ति इस प्रकार है — विश्व के सर्वप्रथम सृष्टि से पहले, कुछ भी कर्म, अच्छा हो या बुरा, हो ही नहीं सकता, जिसके अनुसार ईश्वर असमानता और दुःख का संसार बना पाते। छान्दोग्य-उपनिषद् कहता है, "*प्रारम्भ में, हे सौम्य, यह सब सत् (सत्य) ही था, केवल एक, बिना द्वैत के,*"[80] और इस तरह, विविधता का निराकरण करता है। इसलिए, यदि ईश्वर ब्रह्माण्ड के निर्माता हों, तो उन्हें सृष्टि के आदि में असमानताओं का उत्तरदायी होना चाहिए। अधिक से अधिक, इसके बाद ही वे जन्तुओं के अच्छे और बुरे कर्मों के अनुसार, उन्हें पुरस्कृत या दण्डित करने की अपनी कार्यप्रणाली पर निर्भर कर सकते हैं। इस प्रकार, ऊँचनीच और पीड़ा को सृष्टि के आदि में ही निहित करने के कारण, ईश्वर को पक्षपात और क्रूरता के दोषी मानना चाहिए।

वेदान्ती इस आक्षेप का उत्तर यह कहते हुए देता है कि कथित समस्या नहीं उठती है, चूँकि संसरण का कोई आदि नहीं है। सर्वप्रथम प्रारम्भिक बिन्दु जैसा कुछ भी नहीं है। सृष्टि के प्रत्येक चक्र से पहले एक और चक्र होता है, जो प्राणियों के पुण्य और पापों में अपेक्षित असमानता प्रदान करता है।

यह कैसे जाना जाता है कि संसरण का कोई आरम्भ नहीं है? बादरायण जी उत्तर देते हैं, "*यह तर्कसंगत है और यह शास्त्रों में प्राप्त है।*"[81] मान लीजिए कि अपने असमान जन्तुओं वाले विश्व का एक सर्वप्रथम प्रारम्भिक बिन्दु था। उसका उद्भव तब अवश्य आकस्मिक रहा होगा। ईश्वर असमानता के

लिए उत्तरदायी नहीं हो सकते थे। ऐसा इसलिए है क्योंकि जैसा कि पहले देखा गया है, वे प्राणियों के पिछले कर्मों के आधार पर कार्य करते हैं और प्राणियों सहित ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति से पहले कोई कर्म नहीं हो सकता था। अविद्या भी असमानता का कारण नहीं बन सकती थी, क्योंकि पिछले कर्मों की भागीदारी के बिना, वह वास्तव में एकरस है। तो, एक परम प्रारम्भिक बिन्दु वाला ब्रह्माण्ड केवल अकस्मात् ही अस्तित्व में आ सकता था।

यदि घटनाएँ आकस्मिक हो सकतीं, तो प्राणियों का सुख या दुःख, बिना किसी सूज बूझ के भी हो सकता है। एक किसी व्यक्ति के अच्छे कर्म सुख दिए बिना और उसके बुरे कर्म दुःख प्रदान किए बिना ओझल हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त, यदि आकस्मिक घटनाएँ सम्भव हैं, तो मुक्त आत्माओं के आकस्मिक पुनर्जन्म को रोकने के लिए कुछ भी नहीं है। ये सब अस्वीकार्य और विसंगत हैं। दूसरी ओर, सब कुछ ठीक बैठता है अगर संसरण का कोई आदि नहीं हो। सृष्टि के प्रत्येक चक्र के आरम्भ से पहले और बाद की स्थिति के बीच का सम्बन्ध, बीज और अंकुर के समान हो सकता है।

शास्त्र भी संसरण को सर्वप्रथम सृष्टि-रहित घोषित करते हैं। उदाहरणार्थ, ऋग्वेद सिखाता है, "*भगवान ने सूर्य और चन्द्रमा को यथापूर्व आयोजित किया।*"[82] भगवद्गीता में कहा गया है, "*इसका (संसार का) रूप वैसा तो यहाँ न पाया जाता है, न तो इसके अन्त, न ही इसकी उत्पत्ति और न इसकी अवस्थिति।*"[83] पुराणों की शिक्षा भी है कि अतीत और भावी सृष्टि के चक्र संख्या से परे हैं।

निष्कर्ष यह है कि ईश्वर पक्षपात या क्रूरता का दोषी नहीं हैं क्योंकि वे हर एक प्राणी के अपने अपने पूर्व पुण्य और पाप के अनुसार सृष्टि करते हैं। ऐसी कोई सर्वप्रथम सृष्टि नहीं है जिसके पहले ईश्वर को अपने ध्यान में रखने के लिए, पुण्य और पाप नहीं हों। इस प्रकार, वेदान्त का निष्कर्ष — ब्रह्म सारे ब्रह्माण्ड का उपादान-कारण और निमित्त-कारण है — निर्दोष है।

3.12 ब्रह्म का जगत् के रूप में पूर्ण परिवर्तन नहीं

अपने ब्रह्म-सूत्रों में, महर्षि बादरायण ने इस वेदान्त सिद्धान्त पर — ब्रह्म विश्व का उपादान- और निमित्त-कारण है — कई आक्षेपों को प्रस्तुत किया है और उनका खण्डन भी किया है। ऐसी एक आपत्ति को बादरायण जी ने संक्षेप में कहा है — "*(ब्रह्म का) समग्र परिवर्तन (होने) की अथवा (ब्रह्म) के बारे में उपनिषदों की उक्तियों का उल्लंघन (होने) की सम्भावना उत्पन्न होगी।*"[84]

यदि ब्रह्म को जगत् का उपादान-कारण होना हो, तो या तो अशेष ब्रह्म को विश्व बनना होगा अथवा ब्रह्म के एक अंश को परिवर्तित होना होगा। ये दोनों विकल्प अस्वीकार्य हैं। इन दो विकल्पों में से पहला इसलिए अनुचित है कि ब्रह्म साक्षात्कार के बारे में उपनिषदों के उपदेश व्यर्थ हो जाएँगे। अन्ततोगत्वा, अगर समग्र ब्रह्म ही विश्व बन जाता, तो संसार के परे कोई भी ब्रह्म जानने के लिए नहीं बचता। जहाँ तक विश्व के रूप में ब्रह्म का सम्बन्ध है, वह विश्व पहले से ही दृश्य रहा है और इसलिए, इस सम्बन्ध में शास्त्रों के उपदेश की आवश्यकता नहीं है। उपनिषद् की यह घोषणा — गहरी नींद में, व्यक्तिगत जीवात्मा ब्रह्म में लीन हो जाती है — बाधित हो जाएगी, क्योंकि ब्रह्माण्ड के अतिरिक्त और कोई ब्रह्म रहेगा ही नहीं, जिसमें इस तरह लीन हुआ जा सके। इसके अतिरिक्त — ब्रह्म का जन्म आदि नहीं है — इस उपदेश को त्यागना होगा। दूसरा विकल्प भी अनुचित है। ब्रह्म का एक अंश तभी विश्व बन सकता है और शेष जगत् से परे रह सकता है जब ब्रह्म सावयव हो। ब्रह्म के सावयव होने की माँग का आशय यह होगा कि उपनिषदों के अनेक वचनों को नकार करना, जिनका तात्पर्य है कि ब्रह्म निरवयव है और वह कोई भेद को अवसर नहीं देता। इसके अतिरिक्त, कोई भी सावयव वस्तु शाश्वत नहीं हो सकती। तो ब्रह्म सावयव हो, तो वह शाश्वत नहीं हो सकता, जैसा कि शास्त्र द्वारा सिखाया गया है।

बादरायण जी ने वेदान्ती के उत्तर का आरम्भ इस सूत्र से किया — "*(लेकिन) उपनिषदों की प्रामाणिकता से और ब्रह्म को केवल उपनिषदों के माध्यम से जाना जाने के कारण (पूर्ण परिवर्तन नहीं है)।*"[85] वेदान्ती का

मूलभूत तर्क यह है कि उसका अभिप्राय त्रुटियुक्त नहीं है, चूँकि वह उपनिषदों पर आधारित है। ब्रह्म को केवल उपनिषदों से जाना जा सकता है, केवल तर्क से नहीं। कहा जाता है, "*उन बातों पर तर्क ना करें जो सोच से परे हैं। सोच से परे वस्तु की विशेषता इसी में है कि वह उनसे परे है जो प्रकृति की परिधि में हैं।*"[86] ब्रह्म जैसे इन्द्रियातीत सत्त्व को केवल शास्त्र के द्वारा ही समझा जा सकता है। उपनिषद् स्पष्ट रूप से कहते हैं कि ब्रह्म निरवयव और निर्विकार है, एवं संसार का उपादान-कारण और निमित्त-कारण है।

विश्व की अभिव्यक्ति ब्रह्म की परात्परता को नहीं मिटाटी है — यह बात छान्दोग्य-उपनिषद् के निम्नलिखित वचन जैसे उदाहरणों से स्पष्ट है — "*इतनी दूर तक उसकी महिमा फैली हुई है। सर्वव्यापक तत्त्व उससे भी ऊँचा है। सारे भूत इसके एक पाद से आवृत हैं। तीन पाद वाला अविनाशी अपनी ही आत्मा (माने स्वस्वरूप) में संस्थित है।*"[87] ब्रह्म पूरी तरह से विश्व के रूप में परिवर्तित हुआ होता, तो वही उपनिषद् गहरी नींद के सम्बन्ध में यह नहीं कहता कि व्यक्तिगत जीवात्मा तब ब्रह्म में लीन हो जाती है।[88]

यहाँ, प्रतिवादी इस प्रकार आरोप उठा सकता है कि वेद भी स्वविरोधाभास नहीं सिखा सकता, जैसे कि निरवयव ब्रह्म भागशः विश्व में बदल जाता है। वेदान्ती तुरन्त उत्तर देता है कि शास्त्र का इस शिक्षण के बारे में कुछ भी असंगत नहीं है। ऐसा इसलिए है क्योंकि उपनिषद् यह दिखाने का उद्देश्य रखते हैं कि यद्यपि ब्रह्म अपने वास्तविक पहलू में अविकारी और परे है, तथापि उसमें विभिन्नता की कल्पना अविद्या के मारे होती है। उदाहरणार्थ, चन्द्रमा एक है, लेकिन द्विदृष्टिता या बहुदृष्टिता से पीड़ित व्यक्ति को अनेक सा प्रतीत होता है। चूँकि नाम और रूप के भेद अविद्या-कल्पित है, इसलिए ब्रह्म का निरवयव होना घातित नहीं होता है। उसी समय, ब्रह्म आंशिक रूप से विश्व में परिवर्तित हुआ सा लगता है।

वेद का लक्ष्य इसकी स्थापना करने में नहीं है कि ब्रह्म का जगत् के रूप में वास्तविक परिणाम होता है। सचमुच, इस तरह के परिवर्तन के बारे में जानकारी प्राप्त करने से, किसी व्यक्ति को लाभ नहीं मिलेगा। उपनिषद् वह नहीं सिखाएगा जिससे कोई लाभ ना हो। परिणाम के बारे में सिखाने वाले

ग्रन्थों का वस्तुतः उद्देश्य एक और है — यह दिखाना कि समस्त वैश्विक व्यापारों से परे रहे ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। ब्रह्म के बारे में ऐसे सही ज्ञान में व्यक्ति को संसार के चक्र से मुक्त करने का अमूल्य फल है।

बादरायण जी ने वेदान्ती की प्रतिक्रिया को इस सूत्र के साथ बनाए रखा है — "*चूँकि व्यक्तिगत आत्मा में भी, जैसा कि देवताओं आदि के सम्बन्ध में होता है, विविध सृष्टि होती है। इसी तरह, ब्रह्म के सम्बन्ध में।*"[89] स्वप्नावस्था में, व्यक्तिगत आत्मा के स्वरूप का बिना किसी भी परिवर्तन के, सपनों का बहुआयामी विश्व दिखाई देता है। बृहदारण्यक-उपनिषद् कहता है, "*न तो रथ हैं और न ही उनके साथ जोड़े जाने वाले (अश्वादि) पशु हैं और न ही वहाँ मार्ग हैं। लेकिन वह रथ, पशु और मार्गों को बनाता है।*"[90] कहा जाता है कि बिना निजी परिवर्तन के, देवता विविधता प्रदर्शित करने में सक्षम हैं। इस लोक में भी, एक जादूगर, सम्मोहन के माध्यम से, स्वयं प्रभावित हुए बिना, किसी अन्य व्यक्ति को कई वस्तुओं को देखने का कारण बन सकता है। इसी प्रकार, ब्रह्म के सम्बन्ध में भी, अनेक प्रकार की सृष्टि हो सकती है, ब्रह्म का स्वयं परिवर्तित हुए बिना अथवा सावयव हुए बिना।

निष्कर्ष यह है कि वेदान्ती का मत — ब्रह्म विश्व का उपादान-कारण होते हुए भी, निरवयव और निष्कलंक है — निर्दोष है। यह सिद्धान्त शास्त्र पर आधारित है, जो इस तरह के विषयों में प्रमाण है। अविद्या वह है जो अद्वैत परब्रह्म को विविध रूप में प्रकट करती है। समर्थक दृष्टान्त भी मिलते हैं।

3.13 सबसे बड़ा रहस्य

अर्जुन को अपने उपदेश के समय, भगवान कृष्ण पवित्र सिद्धान्त की प्रशंसा करते हैं और फ़िर उसे प्रकट करते हैं। वे कहते हैं, "*तुम्हें जो असूया-रहित हो, मैं अब सबसे परम रहस्य बताऊँगा, जो अपरोक्ष अनुभव से जुड़ा हुआ ज्ञान है, जिसे जानकर तुम संसार चक्र से छुटकारा पाओगे। यह विद्याओं का राजा, सर्वोच्च रहस्य एवं परम श्रेष्ठ शोधक है। यह साक्षात् जानने योग्य, धर्म*

का अविरोधी, करने में अति आसान और अविनाशी है।"[91] इस प्रशंसा का उद्देश्य है श्रोता को अनुरक्त और एकाग्र करना।

फ़िर प्रभु सीधे उस पवित्र सिद्धान्त की व्याख्या करने के लिए आगे बढ़ते हैं। वे कहते हैं, "*मेरे अपने अव्यक्त रूप से, मैं इस सम्पूर्ण विश्व को व्याप्त करता हूँ। सभी प्राणी मुझमें स्थित हैं, लेकिन मैं उनमें स्थित नहीं हूँ। और न ही प्राणी मुझमें स्थित हैं। मेरे दिव्य योग को देखो! सभी प्राणियों को धारण करना, तथापि उनमें नहीं बसना — ऐसी है मेरी आत्मा जो सभी प्राणियों का कारण है।*"[92]

प्रथम दृष्टि में, प्रभु का उपदेश अन्तर्विरोधों से भरा हुआ लगता है। सो कैसे? प्रभु घोषणा करते हैं कि सब कुछ उनके द्वारा व्याप्त है और सभी प्राणी उन में निवास करते हैं; फ़िर तुरन्त बाद, यह कहते हैं कि न तो वे उन प्राणियों में रहते हैं और न ही वे प्राणी उनमें। निश्चित रूप से, प्रभु इस तरह पहेलियों से भरे विचार नहीं बोलते जब तक कि उस उपदेश का स्वरूप इस प्रकार के व्याख्यान को अनिवार्य नहीं करता।

हम संसार को सत्य मान लें तो विरोधाभास का हल ठीक से नहीं किया जा सकता। दूसरी ओर, मान लीजिए कि आधे अँधेरे में एक रस्सी को भ्रम से साँप माना गया है। क्या वह दिखने वाला साँप बिना रस्सी के देखा जा सकता? नहीं। क्या साँप का कोई भाग हो सकता है जहाँ रस्सी नहीं हो? इसका भी उत्तर है, "नहीं।" चूँकि रस्सी के अतिरिक्त साँप का कोई अस्तित्व नहीं है और चूँकि साँप का जो भी भाग देखा जाता है, वहीं रस्सी भी देखा जाता है, यह कहना अनुचित नहीं होगा कि साँप पूरी तरह से रस्सी से व्याप्त है। इसके अतिरिक्त, चूँकि रस्सी कल्पित साँप का अधिष्ठान है, यह कहा जा सकता है कि साँप रस्सी में रहता है अथवा साँप रस्सी को अपना अधिष्ठान बनाके रहता है। निःसन्देह, ऐसे वक्तव्य दिए जा सकते हैं, लेकिन क्या वे अधिक अन्तर्दृष्टि के साथ विमर्श किए जाने पर सही निकलते हैं? नहीं, क्योंकि न तो रस्सी वास्तव में साँप को व्याप्त करती है और न ही साँप वास्तव में रस्सी में बसता है। ऐसा इसलिए कि वहाँ कोई वास्तविक साँप सर्वथा नहीं है। अगर वास्तविक साँप अवश्य होता, तो ही वास्तविक रूप से व्यापन हो सकता। ऐसी ही स्थिति आत्मा की है। चूँकि आत्मा हर किसी का अधिष्ठान है, जिसके बिना

कुछ भी अस्तित्व में नहीं रह सकता, इसलिए यह कहा जा सकता है कि सब कुछ आत्मा में स्थित है। दूसरी ओर, यदि कोई इस विषय को और भी अन्तर्दृष्टि के साथ देखता है, तो यह दावा करना असम्भव होगा कि वास्तव में सभी प्राणियों में आत्मा स्थित है या सभी प्राणी वास्तव में आत्मा में बसते हैं। प्रभु ने इस प्रकार की व्याख्या का उपयोग इस तथ्य को ठीक समझाने के लिए किया कि वास्तव में केवल आत्मा सत् है और संसार मिथ्या है।

अव्याख्येय और विरोधाभासी प्रतीत होने वाले अपने वक्तव्यों को बनाए रखते हुए, प्रभु स्पष्ट करते हैं, "*मेरा दिव्य योग (मेरा दिव्य कार्य) देखो।*"[93] इससे पहले, भगवान ने यह कहते हुए अपनी माया की बात की थी, "*वास्तव में, गुणों से बनी मेरी इस माया को पार करना कठिन है।*"[94] इसलिए, यह स्पष्ट है कि प्रभु बताते हैं कि केवल माया के कारण, विश्व उनमें दिखाई देता है, लेकिन वास्तविकता में नहीं और वे उसकी अभिव्यक्ति से पूर्णतः अप्रभावित हैं। प्रभु ने अन्य स्थानों पर भी इस प्रतिपादन विधि को अपनाया है, जिसका अनुकरण यहाँ किया गया है। उदाहरणार्थ, 13वें अध्याय में उन्होंने आत्मा के बारे में कहा है, "*सभी इन्द्रियों के व्यापारों से अवभासित, तथापि इन्द्रियों से रहित; अनासक्त, तथापि सबको धारण करने वाला; निर्गुण।*"[95]

विचार के लिए उद्धृत श्लोकों में, हमने भगवान को यह कहते हुए पाया, "मेरी आत्मा प्राणियों का कारण है।" क्या इसका तात्पर्य यह है कि भगवान की एक आत्मा है जो अपने से अलग है? नहीं, उन्होंने स्वयं पश्चात् घोषित किया है, "*मैं आत्मा हूँ।*"[96] इसलिए, यहाँ भगवान ने ऐसी बात बोलने में केवल सामान्य बोलचाल का सहारा लिया है। निश्चित रूप से, कोई भी यह नहीं कह सकता कि प्रभु अज्ञानी हैं। यहाँ तक कि आत्मज्ञानी भी एक सामान्य व्यक्ति के अनुरूप "मैं" शब्द का प्रयोग कर सकता है। पञ्चदशी में यह विवृत है कि जब तत्त्वज्ञानी कहता है, "मैं जाता हूँ," इत्यादि, तो वह शरीर का उल्लेख करता है, लेकिन जब वह कहता है, "मैं चित् आत्मा हूँ," तो वह निर्विकार आत्मा का उल्लेख करता है।[97] प्रभु का, "मैं कारण हूँ," कहने के स्थान पर, "मेरी आत्मा कारण है," कहना इसके अनुरूप है।

3.14 आत्मा स्वयं-ज्योति चैतन्य है

बृहदारण्यक-उपनिषद् के ज्योतिर्ब्राह्मण में, आत्मा को अविकारि, स्वयं-ज्योति चैतन्य-स्वरूपी सिखाया जाता है। शिक्षण प्रदान करने और प्राप्त करने की विधा को सूचित करने और ज्ञान की प्रशंसा करने हेतु, उपनिषद् एक शिष्य सम्राट जनक और उनके गुरु, ऋषि याज्ञवल्क्य, से जुड़ी एक कहानी का सहारा लेता है। जनक अपने गुरु से प्रश्न करते हुए संवाद प्रारम्भ करते हैं — "एक व्यक्ति के लिए प्रकाश क्या है?"[98]

भगवत्पद जी ने ज्योतिर्ब्राह्मण के उपदेश को कृपापूर्वक एक सरल श्लोक में दिया है; यह उनकी रचना "एक-श्लोकी" है। एक-श्लोकी एक गुरु और उनके शिष्य के बीच संवाद का वर्णन करता है। असामान्य रूप से, इसमें प्रश्न पूछने वाला शिक्षक है, न कि छात्र। प्रश्नों की शृंखला से, जिसमें प्रत्येक प्रश्न के बाद शिष्य के तर्कसंगत उत्तर है, गुरु शिष्य को इस बोध की ओर ले जाते हैं कि आत्मा परम-ज्योति है। चूँकि शिष्य को गहराई से सोचने के लिए प्रेरित किया जाता है, वह शिक्षण प्रक्रिया के किसी भी स्तर पर असावधानी, सन्देह और दृढ़ विश्वास की कमी से पीड़ित नहीं होता है।

ऋषि याज्ञवल्क्य का अनुकरण करते हुए, गुरु पूछते हैं, "तुम्हारा प्रकाश क्या है?" प्रश्न का आशय है, "कौन सा प्रकाश तुम्हें वस्तुओं को देखने और गतिविधि में संलग्न होने में सक्षम बनाता है?" शिष्य उत्तर देता है, "दिन में मेरे लिए सूरज ज्योति है।" सूर्य के अस्त हो जाने के बाद, मानव का कार्यकलाप अपने आप समाप्त नहीं होता। रात के समय, लोग दीयों की सहायता लेते हैं। न केवल मनुष्य द्वारा निर्मित प्रकाश के स्रोत, किन्तु प्राकृतिक स्रोत भी ग्रहणबोध और कार्यकलापों में सहायक होते हैं। उदाहरणार्थ, एक पूर्णिमा की रात, लोग अपने घर का मार्ग खोज सकते हैं। इसलिए, शिष्य ने आगे कहा, "रात में, दीपक, आदि, मेरी ज्योति बनते हैं।"

गुरु का उद्देश्य नहीं है कि यह परिचित उत्तर देने में अपने शिष्य को सफल बनाने के बाद रुक जाना। इसलिए, वे आगे परिक्षण करते हुए पुछते हैं, "ऐसा हो सकता है। ऐसा कौन सा प्रकाश है जो तुम्हें सूरज और दीपक को

देखने में सक्षम बनाता है?" सूर्य, चन्द्रमा, तारे और दीपक प्रकाशमान तो हैं, लेकिन वे देखे जाने वाले हैं। शब्द हो सकते हैं, लेकिन जो बहरा है वह उन्हें नहीं सुन पाएगा। इस प्रकार, शब्द स्वयं प्रकट नहीं होते। इसी तरह, शिष्य द्वारा बताए गए प्रकाश के स्रोत को स्वयं किसी अन्य "प्रकाश" द्वारा प्रकट किए जाने की आवश्यकता है।

शिष्य प्रश्न के बारे में सोचकर यह निष्कर्ष निकालता है कि वह अपनी दृष्टि के द्वारा, प्रकाश के किसी भी बाहरी स्रोत को ग्रहण कर लेता है। बाह्य कारकों की अनुपस्थिति में भी, उसकी इन्द्रियाँ अक्षुण्ण रहती हैं। उदाहरणार्थ, किसी को अँधेरे कमरे में प्रवेश करने पर किसी वस्तु के न देखे जाने के कारण के आधार पर ही, यह सिद्ध नहीं होता कि उसने अपनी दृष्टि शक्ति खो दी है। अन्ततोगत्वा, वह अँधेरे को देखता तो है। दूसरी ओर, जब दर्शनेन्द्रिय अपना कार्य नहीं करती, तो सूर्य जैसे प्रकाश के बाहरी स्रोतों में से, कोई भी उसको देखने में सक्षम नहीं बना सकता; वे स्वयं अनदेखे रहते हैं। इस प्रकार सोचकर, शिष्य उत्तर देता है, "आँख।"

शिष्य को और आगे ले जाते हुए, गुरु पूछते हैं, "आँख बन्द होने इत्यादि के समय, तुम्हारे लिए प्रकाश क्या है?" कोई व्यक्ति समझ सकता है कि आँखें खुली हैं या बन्द। साथ ही, कोई यह समझ सकता है कि वह स्पष्ट रूप से देखने में सक्षम है या उसकी दृष्टि बहुत बिगड़ गई है। इस प्रकार, आँख ही दृश्य (ग्रहणबोध्य) वस्तु है। जब कोई बहुत अनमना होता है, तब आँखें खुलीं रहते हुए और पर्याप्त प्रकाश होते हुए भी, वह व्यक्ति वस्तुओं, सूर्य और आँखों के स्थिति को नहीं पहचानता है। दूसरी ओर, आँखें बन्द होने पर भी, कोई सोच सकता है। ऐसे विमर्श करते हुए शिष्य उत्तर देता है, "बुद्धि।"

शिक्षक शिष्य को एक कदम आगे ले जाकर, इस विचार को निर्णयात्मक चरण पर ले जाने का निश्चय करते हैं। वे प्रश्न करते हैं, "वह कौन सा प्रकाश है जिससे बुद्धि का बोध होता है?" लोग अपने विचारों की उपस्थिति और अनुपस्थिति से अवगत हैं। इस प्रकार, मन स्वयं बोध्य वस्तु है। जैसे सूर्य अपने आप को प्रकट नहीं कर सकता और आँख अपने आप को नहीं देख सकती, वैसे ही बुद्धि भी अपने आप को नहीं ग्रहण करती। अन्ततोगत्वा,

कोई वस्तु एक साथ द्रष्टा (देखने वाला) और दृश्य वस्तु नहीं हो सकती। यह भी नहीं माना जा सकता कि हर एक मानोवृत्ति दूसरी वृत्ति से प्रकट होती है। ऐसा इसलिए है क्योंकि यदि किसी वृत्ति को दूसरी वृत्ति के बारे में जानकारी पैदा करने की आवश्यकता होती, तो उस वृत्ति को समझने के लिए एक और वृत्ति की आवश्यकता होगी, जिसका विषय पहली वृत्ति है। इस प्रकार, अनवस्था (अनन्त प्रतिगमन) दोष होगा।

शिक्षक के शब्दों का एक वैकल्पिक निर्वाचन भी सम्भव है। शिक्षक के प्रश्न को इस प्रकार से भी लिया जा सकता है — "जब बुद्धि दिखाई नहीं देती, तो तुम्हारा प्रकाश क्या है?" जब कोई गहरी नींद में या योग की पराकाष्ठा निर्विकल्प-समाधि में होता है, तो मन में कोई वृत्ति नहीं होती। फ़िर भी अभिज्ञता अवश्य रहती है। तदनुसार, नींद से जागने पर व्यक्ति पहचानता है, "मैं सुख से सोया। मुझे कुछ पता नहीं था।" अगर गहरी नींद के समय जागरूकता सर्वथा अनुपस्थित होती, तो यह भान उत्पन्न नहीं हो सकता। मन की वृत्तियों के बीच के अन्तराल में भी जागरूकता है।

अपने गुरु के प्रश्न पर गहराई से सोचकर, शिष्य उत्तर देता है, "मैं ही हूँ।" अन्ततोगत्वा, वही तो है जो वृत्तियों के उदय और पतन को, तथा वृत्ति-शून्यता की स्थिति को, बूझता है। शिष्य को पता चलता है कि उसे ज्ञान-स्वरूपी ही होना चाहिए। शिष्य के बोध की सराहना करते हुए, गुरु निष्कर्ष प्रस्तुत करते हैं, "इसलिए, आप परम प्रकाश हैं।" मान लीजिए कि जो बुद्धि को प्रकाशित करता है, वह स्वप्रकाश नहीं है। तब बुद्धि के उस प्रकाशक को प्रकट करने के लिए, एक और द्रष्टा की आवश्यकता होगी। दूसरी द्रष्टा को प्रकट करने के लिए, तीसरे द्रष्टा की आवश्यकता हो सकती है। इससे अनवस्था दोष होगा। इसलिए, जो मन के कामकाज को जानता है, वह स्वयं-प्रकाश चित् है। शिष्य उस स्वयं-ज्योति चेतन वस्तु के अतिरिक्त हो ही नहीं सकता। केवल बौद्धिक समझ के आधार पर ही नहीं, किन्तु अपरोक्ष अनुभव से भी, शिष्य दृढ़ता से कहता है, "हाँ, सो मैं हूँ, प्रभु।"

चाहे जाग्रदवस्था हो, स्वप्नावस्था हो या गहरी नींद की अवस्था हो, आत्मा तो अविकारी स्वयं-प्रकाश साक्षी है; जो दृश्य है, वही विकारी है। इस प्रकार,

गहरी नींद के सम्बन्ध में, जहाँ चैतन्य को अनुपस्थित कहा जाता है, याज्ञवल्क्य ऋषि जनक को सिखाते हैं, "*जानने वाले का जानने का कार्य कभी भी नहीं लुप्त हो सकता, क्योंकि वह अविनाशी है। हालाँकि, उससे अलग कोई दूसरा कुछ नहीं है, जिसे वह जान सके।*"[99] साधारण दृष्टि वाला व्यक्ति एक अँधेरे कमरे में प्रवेश करना इसका एक स्थूल उदाहरण हो सकता है। निर्विकल्प-समाधि में भी द्वैत का भान नहीं रहता; हालाँकि, आत्मा स्पष्ट रूप से स्वयं-ज्योति है, बिना अविद्या के घन घूंघट के, जो स्वप्नहीन गहरी नींद का प्रतीक है। निष्कर्ष यह है कि आत्मा निर्विकार, स्वयं-ज्योति चैतन्य है।

3.15 दिव्य नियोग वाले महापुरुषों की मुक्ति

क्या तत्त्व साक्षात्कार पाए व्यक्ति का पुनर्जन्म हो सकता है? उपनिषदों के स्पष्ट कथन होते हुए कि मुक्ति का कारण परब्रह्म का ज्ञान है, यह प्रश्न अनावश्यक लग सकता है। यह सम्भवतः इस सोच के समान होगा कि क्या भरपेट भोजन के किए उद्यत व्यक्ति की भूख शान्त होगी या नहीं। हालाँकि, यह प्रश्न उचित है क्योंकि रामायण, महाभारत और पुराणों में हमें सत्य के जानने वालों के पुनर्जन्म की कहानियाँ मिलती हैं।

उदाहरणार्थ, रामायण में लिखा है कि ब्रह्मा जी के मानस पुत्र महर्षि वसिष्ठ ने राजा निमि के शाप के कारण, अपना शरीर खो दिया। वसिष्ठ ने ब्रह्मा जी की सहायता माँगी और ब्रह्मा जी के परामर्श के अनुसार, मित्रा-वरुण के रूप में पैदा होकर एक नया शरीर प्राप्त किया।[100] इसमें कोई सन्देह का अवसर नहीं है कि वसिष्ठ पूरी तरह से प्रबुद्ध थे।

महाभारत हमें बताता है कि एक प्राचीन ऋषि और वेदों का शिक्षक, अपान्तरतमस, को विष्णु ने द्वापर और कलि युग के सन्धि पर कृष्ण-द्वैपायन के रूप में जन्म लेने का निर्देश दिया। कृष्ण-द्वैपायन व्यास के नाम से व्यापक रूप से जाने जाते हैं।[101] यह वर्णन किया जाता है कि वरूण के यज्ञ के अवसर पर, ऋषि भृगु और अन्यों का पुनर्जन्म हुआ,[102] और श्रेष्ठ सनत्कुमार

ने रुद्र की इच्छा को स्वीकार किया और स्कन्द के रूप में पुनर्जन्म लिया।[103] निश्चित रूप से, अपान्तरतमस, भृगु और सनत्कुमार सकलगुण-रहित परब्रह्म के ज्ञानी थे। देवर्षि नारद के अनेक जन्मों का विवरण देखने को मिलता है। वेदों के मन्त्र और सम्पोषी भागों में समर्थक साक्ष्य उपलब्ध हैं।

विभिन्न वचनों से देखा जा सकता है कि कुछ ऋषियों ने अपने मूल शरीरों के पतन के बाद, नए शरीरों का अधिग्रहण किया; कुछ अन्य ने अपने शरीर को बनाए रखा, लेकिन अपनी योगशक्तियों से, एक साथ कई शरीरों में प्रवेश किया। स्मृति ग्रन्थों के वर्णन के अनुसार, इन ऋषियों ने वेदों के पूर्ण तात्पर्य का साक्षात्कार पाया हुआ था।

इस सबके आलोक में, पूर्वपक्ष यह है कि सभी गुणों से रहित ब्रह्म के ज्ञान से कभी-कभी संसार से मुक्ति प्राप्त होती है और कभी-कभी नहीं। इस पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए, बादरायण जी का अपने ब्रह्म-सूत्र में कहना है, "*दिव्य नियोग वाले लोगों का उस नियोग के पूरा होने तक शरीर सहित अस्तित्व रहता है।*"[104] इस सूत्र पर भगवत्पाद जी के भाष्य के आलोक में, इस सूत्र का विमर्श करेंगे। तत्त्वज्ञान कभी भी मुक्ति प्रदान करने में विफल नहीं होता। ज्योतिष्टोम याग जैसे एक वैदिक कर्म से, उसके कर्ता को अपनी मृत्यु के बाद स्वर्ग प्राप्त होता है, जो उस कर्म के पूरा होने के लम्बे समय बाद हो सकता है। तो जिस व्यक्ति में श्रद्धा की कमी हो, उसमें कम से कम कुछ अवसर पर ऐसा डर होना सम्भव है कि उस कर्म का फल मिलेगा या नहीं। दूसरी ओर, परब्रह्म के ज्ञान के सम्बन्ध में, अनिश्चितता का ऐसा कोई अवसर नहीं है क्योंकि वह तत्काल-अनुभवी, प्रत्यक्ष फल उत्पन्न करता है। इस प्रकार, तत्त्व का बोध होने पर व्यक्ति जीवित रहते हुए भी, मुक्त हो जाता है। वसिष्ठ जैसे व्यक्ति अपवाद नहीं थे।

कर्म के बीज को ज्ञान जला देता है। मुण्डक-उपनिषद् घोषित करता है, "*सर्वोच्च का — जो ऊँचा और नीचा दोनों है — साक्षात्कार होने पर, हृदय की गाँठ फट जाती है, सारे संशय दूर हो जाते हैं और (उस ज्ञानी के) सारे कर्म नष्ट हो जाते हैं।*"[105] भगवद्गीता में भी, भगवान का वचन है, "*हे अर्जुन, जैसे अग्नि ईंधन को भस्म कर देती है, वैसे ही ज्ञान की अग्नि सारे कर्मों को*

जला देती है।"[106] साक्षात्कार के बाद एक ऋषि द्वारा किया गया कोई भी शारीरिक या मानसिक व्यापार से उसे पुण्य या पाप — जिसे समाप्त करने के लिए पुनर्जन्म की आवश्यकता हो — प्राप्त नहीं होता। यह वसिष्ठ जैसे ज्ञानिओं के बारे में भी सच है।

ज्ञान यह सुनिश्चित कर देता है कि पिछले जन्म के ऐसे कर्मशेष — जो सामान्यतः आगामि जन्मों में ही फल देना प्रारम्भ करते — उसको अशेष निष्फल कर देता है। शेष केवल प्रारब्ध-कर्म — यानी अतीत के कर्म जो पहले ही इस जन्म में फल देने लगे हैं — रहता है। छान्दोग्य-उपनिषद् इस प्रकार सिखाता है, "*उसका विलम्ब केवल तब तक है जब तक उसका शरीर गिर नहीं जाता। फ़िर, वह ब्रह्म में विलीन हो जाता है।*"[107] प्रारब्ध-कर्म के समाप्त हो जाने पर, जीवन्मुक्त का शरीर निष्क्रिय हो जाता है और वह ज्ञानी विदेह-मुक्त हो जाता है। नियम तो यह है कि ज्ञानी का प्रारब्ध-कर्म उसी जन्म के साथ समाप्त होता है, जिसमें वह परिपक्व परब्रह्मबोध प्राप्त कर लेता है।

जहाँ तक शारीरिक और मानसिक गतिविधियों से अकलंकित रहने का और जीवित रहते हुए भी मुक्त होने का विषय है, एक ओर भगवान द्वारा विशेष रूप से अधिकृत वसिष्ठ जैसे आधिकारिक पुरुषों के, और दूसरी ओर अन्य तत्त्वज्ञानियों के, बीच निश्चित रूप से कोई अन्तर नहीं है। हालाँकि आधिकारिक पुरुषों में एक विशेष पहलू रहता है, जोकि उनके शरीर से जुड़े रहना केवल उस शरीर का पतन तक ही नहीं जिसमें ब्रह्मसाक्षात्कार की प्राप्ति होती है, परन्तु उनके नियोजित कार्य समाप्त होने तक। मानो वसिष्ठ जैसे तत्त्वज्ञानियों का प्रारब्धकर्म असाधारण है, जो उनका दिव्य नियोजन समाप्त हो जाने पर ही पूरी तरह से अवसान हो जाता है। ईश्वर-सौंपा कार्य समाप्त होते हुए ही, बिना देह के ब्रह्म में लीन होना, यानी विदेह-मुक्त होना, वैसा ही घटित हो जाता है जैसा एक सामान्य ब्रह्मज्ञानी के शरीर के पतन पर होता है।

अपान्तरतमस जैसे महापुरुष वेदों के प्रचार जैसे पवित्र कार्यों से जगत् की भलाई करने के लिए ईश्वर द्वारा नियोजित किए जाते हैं। इसलिए, उनकी

शारीरिक स्थिति अपने अधिकृत कार्य से ही नियमित हो जाती है। ये ऋषि दिव्य हैं और अपने कार्य का निर्वहण करने के लिए, वे एक शरीर से दूसरे में पूर्ण स्वतन्त्रता के साथ चलते हैं, जैसे कि एक व्यक्ति एक घर से दूसरे घर। उनका जो कुछ भी प्रारब्ध कर्म शेष है, उससे वे अपने विभिन्न जन्मों में सदा के लिए मुक्त हो जाते हैं। अपने अधिकृत कार्य के समय, वे निरन्तर अपनी मूल पहचान की पूरी स्मृतीयों को बनाए रखते हैं। शरीर निर्माण के लिए आवश्यक सामग्रियों के स्वामी होने के कारण, वे अपने लिए नए शरीर बनाते हैं और एक साथ, एक या अधिक शरीर धारण करते हैं।

महाभारत में कहा गया है कि ब्रह्मतत्त्व की प्रतिपादक, सुलभा नाम की एक महिला, जनक से चर्चा करना चाहती थी। अतः, वह अपने शरीर से अलग हुई और जनक के शरीर में प्रवेश कर गई। जनक के साथ अपनी चर्चा समाप्त करने के बाद, उसने फ़िर से अपना शरीर ग्रहण किया।[108] यह कहानी एक उदाहरण प्रस्तुत करती है कि कैसे एक महान व्यक्ति एक शरीर से दूसरे में स्वतन्त्र रूप से जा सकता है।

वसीष्ठ जैसे ऋषियों को जाति-स्मर लोगों के समान नहीं रखा जा सकता, जो अपने पिछले जन्मों को स्मरण करने की विशेष क्षमता वाले व्यक्ति हैं। ऐसा इसलिए है क्योंकि उन ऋषियों में पूर्ण आत्मज्ञान होता है, वे अपने गतिविधियों में पूरी तरह से स्वतन्त्र हैं और सभी परिस्थितियों में अपनी पहचान की स्मृति रखते हैं। तदनुसार, मित्र-वरुण द्वारा जन्म लेने के बाद भी, वसिष्ठ को रामायण और महाभारत में ब्रह्मा जी के मानस पुत्र वसिष्ठ के रूप में ही बनाए रखा।

निर्णय यह निकलता है कि इस नियम का कोई अपवाद नहीं कि तत्त्वज्ञान मुक्तिप्रद अवश्य है। साधारण ब्रह्मज्ञानियों के सम्बन्ध में, मृत्यु के बाद शरीर से पूर्ण वियोग हो जाता है। दूसरी ओर, ईश्वर द्वारा पवित्र कार्यों में नियुक्त पुरुषों का — अपने विशेष कार्यों के समाप्त होने तक — शरीर सहित अस्तित्व बना रहता है। फ़िर, वे बिना शरीर के परब्रह्म स्वरूप में संस्थिति पा लेते हैं।

1	गौतम-धर्म-सूत्र 1.8.23, 24	2	योग-सूत्र 1.33
3	रामायण 2.1.11	4	सुभाषित
5	भगवद्गीता 9.1	6	प्रबोध-सुधाकर 4.59
7	शार्ङ्गधर-पद्धति 273	8	मनु-स्मृति 4.138
9	भगवद्गीता 17.15	10	सभारञ्जन-शतक 38
11	पञ्चदशी 6.274	12	भागवत-पुराण 7.10.4
13	शिवानन्द-लहरी 19	14	भागवत-पुराण 9.4.63
15	भगवद्गीता 7.18	16	सुभाषित-रत्नकोश 4.7
17	शिव-भुजङ्ग-स्तोत्र 12	18	नारद-भक्ति-सूत्र 1.2
19	देवी-माहात्म्य 1.81	20	सौन्दर्य-लहरी 22
21	रामायण 6.18.33, 34	22	भागवत-पुराण 11.14.16
23	शिवानन्द-लहरी 61	24	भगवद्गीता 12.8-11
25	भगवद्गीता 18.65	26	भगवद्गीता 2.20
27	भगवद्गीता 13.31	28	भगवद्गीता 3.27
29	भगवद्गीता 13.29	30	भगवद्गीता 4.39
31	भगवद्गीता 7.14	32	भगवद्गीता 10.11
33	भगवद्गीता 4.37	34	भगवद्गीता 6.3
35	भगवद्गीता 2.27	36	भगवद्गीता 18.5
37	भगवद्गीता 6.29	38	भगवद्गीता 10.20
39	भगवद्गीता 13.2	40	भगवद्गीता 7.19
41	गरुड-पुराण 2.49.64 (वेंकटेश्वर स्टीम प्रेस संस्करण)	42	कलिविडम्बन 90
43	कठ-उपनिषद् 1.2.24	44	ब्रह्म-सूत्र 1.1.1
45	कठ-उपनिषद् 1.3.3, 4	46	भगवद्गीता 2.60
47	भगवद्गीता 3.36	48	भगवद्गीता 3.37
49	विष्णु-पुराण 6.5.74	50	विष्णु-पुराण 6.5.78
51	भगवद्गीता 3.38	52	मनु-स्मृति 2.94
53	भगवद्गीता 3.40	54	भगवद्गीता 3.41
55	भगवद्गीता 2.60	56	भगवद्गीता 3.43
57	बृहदारण्यक-उपनिषद् 4.4.6	58	मुक्तिका-उपनिषद् 2.2
59	(?) जीवन्मुक्ति-विवेक में उद्धृत	60	तैत्तिरीय-ब्राह्मण 3.10.11.3

61 कठ-उपनिषद् 1.2.23
62 छान्दोग्य-उपनिषद् 7.1.1-3
63 मुक्तिका-उपनिषद् 2.63
64 (लघु-) योग-वासिष्ठ 4.2
65 योग-सूत्र 2.41
66 मैत्री-उपनिषद् 1.1.2
67 योग-सूत्र 2.40
68 श्वेताश्वतर-उपनिषद् 6.19
69 ब्रह्म-सूत्र 1.4.23
70 छान्दोग्य-उपनिषद् 6.1.2
71 बृहदारण्यक-उपनिषद् 2.4.5
72 मुण्डक-उपनिषद् 1.1.2
73 छान्दोग्य-उपनिषद् 6.1.4
74 छान्दोग्य-उपनिषद् 6.1.5
75 छान्दोग्य-उपनिषद् 6.2.2, 3
76 ब्रह्म-सूत्र 2.1.34
77 बृहदारण्यक-उपनिषद् 3.2.13
78 भगवद्गीता 4.11
79 ब्रह्म-सूत्र 2.1.35
80 छान्दोग्य-उपनिषद् 6.2.1
81 ब्रह्म-सूत्र 2.1.36
82 ऋग्वेद-संहिता 10.190.3
83 भगवद्गीता 15.3
84 ब्रह्म-सूत्र 2.1.26
85 ब्रह्म-सूत्र 2.1.27
86 महाभारत 6.6.11
87 छान्दोग्य-उपनिषद् 3.12.6
88 छान्दोग्य-उपनिषद् 6.8.1
89 ब्रह्म-सूत्र 2.1.28
90 बृहदारण्यक-उपनिषद् 4.3.10
91 भगवद्गीता 9.2, 3
92 भगवद्गीता 9.4, 5
93 भगवद्गीता 9.5
94 भगवद्गीता 7.14
95 भगवद्गीता 13.14
96 भगवद्गीता 10.20
97 पञ्चदशी 7.12, 13
98 बृहदारण्यक-उपनिषद् 4.3.2
99 बृहदारण्यक-उपनिषद् 4.3.23
100 रामायण 7.55.3-7.57.8
101 महाभारत 12.337.37-57
102 वायु-पुराण 2.4.21-22
103 त्रिपुरा-रहस्य 1.37.120-135
104 ब्रह्म-सूत्र 3.3.32
105 मुण्डक-उपनिषद् 2.2.8
106 भगवद्गीता 4.37
107 छान्दोग्य-उपनिषद् 6.14.2
108 महाभारत 12.308.3-191

विभाग 4

सुतीक्ष्ण निबन्ध

1950 के दशक में कन्नड़ में गुरुजी द्वारा लिखे गए तीन निबन्धों के हिन्दी अनुवाद इस विभाग के अन्तर्गत है। गुरुजी के मूल लेखों में जो संस्कृत में कई उल्लेख मिलते हैं, उनके स्थान पर उनके हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किए गए हैं और उनके सन्दर्भ-निर्देश पाद-टिप्पणियों के रूप में दिए गए हैं। जिस गहराई, सटीकता और व्यापकता के साथ गुरुजी ने शास्त्रों के प्रकाश में इन तीन विषयों की चर्चा की है, वह उनके द्वारा अनायास बोधगम्य ढंग से उनको प्रस्तुत करने की शैली से मेल खाती है।

4.1 ईश्वर की आराधना

लोग मृत्यु से बचने की इच्छा रखते हैं। लेकिन अनुभव बताता है कि यह इच्छा पूरी नहीं हुई है। प्रभु ने कहा है, *"जो कोई जन्म लेता है, उसके लिए मृत्यु निश्चित है और जो मर जाता है, उसके लिए पुनर्जन्म निश्चित है। इसलिए, जो अपरिहार्य है, उसके सम्बन्ध में तुम्हें शोक नहीं करना चाहिए।"*[1]

अब हमारा जन्म हुआ है। प्रभु पुनर्जन्म की बात करते हैं। भविष्य में पुनर्जन्म होना हो, तो उसके पहले मृत्यु होनी चाहिए। शरीर से प्राणों का बाहर निकलना मृत्यु कहा गया है। जबकि हम नहीं चाहते कि हमारे प्राण शरीर को छोड़ दें, वे कौन हैं जिनके सम्बन्ध में वास्तव में वर्तमान शरीर से प्राणों का प्रस्थान नहीं होगा और किसी अन्य शरीर में प्रवेश नहीं होगा? बृहदारण्यक-उपनिषद् कहता है — *"प्रबुद्ध व्यक्ति के प्राण शरीर से विदा नहीं होते हैं,"*[2] और, *"वे उसी में लीन हो जाते हैं।"*[3]

परब्रह्म का साक्षात्कार पाए ज्ञानी के सम्बन्ध में, उसका सूक्ष्म शरीर — जिसमें मन, करण और प्राण सम्मिलित हैं — स्थूल शरीर से प्रस्थान नहीं करता है और दूसरे शरीर में नहीं जाता है। इसके बदले, शरीर के अंशभूत पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश अपने अपने वैश्विक रूपों में विलीन हो जाते हैं। वेद का दृढ़कथन है कि ज्ञानी की कोई मृत्यु नहीं है — *"परब्रह्म को जानने पर ही वह मृत्यु को पार करता है।"*[4] जिसकी मृत्यु नहीं है, उसका कोई पुनर्जन्म नहीं हो सकता। *"जन्म, मृत्यु और माता के गर्भ में वास, जो बार-बार होते हैं"*[5] — ऐसे कथन ज्ञानी पर लागू नहीं होते हैं। इसलिए, यदि लोगों को मृत्यु से मुक्ति की इच्छा पूरी करनी है, तो यह अनिवार्य है कि वे ज्ञान, यानी तत्त्व का साक्षात्कार, प्राप्त करें। इसके लिए, यह आवश्यक है कि वे ज्ञान प्राप्ति के साधन को अर्जित करें।

---

[1] भगवद्गीता 2.27

[2] बृहदारण्यक-उपनिषद् 4.4.26

[3] बृहदारण्यक-उपनिषद् 3.2.11

[4] श्वेताश्वतर-उपनिषद् 3.8

[5] मोहमुद्गर 21

बृहदारण्यक-उपनिषद् सिखाता है — *"मेरे प्यारे, आत्मा को साक्षात्कार किया जाना चाहिए, उसके बारे में श्रवण करना चाहिए, मनन करना चाहिए और दृढ़ता से ध्यान करना चाहिए।"*[1] इस प्रकार, ब्रह्म से अभिन्न आत्मा का साक्षात्कार पाने का अन्तरंग साधन — अर्थात् निकट या साक्षात् साधन — है *'श्रवण'*, यानी गुरु और शास्त्र से तत्त्व के बारे में सुनना, *'मनन'*, यानी संशयों को मिटाने के लिए उपदिष्ट विषयों के अनुसार तर्क करना, और *'निदिध्यासन'*, माने दृढ़ एकाग्रता से मन को आत्मा पर केन्द्रित करना। श्रवण, मनन और निदिध्यासन स्वरूपी साधना में संलग्न होने के लिए, चार प्रकार की योग्यताएँ आवश्यक होती हैं। ये हैं *'विवेक'* यानी विवेचना, *'वैराग्य'* यानी राग से वियोग, *'शमादि-षट्क-सम्पत्ति'* माने मन पर नियन्त्रण आदि छह गुणों के समुच्चय की प्राप्ति, और *'मुमुक्षुत्व'* यानी संसार के चक्र से मुक्ति की इच्छा। शम आदि छह सम्पत्ति ये हैं — *'शम'* या मन का नियन्त्रण, *'दम'* यानी इन्द्रियों पर नियन्त्रण, *'उपरति'* माने क्रियाकलाप से पीछे हटना, *'तितिक्षा'* या सहनशीलता, *'श्रद्धा'* यानी विश्वास, और *'समाधान'* माने एकाग्रता। यदि किसी व्यक्ति में ये चार योग्यताएँ नहीं हैं, तो उसके लिए अपने श्रवण-मनन-निदिध्यासनात्मक प्रयास से, सर्वोच्च का ज्ञानोदय स्वरूप फल की प्राप्ति नहीं होती है। जिस प्रकार वैदिक यज्ञ करने के लिए, उपनयन संस्कार एक पूर्वापेक्षा है, उसी तरह यहाँ इन चार योग्यताओं की आवश्यकता रहती है। हालाँकि, वे निराले हैं।

वह कौन है जो श्रवण, मनन और निदिध्यासन में संलग्न होने के लिए योग्य नहीं है? यह कहा जाता है — *"चूँकि हमारा मन संसार से विमुख नहीं हुआ है, इसलिए हम श्रवण और मनन का अभ्यास नहीं कर सकते हैं। हालाँकि इन्द्रिय-विषयों के कारण जो पीड़ा उत्पन्न होती है, वह असहनीय होती है। इससे छुटकारा पाने के लिए, हम भगवान के चरणों की पूजा करते हैं।"* भक्ति वह है जिसे अपनाया जाना चाहिए।

भक्ति का स्वरूप

स्वभावतः, हम भावनात्मक रूप से किसी न किसी वस्तु से जुड़े रहते हैं। यह कहा जाता है — *"बालक खेल में तल्लीन है। युवक युवती पर अनुरक्त है। वृद्ध तो*

[1] बृहदारण्यक-उपनिषद् 2.4.5

चिन्ता करता रहता है। लेकिन, परब्रह्म में कोई भी आसक्त नहीं है।"[1] यह स्पष्ट है कि हम किसी भी समय अनुराग से मुक्त नहीं हैं और पूरी तरह से प्रेम को छोड़ देना हमारे लिए असम्भव ही है। हालाँकि, जो हम कर सकते हैं, वह है प्रभु के प्रति अपने प्रेम को मोड़ देना; अगर हम ऐसा करें, तो हमें बहुत लाभ होगा। प्रीति तो एक मनोवृत्ति है; आलम्बन के रूप में इसे कोई वस्तु आवश्यक है और बिना किसी आलम्बन के, प्रेम हो नहीं सकता। बच्चों के प्रति जो भावात्मक आकर्षण है वह 'वात्सल्य' कहा जाता है, जो पत्नी की ओर है वह 'रति' नामित किया जाता है और जो श्रद्धेय की ओर है वह 'भक्ति' कहा जाता है। नारद जी ने अपने भक्ति-सूत्रों में भक्ति को इस प्रकार परिभाषित किया है — "*भगवान के प्रति परम-प्रेम भक्ति का स्वरूप है।*"[2] इस प्रकार का परम-प्रेम जिस भक्त में है, वह बिना भगवान के रह ही नहीं सकता; जो भगवान के प्रति प्रेम-रहित एक मात्र पल रह सकता है, उसमें यह परम-प्रेम नहीं होता है। भक्ति की उत्कृष्टता इस प्रकार की है। ऐसी भक्ति से युक्त भक्त भगवान को प्राप्त कर लेता है और राग तथा मृत्यु को पार करता है।

तैत्तिरीय-उपनिषद् के अनुसार, भगवान का वास्तविक स्वरूप इस प्रकार है — "*ब्रह्म परम सत्, शुद्ध चेतना और अनन्त* (*देश, काल और वस्तुओं से न सीमित*) *है।*"[3] इस प्रकार परब्रह्म निर्गुण है। किसी वस्तु के अच्छे गुण उस वस्तु के प्रति प्रीति को उत्पन्न करते हैं। चूँकि ईश्वर निर्गुण है, कोई उससे प्रेम कैसे करे? यद्यपि परब्रह्म स्वरूपतः निर्गुण है, तथापि अद्भुत गुणों सहित प्रकट होते हैं जो पूरी तरह से भक्ति की सुविधा देते हैं। प्रभु ने कहा है — "*यद्यपि मैं जन्म-रहित, स्वभावतः अव्यय ज्ञान-शक्ति से सम्पन्न और प्राणियों का स्वामी हूँ, तथापि मैं अपनी प्रकृति को वश में लेकर, अपनी ही माया द्वारा जन्म लेता हूँ।*"[4] वेद सिखाता है, "*वह जो अजन्मा है, कई प्रकारों से प्रकट होता है।*"[5] इस प्रकार, इसे स्वीकार किया जाना चाहिए कि भगवान अवतार

---

[1] मोहमुद्गर 7

[2] नारद-भक्ति-सूत्र 1.2

[3] तैत्तिरीय-उपनिषद् 2.1.1

[4] भगवद्गीता 4.6

[5] तैत्तिरीय-आरण्यक 3.13.1

लेते हैं। उनके अवतार उनकी लुभावनी लीलाएँ हैं। भगवान क्यों अवतार लेते हैं? प्राणियों को लाभ पहुँचाने के लिए। ऐसा कहा जाता है — *"परोपकार और कैवल्य अवस्था में रहना — इन दोनों को तोलने के बाद, भगवान इस प्रकार का निष्कर्ष निकाल कर कि इन दोनों में परोपकार ही अधिक गुरुतर है, उन्होंने दस बार अवतार लिया।"*[1] यह भी कहा जाता है, *"जिस मानव का जीवन बिना परोपकार के रहता है, ऐसे जन्म का धिक्कार हो! पशुएँ जीवित रहें; यहाँ तक कि उनका चर्म भी काम आता है।"*[2] जो किसी की सहायता नहीं करता है, उसका जीवन सरासर व्यर्थ है; एक पशु उससे बहुत श्रेष्ठतर है, क्योंकि वह अपनी मृत्यु के बाद भी उपयोगी बने रहता है। प्रभु तो दयामूर्ति है।

उनकी दया के लिए महाभारत में एक उदाहरण है। द्वारका में कृष्ण अपने महल में थे। उस समय हस्तिनापुर में, दुर्योधन के आदेश पर, दुःशासन ने द्रौपदी को अपने निजी निवास से सभा में खींच लाया और उसे लज्जित करने के लिए, उसके वस्त्र उतारने लगा। कृष्ण के बड़ी भक्ता होने के कारण, उसने अपनी रक्षा करने के लिए, उनको पुकारा — *"हाय कृष्ण, हे द्वारका वासी, हे यादवों के नन्दन, आप कहाँ हैं? आप मेरी उपेक्षा क्यों कर रहे हैं, जिसने इस अवस्था को प्राप्त किया है जहाँ पर मेरी रक्षा करने वाला कोई नहीं है?"*[3] प्रभु का हृदय पिघल गया। उन्होंने किसी भी सम्भावित असुविधा के बारे में नहीं सोचा। उन्होंने किसी को सूचित करने की प्रतीक्षा नहीं की। वे तुरन्त द्रौपदी के पास गए और एक असाधारण ढंग से उसका सम्मान बचाए। फ़िर भी, उनकी अनुकम्पा ऐसी थी कि उन्होंने द्रौपदी के लिए जो कुछ किया, वे उससे सन्तुष्ट नहीं थे और तत्पश्चात् बोले, *"द्रौपदी ने 'हे गोविन्द' कहकर रोते हुए दूर स्थित मुझे बुलाया। इसलिए, उसके प्रति मेरा ऋण बहुत बढ़ गया व वह मेरा मन नहीं छोड़ता।"*[4]

ईश्वर के मनमोहक गुणों का उल्लेख करते हुए, भागवत-पुराण बताता है — *"यहाँ तक कि मुनि जो केवल आत्माराम हैं और सारे बन्धनों से मुक्त हैं (या,*

[1] सुभाषित (सुभाषित-रत्न-भाण्डागार, प्रकरण 2, परोपकारप्रशंसा 2)
[2] शार्ङ्गधर-पद्धति (नीति 59) 1478
[3] महाभारत (दाक्षिणात्य-पाठ) 2.61.47
[4] महाभारत 5.58.21

यहाँ तक कि ग्रन्थों का अध्ययन भी छोड़ दिए हैं) बिना किसी भी प्रकार की अपेक्षा के, भगवान पर भक्ति करते हैं। ईश्वर के गुण ऐसे उत्कृष्ट हैं।"[1]

भगवत्पाद जी की एक प्रार्थना है, "*मैं आपको क्या बताऊँ — जो भक्तों को वह प्रदान करने में कुशल हैं जो उनके पास नहीं है और उसे रक्षण करते हैं जो उनके पास है, जो अपने भक्तों को सभी श्रेय प्रदान करने की इच्छा रखते हैं, जो दृष्ट तथा अदृष्ट वाञ्छित साधनों के विषय में ज्ञान प्रदान करते हैं, जो अन्दर एवं बाहर से हर वस्तु में व्याप्त हैं, जो सर्वज्ञ और दयालु हैं? हे शम्भो, मैं निरन्तर इस बात को ध्यान में रखता हूँ कि आप मेरे अन्तरतम आत्मा हैं।*"[2] भगवान का प्यारा स्वभाव ऐसा ही है जैसा इस श्लोक में दर्शाया गया है।

ईश्वर के प्रति तीव्र एवं स्थिर प्रेम वह है जो पूर्व निर्दिष्ट भक्ति है। इसका एक नाम है 'साध्या-भक्ति', यानी सम्पादित भक्ति। भक्ति के नौ साधन हैं जो यहाँ तक ले जाते हैं। हम इन्हें भी भक्ति कहते हैं; मुख्य रूप से साधित भक्ति का उल्लेख करने के लिए, और गौण रूप से इसके उपायों के लिए, इस शब्द का उपयोग शास्त्र में किया जाता है।

भागवत-पुराण में प्रह्लाद का वचन है, "*भगवान की महानता के बारे में सुनना, उनकी प्रशंसा करना, उनके बारे में सोचना, उनकी पादसेवा करना, उनकी पूजा करना, उनका वन्दन करना, उनका सेवक होना, अपने आप को उनके मित्र रूप में देखना और आत्मसमर्पण करना — अगर भगवान के प्रति इस नवविध भक्ति किसी भी व्यक्ति द्वारा बिना किसी अपेक्षा के — उसी समय से जब इसके बारे में उसे सिखाया जाता है — अभ्यास किया जाता है, तो मेरा मानना है कि वह सबसे उत्तम अध्ययन है।*"[3]

(इन नौ भक्ति-साधनों में से पहला) 'श्रवण' नाम से कहा जाता है; यह प्रभु की महिमा को उजागर करने वाले भागवत-पुराण जैसे ग्रन्थों को श्रद्धापूर्वक सुनना है। ऐसा श्रवण भगवान के प्रति प्रीति को बढ़ाता है। हम निष्प्रयोजक विषयों पर अपना बहु मूल्य समय व्यतीत करते हैं। ऐसा करके हम न इस

[1] भागवत-पुराण 1.7.10

[2] शिवानन्द-लहरी 35

[3] भागवत-पुराण 7.5.23, 24

लोक में और न परलोक में कुछ भी भलाई प्राप्त करने वाले हैं। इसके विपरीत, यदि हम भागवत-पुराण जैसे भगवान के बारे में बताने वाले ग्रन्थों की ओर मुड़ते हैं, तो हम न केवल प्रभु के प्रति अपनी भक्ति को विकसित करते हैं, किन्तु यह भी सीखते हैं कि अपने जीवन को सार्थक रूप से कैसे बिताया जाए और किस प्रकार सांसारिक भोग वास्तविक रूप से रसहीन हैं।

इसे प्राप्त करने के लिए कि जो हमारे लिए सचमुच भला है, शास्त्रों में विभिन्न आध्यात्मिक साधनाओं का निर्देश किया गया है। जबकि कलि-युग में, जो वर्तमान कालखण्ड है, लोगों के लिए इनका यथावत् पालन करना कठिन है; उनमें से एक, 'कीर्तन' (नौ साधनों में से दूसरा) वास्तव में आसान है और प्रभावशाली भी। प्रभु के नामों का जाप करना इसके अन्तर्गत है। विष्णु-पुराण में कहा गया है, "*मानव जो कुछ — ध्यान के द्वारा कृत-युग में, यागों के द्वारा त्रेता-युग में और पूजा के माध्यम से द्वापर-युग में — प्राप्त कर लेता है उसी को कलि-युग में भगवान के नामों का जप करके प्राप्त करता है।*"[1] युग बीतते बीतते, मनुष्य की क्षमता घटती रही और इसलिए, लोगों ने उत्तरोत्तर सरल साधनों को अपनाया। हालाँकि, अन्त में जो फल प्राप्त होना है, वह नहीं बदला और यह समझ हमारी दृष्टि से कभी भी हटना नहीं चाहिए।

'कीर्तन' का अर्थ केवल भजन का गायन नहीं है, किन्तु हमें उपदिष्ट मन्त्र का जप करना भी है। मनु-स्मृति के अनुसार, "*ब्राह्मण जप से ही पूर्णता को प्राप्त करता है। इसके बारे में, कोई सन्देह नहीं है। चाहे वह कर्माचरण और ऐसे अन्य कार्यों में संलग्न हो या नहीं। वह जो प्राणियों का मित्र है (इसलिए कि जप करने से किसी को उपद्रव नहीं पहुँचता है), परमात्मा के साथ जुड़ा हुआ कहा जाता है।*"[2] भागवत-पुराण में कहा गया है, "*हे राजन, इस दोषपूर्ण कलि-युग में एक महान गुण है। केवल भगवान की स्तुति करके ही व्यक्ति आसंग से मुक्त हो जाता है और भगवान तक पहुँच जाता है।*"[3] इससे यह स्पष्ट होता है कि यदि हम कीर्तन में संलग्न रहेंगे, तो हम सांसारिक बन्धनों से मुक्त हो जाएँगे। हालाँकि, कीर्तन में संलग्न रहते हुए, हमें कभी भी अपने शास्त्र-विहित

[1] विष्णु-पुराण 6.2.17

[2] मनु-स्मृति 2.87

[3] भागवत-पुराण 12.3.51

कर्तव्यों की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। यदि हम अपने कर्तव्यों का पालन नहीं करते हैं, तो ईश्वर के नाम-जाप और मन्त्र-जप यथावत् फलित नहीं होते हैं।

अपने कर्तव्यों से च्युति 'नामापराध' मानी जाती है, जो भगवान के नाम-जाप से सम्बन्धित अपराध है। यह कहा जाता है — "*महान व्यक्तियों का दोषान्वेषण करना* (i)*; असत पुरुषों को भगवान के नाम की महानता का उपदेश देना* (ii)*; शिव और विष्णु को एक दूसरे से भिन्न मानना* (iii)*; वेदों, शास्त्रों और गुरु के शब्दों में विश्वास का अभाव* (iv, v, vi)*; ऐसा भ्रमित होना कि ईश्वर की महिमा के बारे में जो कुछ सिखाया गया है, वह तथ्यात्मक नहीं है* (vii)*; शास्त्र-निषिद्ध जो है, उसे करना और जो शास्त्र-विहित है, उसे अनुष्ठान करने से चूकना, ऐसे सोचते हुए कि भगवान के नाम के होते हुए, इस प्रकार के निषिद्ध-आचरण और विहित-अकरण से कोई दोष नहीं है* (viii, ix)*; और शङ्कर व हरि के नाम-जाप को अन्य धर्मों के समतुल्य करना* (x) *— ये दस नामापराध हैं, जो भगवान के नामों के जाप से जुड़े अपराध हैं।*"[1] यह कहा जाता है, "*तृण से भी विनम्र, वृक्ष की अपेक्षा सहिष्णु, दूसरों का सम्मान करने वाले और अहंकार से मुक्त व्यक्ति द्वारा (ईश्वर के नामजाप द्वारा) भगवान की निरन्तर स्तुति की जानी चाहिए।*"[2]

उक्त तीसरा साधन है 'स्मरण', माने भगवान को मन में रखना। योग-सूत्र का उपदेश है, "*ॐ-कार (ईश्वर के नाम) को दोहराने और जिस तत्त्व को वह दर्शाता है, उसका ध्यान करने से (साधक का मन एकाग्र बन जाता है)।*"[3] भगवान कृष्ण कहते हैं, "*जो सदा मेरे अनन्य प्रेमी हैं और जो मुझसे अलग न होकर ध्यान युक्त होते हुए सर्वत्र मेरी पूजा करते हैं — उनके लिए मैं वह प्रदान करता हूँ जो उनके पास नहीं है व उसका रक्षण करता हूँ जो उनके पास है।*"[4]

भागवत-पुराण में कहा गया है — "*मुकुट पर मोर के पङ्खों के आभूषण, कानों पर कर्णिकार फूल, सुनहरे पीले रंग का वस्त्र और वैजयन्ती माला धारण किए*

[1] भगवन्नाम-भूषण, भगवन्नामामृत-रसोदय, उल्लास 6 में उल्लिखित

[2] शिक्षाष्टक 3

[3] योग-सूत्र 1.28

[4] भगवद्गीता 9.22

हुए, श्रेष्ठ नर्तक के समान शरीर वाले और गोपियों की भीड़ द्वारा गाई गई महिमा वाले उन्होंने (कृष्ण ने), अपने होठों के अमृत से बाँसुरी के रन्ध्रों को भरते हुए, अपने चरणचिह्नों से मनोहर बनाए वृन्दावन में प्रवेश किया।"[1] इस प्रकार ईश्वर का चिन्तन किया जा सकता है; भगवान का चिन्तन करना 'स्मरण' के अन्तर्गत है।

भक्ति का अगला रूप 'पाद-सेवन' है, यानी भगवान के चरण-कमलों की सेवा करना। भगवान की सेवा करना और पवित्र नदियों में — जैसे कि भगवान के चरणों से निर्गत कहलाने वाली गंगा में, और यमुना में, जिसमें कृष्ण ने अपनी लीला की — स्नान करना इस प्रकार की भक्ति के अन्तर्गत हैं।

'अर्चना' माने पूजा, भक्ति का अगला रूप है। ईश्वर की मूर्तियों की पूजा शास्त्रोक्त प्रकार करनी चाहिए। पूजा उन मूर्तियों की नहीं की जानी चाहिए जिनमें 'प्राण-प्रतिष्ठा, यानी भगवान की उपस्थिति का आवाहन' नहीं किया गया हो। कहा जाता है, "*जिन मूर्तियों में प्राण-प्रतिष्ठा नहीं की गई है, वे पवित्रता-रहित होती हैं। केवल सोने और ऐसे वस्तु में कोई विष्णुत्व नहीं है।*"[2] एक व्यक्ति अपने भावचित्र से स्वयं को आसानी से जोड़ लेता है। ईश्वर विशेष रूप से अपनी एक मूर्ति में उपस्थित हैं जिसमें प्राण-प्रतिष्ठा की गई है।

एक प्रश्न उठ सकता है — भगवान के सर्वव्यापी होने पर भी, मूर्ति की पूजा क्यों की जानी चाहिए? एक पशुवैद्य यह लिख सकता है कि कुछ औषधि को घी के साथ मिलाया जाए और अस्वस्थ गाय को दिया जाए। "घी केवल दूध का उत्पाद है और गाय के भीतर भरपूर दूध पहले से ही स्थित है" — इस सोच के आधार पर, बिना घी से मिश्रित किए, उस औषधि को गाय को देने से काम नहीं चलेगा। इसी तरह, यद्यपि भगवान सर्वत्र विद्यमान हैं, फ़िर भी वे विशेष आशीर्वाद तब प्रदान करते हैं जब विधिवत् प्रतिष्ठित मूर्ती में उनकी पूजा की जाती है। अगर हमारे साथ कोई मूर्ति नहीं है या हमारे पास मूर्ति-पूजा करने की क्षमता नहीं है, तो क्या करना चाहिए? मेरे गुरुजी (जगद्गुरु श्री

[1] भागवत-पुराण 10.21.5

[2] कालिका-पुराण 91.10

चन्द्रशेखर भारती महास्वामी जी) ने कहा है कि कोई अवश्य मन्दिर में जाकर वहाँ पूजा कर सकता है।

प्रभु की पूजा करना वास्तव में बहुत आसान है। प्रभु ने कहा है, "*जो कोई भक्ति से मेरे लिए एक पत्ता, एक फूल, एक फल या जल समर्पित करता है — जो कि शुद्ध मन से भक्तिपूर्ण की गई है, मैं उसे स्वीकार करता हूँ।*"[1] *मृत्युञ्जय-मानस-पूजा-स्तोत्र* (महादेव की मानसिक पूजा विधान का स्तोत्र), *देवी-मानस-पूजा-स्तोत्र* (देवी की मानसिक पूजा विधान का स्तोत्र) आदि हमें मानसिक रूप से भगवान की पूजा विधान का मार्गदर्शन देने के लिए रचित किए गए हैं, भले ही पूजा की कोई भौतिक वस्तु न हो।

फ़िर 'वन्दन', माने नमन की बात की जाती है। यह पूजा का एक अङ्ग अवश्य है। फ़िर भी, इस बात को मन में रखते हुए कि ईश्वर सर्वत्र विद्यमान है, किसी भी समय उन्हें साष्टाङ्ग प्रणाम — कायिक, वाचिक और मानसिक रूप से — किया जा सकता है। भक्ति साहित्य में इसे 'वन्दन' के रूप में स्वीकार किया गया है। ईश्वर के विश्वरूप को देखकर, अर्जुन ने भगवान को अपना नमन यह कहते हुए अर्पित किया, "*पूर्वी दिशा में और पश्चिमी दिशा में आप के लिए नमन हो। हे सर्व, सभी ओर से आप को प्रणाम हो।*"[2]

भक्ति का अगला रूप है 'दास्य', अर्थात् अपने आप को भगवान के सेवक के रूप में देखना। प्रभु की घोषणा है, "*वेद और स्मृति मेरी आज्ञाएँ हैं।*"[3] इसलिए, हमें श्रुति और स्मृति को उनकी आज्ञा माननी चाहिए और श्रद्धा सहित अनुष्ठान करना चाहिए जो हमारे लिए विहित है। इसके अतिरिक्त, ईश्वर के इस निर्देश को ध्यान में रखते हुए — "*हे कुन्ती-पुत्र, तुम जो कुछ भी करते हो, जो कुछ भी खाते हो, जो कुछ भी यज्ञ में समर्पित करते हो, जो भी दान देते हो व जो भी तपस्या करते हो, उन सबको मेरे लिए समर्पण के रूप में करते रहो*"[4] — हमें सब कुछ भगवान को समर्पित करना चाहिए।

[1] भगवद्गीता 9.26
[2] भगवद्गीता 11.40
[3] विष्णुधर्म 74.30
[4] भगवद्गीता 9.27

दास्य भक्ति की यह एक प्रार्थना है — "*हे परमशिव, आप श्मशान में या विश्व से परे क्षेत्र में अथवा कैलास में या मेरु पर्वत के शिखर पर घूम सकते हैं। लेकिन कृपया मुझे अपने पास रखिए और मुझे अपने सेवकों का सेवक बनाइए।*"[1]

भक्ति का अगला रूप है 'सख्य', माने अपने आप को भगवान के मित्र के रूप में देखना। जब हम ऐसी भक्ति के साथ लगे रहते हैं, तो ईश्वर के प्रति हमारा अनुराग दृढ़ होता जाता है। हम अपने एक निकट मित्र से नहीं डरते; वह तो हमें सुखी रहने में सहायता करना चाहता है। एक भक्त और भगवान के बीच मित्रता के सम्बन्ध में भी यह देखा जाता है।

अन्तिम प्रकार की भक्ति है 'आत्म-निवेदन', यानी अपने आप को ईश्वर को पूर्ण रूप से समर्पित कर देना; यह ऐसे ज्ञान में पराकाष्ठा प्राप्त करता है कि हम दोनों अलग-अलग नहीं हैं व परब्रह्म के अतिरिक्त हम कोई और नहीं हैं। एक नदी के सागर में विलय होने के बाद, इसकी अपनी कोई अलग पहचान नहीं होती; जो नदी थी वह सागर बन जाती है और केवल सागर बने रहता है। जो सर्वोच्च के साथ पूर्णतया विलय हो जाता है, वह तत्पश्चात् केवल परब्रह्म ही बने रहता है।

भगवान ने भगवद्गीता में कहा, "*हे भरत वंशज, अपने सर्वभाव से उनकी शरण लो। उनकी कृपा से तुम परम शान्ति और शाश्वत स्थान प्राप्त करोगे।*"[2] इतना ही नहीं, ऋषियों का दृष्टिकोण इस प्रकार है — "*सदैव इसके (सर्वोच्च के) बारे में चिन्तन करना, इसके बारे में बात करना, इसके बारे में एक-दूसरे को सिखाना, और इस पर पूरी तरह से तत्पर बने रहना — बुद्धिमान इसे मानते हैं ब्रह्म-ज्ञान का अभ्यास।*"[3]

हमें सब कुछ भगवान को समर्पित करना चाहिए और बिना किसी चिन्ता के रहना चाहिए। हम ऐसा करें, तो प्रभु स्वयं हमारी देखभाल करेंगे; वे हमें वह प्रदान करेंगे जो हमारे पास नहीं है, और जो हमारे पास है, उसे संरक्षित

[1] आत्मार्पण-स्तुति 45
[2] भगवद्गीता 18.62
[3] योग-वासिष्ठ 3.22.24

करेंगे। वे परब्रह्म का साक्षात्कार भी दे देंगे। हम जो अमर स्थिति चाहते हैं, वह हमारी होगी। परमात्मा को प्राप्त करना ही परम सिद्धि तथा सर्वोच्च कल्याण है।

4.2 शास्त्र की आवश्यकता का निरूपण

ईश्वर की सृष्टि में, मनुष्य ने पूर्णता प्राप्त कर ली है। सो किस पहलू में? आकार में तो नहीं; एक हाथी उससे बहुत बड़ा है। और न ही बल में, क्योंकि बहुत से पशु उससे अधिक शक्तिशाली हैं। क्या दुःख में हो सकता है? नहीं; यह सच नहीं है कि लोग पीड़ा की पराकाष्ठा को सहन कर सकते हैं। अगर दावा किया जाए कि सुख में मनुष्य सर्वोच्च है, तो उसे अविश्वसनीय कहते हुए, थोड़े में तिरस्कृत किया जाएगा। एक कवि का यह सटीक कथन है — "*हे हिरण, तुम न तो मोहक रूप से धनिकों की प्रशंसा करते हो, न ही बार-बार उनको देखने में अपनी आँखों से आमोद लेते हो। तुम अपने कानों में उनके घमण्डी बातों को नहीं लेते हो, न तो किसी आकाँक्षा से उनके पास जाते हो। इसके बदले, जब भूख लगती है तब तरुण घास खाकर अपने आप को तृप्त कर लेते हो और तन्द्रालु होने पर सो जाते हो। मुझे अवश्य बताओ की इतनी सन्तुष्ट होने के लिए तुमने कौन सी तपस्या की और कहाँ।*"[1]

क्या धनवान होने में मनुष्य की पूर्णता है? नहीं। यह विचार करना उचित है कि वास्तव में धन क्या होता है। नीलकण्ठ-दीक्षित ने स्पष्ट किया है, "*धन निश्चित रूप से सभी के लिए समान नहीं है। जो व्यक्ति जो चाहता है, वह उसके लिए धन है। जबकि नाना वस्तुएँ सामान्य लोगों के धन होते हैं, अकिञ्चनता विद्वानों का धन है।*"[2] जो कुछ भी किसी को प्रिय होता है, वह ही उसका धन होता है। इसलिए, समृद्ध घास से हरित चारागाह में स्वतन्त्र रूप से घास खाने वाले हिरण के लिए, धन की क्या कमी है?

[1] सुभाषित-सुधानिधि 2.1.36.22; कुवलयानन्द, व्याजस्तुति-अलंकार का उदाहरण

[2] (नीलकण्ठ दीक्षित जी का) वैराग्य-शतक 43

तो मनुष्य की पूर्णता का मूलाधार क्या है? वह ज्ञान है। मनुष्यों की तरह, पशु भी सन्तोष, वेदना, इच्छा और क्रोध का अनुभव करते हैं। हालाँकि, मनुष्यों से विलक्षण, वे पूरी तरह से ज्ञान के भण्डार प्राप्त करने में असमर्थ हैं। इस पर ऐसी एक आपत्ति की जा सकती है कि वे बहुत जानकार हैं, क्योंकि वे भोजन, विहार, निद्रा इत्यादि विचारों का ज्ञान रखते हैं। यह सच है कि पशु ऐसे परिज्ञान रखते हैं, लेकिन ज्ञान-भण्डार की परिभाषा इतने विचारों में ही सीमित होती, तो आपत्ति लगाने वाला व्यक्ति जैसा मनुष्य, पशुओं के समान ही होता। हालाँकि ज्ञान के उच्चतर श्रेणियाँ उपलब्ध हैं, जो मनुष्य द्वारा प्राप्त की जा सकती हैं, लेकिन उनके द्वारा नहीं।

मुण्डक-उपनिषद् सिखाता है, "*प्राप्त करने योग्य ज्ञान दो प्रकार का है — उच्च और निम्न।*"[1] उन दोनों में से, 'अपरा-विद्या' अर्थात् निम्न स्तर का ज्ञान, इहलोक एवं परलोक में सुख और दुःख पहुँचाने वाले कारणों पर प्रकाश डालता है। जिस प्रकार यन्त्रशास्त्र और वैद्यशास्त्र सार्वजनिक भलाई को बढ़ावा देते हैं, उसी तरह वेद द्वारा 'अपरा-विद्या' के विवरण के अन्तर्गत साधन वाञ्छित सांसारिक और स्वर्गीय फल प्रदान करते हैं। उदाहरणार्थ, वेद का एक निर्देश है, "*वर्षा चाहने वाला कारीरी यज्ञ करे।*"[2] एक और विधि है, "*स्वर्ग चाहने वाला ज्योतिष्टोम यज्ञ करे।*"[3] केवल इसलिए कि पशुओं में ऐसा ज्ञान नहीं है, मनुष्य को उनसे श्रेष्ठ नहीं माना जा सकता है। अन्ततोगत्वा, 'अपरा-विद्या' केवल उस आनन्द प्राप्ति के लिए है जो नश्वर है। केवल अपने ज्ञान के विस्तार और बहुसंकेतन के आधार पर, परलोक के और इस लोक के विषयों के बारे में अधिक जानकार ही पशुओं की तुलना में मनुष्य की श्रेष्ठता मानने के लिए पर्याप्त हो, तो अपना बृहत परिमाण और बहुसंकेतन के आधार पर, एक भूसी के ढेर को एक हीरे के टुकड़े की अपेक्षा श्रेष्ठ मानना होगा! विज्ञान की जानकारी मनुष्य को सबसे महान नहीं बनाता है। दूसरी ओर, वह उस ज्ञान के कारण पूर्णता प्राप्त करता है जो ये प्रश्न — जैसे कि, "क्या मैं शरीर हूँ या उससे अतिरिक्त? अगर अलग हूँ, तो क्या मैं शाश्वत हूँ या नश्वर? क्या मैं

[1] मुण्डक-उपनिषद् 1.1.4

[2] आपस्तम्ब-श्रौतसूत्र 19.25.16 (अज्ञात श्रुति इसका मूल है)

[3] आपस्तम्ब-श्रौतसूत्र 10.2.1 (अज्ञात श्रुति इसका मूल है)

आनन्द-स्वरूपी हूँ या दुःख-स्वरूपी? इस दृश्यमान विश्व और मेरे बीच का क्या सम्बन्ध है?" — इनके उत्तर प्रदान करता है।

मुण्डक-उपनिषद् आगे पढ़ाता है, "*फ़िर वह उच्च ज्ञान है जिसके द्वारा अक्षर तत्त्व का साक्षात्कार होगा।*"[1] यह ज्ञान पशुओं में उत्पन्न नहीं होता है। इसके अतिरिक्त, अन्य ज्ञान के प्रकार — जो भविष्य में अज्ञान के लिए अवकाश दे सकते हैं — उनके विपरीत, यह ज्ञान सदैव भ्रम को समाप्त कर देता है। कठ-उपनिषद् कहता है, "*इसे जानने के बाद, वह व्यक्ति मृत्यु की मुट्ठी से मुक्त हो जाता है, जिसमें अज्ञान, इच्छा और कर्म सम्मिलित हैं।*"[2] इस ज्ञान को विचार-विमर्श द्वारा प्राप्त किया जाना चाहिए।

उक्त विचार-विमर्श को बिना आधार-शैल के करना असम्भव है। भौतिक विषयों में भी कुछ आधार पर जाँच करने की प्रथा है। हमें पृथ्वी से सूर्य की दूरी की गणना करने के लिए गणितशास्त्र पर निर्भर रहना होगा; गज-डण्डा से माप करने की आशा निरर्थक है। इस तरह, हमें उपनिषदों के माध्यम से आत्मा को समझना चाहिए और फ़िर, व्यक्तिगत रूप से उसका साक्षात्कार करना चाहिए। इसलिए, भगवत्पाद जी ने हमें निर्देश दिया है — "*परब्रह्म तथा जीवात्मा के अभेद ज्ञान विषयक शास्त्र-वचनों के तात्पर्य के बारे में विचार करें। उस तर्क की सहायता लें जो शास्त्र के दृष्टिकोण से सम्मत है।*"[3]

आत्मतत्त्व को केवल तर्क द्वारा निर्धारित नहीं किया जा सकता, क्योंकि तर्क में निश्चयात्मकता नहीं है। एक ब्रह्म-सूत्र इस प्रकार प्रारम्भ होता है, "*चूँकि तर्क अनिर्णायक है ... ।*"[4] तर्क के माध्यम से आज हमारे द्वारा सही दिखाए जाने वाले विषय को, कल दूसरे के द्वारा दोषयुक्त सिद्ध किए जाने का अवसर होता है। वाचस्पति मिश्र जी प्रणीत (वाक्यपदीय का) श्लोक (सहमति से भामती में) उद्धृत है — "*जो कुछ निपुण तार्किकों द्वारा अति परिश्रम से प्रदर्शित किया गया है, वह उनसे भी निपुणतर तत्वर्दियों द्वारा अन्यथा सिद्ध किया जाता है।*"[5]

---

[1] मुण्डक-उपनिषद् 1.1.5

[2] कठ-उपनिषद् 1.3.15

[3] उपदेश-पञ्चक 3

[4] ब्रह्म-सूत्र 2.1.11

[5] वाक्यपदीय 1.34, ब्रह्म-सूत्र 2.1.11 पर भामती में उल्लिखित

हमारा अनुभव इस श्लोक के अनुरूप है। तर्क मात्र की निर्णायकता के विरोधी के सम्बन्ध में रघुनाथ शिरोमणि (न्याय-ग्रन्थ दीधिति के कर्ता) इस प्रकार जोड़ते हैं — *"यहाँ तक कि जब मैं, प्रत्यय-कुशल रघुनाथ, अपने प्रतिपादन को आगे बढ़ाता हूँ, विद्वानों के समुदाय को, जो कुछ भी उन्होंने सर्वसम्मति से सही या त्रुटिपूर्ण घोषित किया था, उस विषय पर उन्हें अपने वक्तव्य का उलट करना चाहिए।"*[1]

इसलिए, उपनिषदों को आधार मानते हुए, तर्क की सहायता से आत्मा को जानना चाहिए। आत्म-साक्षात्कार से मनुष्य उस परब्रह्म को प्राप्त करता है, जो आत्मतत्त्व से भिन्न नहीं है और जिसके बारे में शास्त्र में इस प्रकार कहा जाता है — *"वह परब्रह्म अनन्त है; इस विश्व से उपहित ब्रह्म भी अनन्त है।"*[2] ब्रह्मीभूत बनकर रहना सच्ची पूर्णता का लक्षण है।

आपत्ति — उपनिषद् अनावश्यक हैं

क्या हमें इस पूर्णता को चाहना है, जिसका लक्षण है परब्रह्म से एकीभाव? यदि हम चाहते भी हैं, तो क्या हमें उस लक्ष्य प्राप्त करने के लिए, उपनिषदों के तात्पर्य को गुरु से श्रवण द्वारा जानकर, फ़िर उस पर चिन्तन करना चाहिए? ऐसे प्रश्न उठ सकते हैं।

हर कोई अपनी अभीष्ट वस्तु को प्राप्त करने के लिए प्रयास करता है और जिस विषय पर उसे घृणा है, जिसे अनिष्ट कहा जाता है, उससे बचने के लिए भी प्रयास करता है। यद्यपि हम विष और बाघ जैसे कई वस्तुओं और प्राणियों के प्रति घृणा रखते हैं, तथापि उनके प्रति हमारी अरुचि स्वाभाविक नहीं रहती है। हम उन्हें अनादर भाव से इसी कारण देखते हैं कि हमें उस दुःख का भय है जिसको वे हम में पैदा कर सकते हैं। हम स्वाभाविक रूप से जिसके प्रति घृणा करते हैं, वह केवल दुःख है। हम सदैव उस पर घृणा करते हैं और उससे छुटकारा पाने की दिशा में हमारा अधिकांश प्रयास रहता है। दुःख न होता तो आत्मतत्त्व का बोध कराने वाला शास्त्र अनावश्यक होता। दुःख के होते हुए, अगर मनुष्य इसे घृणा नहीं करता या तो इसे पार करने की

[1] दीधिति

[2] बृहदारण्यक-उपनिषद् 5.1.1

इच्छा नहीं करता, तो भी शास्त्र व्यर्थ होता। इतना ही नहीं, अगर मनुष्य दुःख से छुटकारा चाहता है, लेकिन दुःख का नाश असम्भव है, तो भी शास्त्र असंगत होता। ऐसी असम्भावना दो प्रकार की हो सकती है। तार्किकों के अनुसार, आकाश स्वभावतः शाश्वत है; वह अविनाशी होने के नाते, उसे नष्ट करने का उपाय है ही नहीं। आकाश की तरह दुःख शाश्वत होता, तो निश्चित रूप से उसे नष्ट करने की कोई सम्भावना नहीं होती। दूसरी प्रकार की असम्भावना तब होगी जब दुःख विनाश्य होगा, परन्तु हमें उसे मिटाने के साधनों की कोई जानकारी नहीं होती। अन्ततः, दुःख तो मिटाने योग्य होने पर भी, उपनिषद् निरर्थक होंगे, यदि उनके द्वारा जो प्रकट किया गया है, वह दुःख को नष्ट करने का साधन नहीं होता, अथवा यदि होता, तो भी अगर उसकी अपेक्षा दुःख विनाशी कुछ और आसान उपाय उपलब्ध होते।

आपत्ति का उत्तर

कोई यह नहीं कह सकता कि दुःख का अस्तित्व नहीं है। हर कोई इसका अनुभव कर रहा है और इससे छुटकारा पाने के लिए प्रयासरत भी है। शास्त्रों ने दुःखों को तीन प्रमुखों के अन्तर्गत वर्गीकृत किया है — आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक। इनमें आध्यात्मिक दुःख तो दो प्रकार के होते हैं — शारीर या शारीरिक और मानस या मानसिक। वात, पित्त और कफ़ के असन्तुलन के परिणामस्वरूप, ज्वर जैसे रोगों से होने वाला कष्ट शारीरिक दुःख है। काम, क्रोध, लोभ, भ्रम, भय, ईर्ष्या इत्यादि के कारण होने वाला दुःख मानसिक दुःख है। इन दो प्रकारों के दुःखों को आध्यात्मिक कहा जाता है, क्योंकि वे शरीर और मन के दोषयुक्त कार्यों पर आधारित हैं। आधिभौतिक दुःख उसे कहा जाता है जो वस्तुओं और प्राणियों से होने वाली पीड़ा है, जैसे कि विष, शत्रु और साँप इत्यादि से उत्पन्न होता है। आधिदैविक दुःख वह है जो दुष्ट भूतों इत्यादि और भूकम्प जैसी प्राकृतिक आपदाओं से उत्पन्न होता है।

हम इन तीनों प्रकार के दुःखों से छुटकारा पाने के लिए प्रयासरत रहे हैं, लेकिन अब तक हमारे प्रयास सफल नहीं हुए हैं। इस प्रकार, दुःखों की यह त्रयी विद्यमान है और मनुष्य इसे मिटाना चाहता है। दुःख को पूरी तरह से मिटाया जा सकता है और शास्त्र द्वारा वर्णित साधन ऐसा करने के लिए समर्थ हैं।

(**प्रति-आक्षेप** -) इन सबके होते हुए भी, शास्त्रों की सहायता लेना अनावश्यक है। शास्त्रों में कहा गया है कि किसी भी व्यक्ति को आत्म-साक्षात्कार प्राप्त करके, दुःखों से छुटकारा पाना चाहिए। वे बताते हैं कि ऐसी अनुभूति को प्राप्त करने के लिए, उन्हें इन साधनों से सम्पन्न होना चाहिए, जो कि विवेक, वैराग्य, छह गुणों का समुच्चय — यानी मन का निग्रह, इन्द्रियों का संयम, प्रत्याहार, सहनशीलता, श्रद्धा एवं एकाग्रता — तथा मुक्ति की लालसा; इन सम्पत्तियों को प्राप्त करने के बाद, उस व्यक्ति को आत्मा के बारे में श्रवण करना चाहिए, उस पर मनन करना चाहिए और दृढ़ता से उस पर ध्यान करना चाहिए। शास्त्र द्वारा दिखाया गया मार्ग कठिन है। क्यों? कठ-उपनिषद् में कहा गया है, "*स्वयम्भू भगवान ने बाहर जाने वाली इन्द्रियों को बिगाड़ा। इसलिए, कोई बाहरी विषयों को देखता है, न कि भीतर की आत्मा को।*"[1] अर्जुन ने भगवान से कहा, "*मैं मन के नियन्त्रण को वायु का निग्रह जैसे बहुत कठिन मानता हूँ।*"[2] इसलिए, दुःख से मुक्ति पाने के लिए, किसी को एक सरल मार्ग ढूंढ़ना चाहिए। इन तीन प्रकार के दुःखों के लिए, विश्व भर में प्रसिद्ध उपाय मिलते हैं। उन्हें लागू करना आसान है और इन्द्रियों और मन के दृढ़ संयम की आवश्यकता नहीं है। यह कहा जाता है, "*अगर अर्क के वृक्ष पर मधु मिल सकता है, तो उसकी खोज़ में किसी व्यक्ति को पहाड़ पर जाने की क्या आवश्यकता है? वाञ्छित वस्तु प्राप्त हो गई, तो कौन बुद्धिमान उसे प्राप्त करने का प्रयास करेगा?*"[3]

दैहिक दुःखों से निपटने के लिए, प्रतिष्ठित वैद्यों द्वारा निर्धारित कई उपचार उपलब्ध हैं। लालसाओं के पूरे न होने के कारण मानसिक दुःख पैदा होता है। यदि मन को वह सब प्रदान किया जाए जो वह चाहता है, तो मानसिक रूप वाला आध्यात्मिक दुःख नहीं होगा। इस प्रकार के आसुरी दृष्टिकोण से एक संकेत लेते हुए, "यह शत्रु मेरे द्वारा मारा गया है और मैं अन्य प्रतिपक्षियों को भी उखाड़ दूंगा," अगर एक शक्तिशाली व्यक्ति, अपनी इच्छाओं का

[1] कठ-उपनिषद् 2.1.1

[2] भगवद्गीता 6.34

[3] मीमांसा-सूत्र 1.2.4 पर शाबर-भाष्य में उल्लिखित

उपभोग करने के मार्ग में खड़े होने वाले लोगों को अपने वश में लेता, तो उसे क्रोध से उत्पन्न दुःख नहीं प्राप्त होता।

सांसारिक ज्ञान और हितकारी आचरणों के बारे में अध्ययन करने के बाद, कोई एक अपने आपको सम्भावित हानिकारक वस्तुओं और प्राणियों से सुरक्षित रख सकता है, और इस प्रकार, आधिभौतिक दुःख से बच सकता है। आधिदैविक दुःख के सम्बन्ध में तो बुरे भूतों इत्यादि के कष्टप्रद प्रभावों को, या तो स्वयंकृत अथवा औरों से कारित उचित मन्त्रों का जाप जैसे उपायों द्वारा समाप्त किया जा सकता है। इस प्रकार, ऐसे सरल उपाय हैं जिनके द्वारा सभी प्रकार के दुःखों को दूर किया जा सकता है। इनको अपनाकर, कोई भी अनायास दुःख से पूरी तरह छुटकारा पा सकता है। इसलिए, ऐसा लगता है कि परब्रह्म को उजागर करने वाले शास्त्रग्रन्थ अनावश्यक हैं।

(**प्रति-आक्षेप का खण्डन** -) रोगियों को सदैव स्वस्थ नहीं किया जा सकता है, भले ही दवाओं का सेवन और उपचार के अन्य पहलू यथोचित सही प्रकार क्यों न हो। सब वाञ्छित वस्तुओं को प्राप्त करके आनन्द लेना सम्भव नहीं है, और वैसे ही दुःख से छुटकारा पाना असम्भव है। इसके अतिरिक्त, तुष्टीकरण से उपशान्त की गई इच्छा तो लौट आती है। नियम तो यह है — "*कभी भी इच्छित वस्तुओं के उपभोग से, इच्छा उपशान्त नहीं होती। इसके बदले, वह केवल अधिक से अधिक बढ़ती ही रहती है, जैसे घी से आग।*"[1] प्रस्तापित उपायों को अपनाकर, कुछ समय के लिए आधिभौतिक और आधिदैविक दुःखों को दूर किया जा सकता है, लेकिन उन्हें सदैव मिटाया नहीं जा सकता।

इसलिए, सांसारिक साधनों से दुःख को निपटना अपेक्षाकृत सरल होते हुए भी, वे हमारी इच्छा को — जोकि हम कभी भी दुःखी नहीं होवें — पूरा करने में असमर्थ हैं। ऐसी स्थिति में, संसार-चक्र से मुक्ति पाने की इच्छा एक विरक्त व्यक्ति में उगती है। नीलकण्ठ-दीक्षित ने (थोड़े हास्य के साथ) कहा, "*सभी लोग घटत्व (जो सभी घटों में समान है) और घट के बीच नित्य-अनित्य विवेक*

[1] मनु-स्मृति 2.94

को समझते हैं। हालाँकि, सच्चा विवेक वह है जो शान्तिप्रद है; बाकी सब केवल अविवेक ही है।"[1]

उपनिषदों की आवश्यकता पर एक और आपत्ति है — "*यह हो सकता है कि शास्त्र द्वारा निर्धारित साधन सभी दुःखो को सदैव दूर करने में अक्षम हैं।*" इस विचार को विमर्श करने से पहले कि क्या सभी दुःखों को मिटा देने का सामर्थ्य शास्त्रोक्त उपायों में है, हमें पता लगाना चाहिए कि उन दुःखों का मूल कारण क्या है। अपने वास्तविक स्वरूप का अज्ञान दुःखों का स्रोत है और केवल आत्मा-परब्रह्म अभेद का साक्षात्कार ही उसे मिटा सकता है; इस विषय पर विवरण इस अवसर पर आवश्यक नहीं है। किसी के वास्तविक स्वरूप का सही ज्ञान उपनिषदों द्वारा उत्पन्न होता है और उस ज्ञान के उदय होने से, अज्ञान नष्ट हो जाता है और नारद जी के निम्नोक्त वाक्य के अनुसार, दुःख को पार किया जाता है — "*आत्म-ज्ञानी दुःख से पार हो जाता है।*"[2]

ज्ञान-प्राप्ति द्वारा अनन्त ब्रह्म से एकीभूत होना ही वास्तव में पूर्णता और सभी दुःखों के परम समाप्ति का प्रतीक है। इस ज्ञान को प्राप्त करने का उपाय स्पष्ट रूप से उन ग्रन्थों में बताया गया है जो परब्रह्म को प्रकट करते हैं। उदाहरणार्थ, यह कहा जाता है — "*मेरे प्यारे, आत्मा को साक्षात्कार किया जाना चाहिए, उसके बारे में श्रवण करना चाहिए, मनन करना चाहिए और दृढ़ता से ध्यान करना चाहिए।*"[3]

भगवत्पाद जी के अवतार के समय, यह वैदिक मत अतीव क्षीण हो गया था। केवल 32 वर्षों में, उन्होंने असाधु मतों का पूरे भारत से निर्मूलन कर दिया व वैदिक सिद्धान्त को उसके पूर्ण वैभव में उज्ज्वल कर दिया। भगवत्पाद जी सभी को आध्यात्मिक मार्ग पर चलने और पूर्णता प्राप्त करने की कृपा करें।

---

[1] (नीलकण्ठ दीक्षित जी का) वैराग्य-शतक 20

[2] छान्दोग्य-उपनिषद् 7.1.3

[3] बृहदारण्यक-उपनिषद् 2.4.5

4.3 आत्मा का अपरोक्ष ज्ञान

हमारे यहाँ कुछ क्षमताएँ हैं, जो मानव की अपेक्षा निम्न प्रजाति के प्राणियों में पूर्ण रूप से उपलब्ध नहीं हैं। इनमें से एक है विचार-विमर्श की शक्ति। यद्यपि वह पशुओं में मन्द प्रमाण में निहित है, फ़िर भी उनमें उदात्त तल तक विकसित नहीं हो सकती है। इसी में है मनुष्य की अपनी विशिष्टता।

हर शक्ति के परिणाम होते हैं और हम अपनी क्षमताओं का सही उपयोग करने की स्थिति में हैं। हमारे सोने के समय के अतिरिक्त, विचार-विमर्श की हमारी स्वाभाविक शक्ति, सामान्यतः किसी न किसी तरह से सदैव प्रकट होती रहती है। विचार-विमर्श सोच का पर्याय है। मनुष्यों में मीमांसा स्वाभाविक होती है। हमें यह पता लगाना चाहिए कि वास्तव में हमारे लिए विचार करने योग्य क्या है।

सामान्य रूप से, हम सार्थक विषयों पर एवं अप्रासंगिक लौकिक विषयों पर भी ध्यान देते हैं। भगवत्पाद जी ने सजग किया है, "*मनुष्य अपने कानों को किसी दूसरे की निन्दा सुनने के लिए उपयोग करता है, जो कि अपवादक व्यक्ति द्वारा मन भर किया गया है। निन्दित व्यक्ति उसके परिणाम से नष्ट नहीं हो जाता है, लेकिन जो अपने कानों से गालियाँ सुनता है, उसे व्यर्थ में बहुत पाप लग जाता है।*"[1] इसके अतिरिक्त, दूसरों की आपादित या वास्तविक विफलताओं को ध्यान में रखते हुए, हम लोगों के घरेलू विषयों और सम्पत्तियों के बारे में सोचते हैं। फ़िर भी, कोई भी विषय जिस पर हम ध्यान देते हैं, वह हमें सदैव प्रिय नहीं रहता है।

हममें से हर एक का केवल स्वयं के प्रति अटूट स्नेह है। जो स्वयं सदैव प्रिय होता है, उसे शास्त्रों में आत्मा कहा जाता है। कोई भी पदार्थ जो वर्तमान में इष्ट है, भविष्य में अनिष्ट बन सकता है और इसी तरह, जो वर्तमान में अरुचिकर है, वह भविष्य में इष्ट हो सकता है; हालाँकि आत्मा तो अब प्रिय है और ऐसा ही बनी रहेगी। किसी व्यक्ति को सामान्य रूप से प्रिय लगने वाली मिठाई तब अनचाही लगती है जब वह अस्वस्थ पड़ता है और अपनी

[1] प्रबोध-सुधाकर 59

भूख खो देता है। हो सकता है कि हमें अतीत में कुछ प्रिय हुआ हो, लेकिन अब अप्रिय हो; दूसरी ओर, हम अतीत में अपने आपसे प्यार करते थे और आज भी करते हैं। सामान्यतः, हम तीन अवस्थाओं का अनुभव करते हैं — जाग्रत, स्वप्न और गहरी नींद। उन सभी अवस्थाओं में, हर कोई अपने लिए प्रिय है। भगवत्पाद जी ने कहा है — *"जब तक कोई वस्तु किसी एक को सुख देती है, तब तक वह प्रिय बनी रहती है और दुःख के कारण होते समय, अप्रिय हो जाती है। एक वस्तु सदैव प्रिय या सदैव अप्रिय नहीं होती। कभी-कभी, जो अवाञ्छित है, वह प्रिय हो सकती है। इसके अतिरिक्त, जो बहुत प्रिय लगती है, वह अप्रिय हो सकती है। इसलिए, आत्मा सदैव सबसे प्रिय रहती है, जिसके प्रति प्रेम कभी कम नहीं होता।"*[1]

हमारे लिए जो स्वाभाविक रूप से विचारशील वाले हैं, यह मूर्खता की पराकाष्ठा है कि अपनी देखभाल न करना व अपने बारे में विचार-विमर्श न करना। जो अच्छी तरह से विदित है, उस पर विचार करने का कोई तात्पर्य नहीं है, जैसे कि भोजन करने से भूख शान्त हो जाती है। जो अत्यन्त अपरिचित है, उसके बारे में पूछताछ करना असम्भव है। हम जानते हैं कि हम विद्यमान हैं, लेकिन यह नहीं समझ पाए हैं कि हमारा मूलभूत स्वरूप क्या है। इसलिए, हम इस पर विचार-विमर्श करें।

ऐसे विमर्श करने हेतु एक उपयुक्त साधन महत्त्वपूर्ण है। वस्तुतः, एक साधन के बिना, कोई गतिविधि सम्भव नहीं है। जैसे, पैदल चलने के लिए, हमें पैरों की आवश्यकता होती है; विमान यात्रा करने के लिए, एक विमान की आवश्यकता होती है। जो एक विमान बनाने की क्षमता रखता है, वह उसे बनावें, उस विमान में चढ़ें और उसके माध्यम से, विमान यात्रा करने की अपनी इच्छा पूरी करें। विमान नाना प्रकार के हो सकते हैं व उनके सञ्चालन का व्यय भी भिन्न हो सकता है; लेकिन उनके लिए विमान यात्रा के साधन के रूप में योग्यता प्राप्त करने के लिए, यह आवश्यक है कि वे उड़ान भरने में सक्षम हों। एक व्यक्ति जो एक विमान बनाने की स्थिति में नहीं है, वह दूसरे द्वारा प्रदान किए गए विमान के माध्यम से उड़ान भरने की अपनी अभिलाषा

[1] शतश्लोकी 10

को पूरी कर सकता है। इस प्रकार, एक साधन — या तो हमारा अपना अथवा दूसरे द्वारा दिया गया — आवश्यक है; उसके माध्यम से, हम जो चाहते हैं उसे प्राप्त कर सकते हैं। भगवत्पाद जी के ग्रन्थ हमारे लिए विचार-विमर्श करने के साधन हैं; उन्होंने उसमें आत्मा के स्वरूप का वर्णन किया है।

सत्य को उजागर करने के लिए, महापुरुषों द्वारा अपनाई जाने वाली विधियों के बारे में सुरेश्वराचार्य जी लिखते हैं — *"जिस प्रक्रिया से कोई व्यक्ति आत्मा का ज्ञान प्राप्त करता है, वही उसके लिए ठीक है; और वह प्रक्रिया कड़ाई से निर्धारित नहीं है।"*[1]

आत्मा का स्वरूप

भगवत्पाद जी ने सिखाया है — *"अपनी यह आत्मा को इस प्रकार जानो कि जो स्वयंज्योति-स्वरूपी है, नित्य-आनन्द के रूप में हृदय में प्रकाशमान है और जो विभिन्न प्रकारों एवं विकारों वाले अहंकार आदि की साक्षी है, जो सबसे आन्तरिक सत्त्व के रूप में सर्वकाल एकरस से प्रकाशमान रहती है, जो विषय नहीं होती है और जो जाग्रत, स्वप्न और गहरी नींद की अवस्थाओं में अपने आपको अतिस्पष्ट रूप से प्रकट करती है।"*[2]

यह शिक्षण हमें बहुत आश्चर्यचकित करता है, क्योंकि यह हमारे अनुभव से विलक्षण है। हम सन्तोष, पीड़ा, मृत्यु और पुनर्जन्म से प्रभावित हैं। कई दुःख — *आध्यात्मिक, आधिभौतिक* और *आधिदैविक* प्रकार के — हमें अपनी पकड़ में बनाए रखते हैं। तो, लगता है कि यह श्लोक हमारा उपहास करता है जैसे किसी भिखारी को सम्राट कहकर चिढ़ाया जाए। फ़िर भी, विवेक-चूड़ामणि में इस श्लोक को हमारा उपहास करने के लिए लिखे जाने का कोई प्रश्न ही नहीं है। इसके कर्ता, भगवत्पाद जी निम्नोक्त प्रकार के व्यक्ति थे — *"शान्त स्वभाव वाले महान हैं, जो वसन्त ऋतु की तरह लोगों के लिए हित करते हुए चलते फ़िरते रहते हैं। स्वयं भयानक संसार-सागर को पार करने के बाद, वे बिना किसी भी हेतु के, दूसरों को भी पार कराते हैं।"*[3]

---

[1] बृहदारण्यक-भाष्य-वर्तिका 1.4.402

[2] विवेक-चूडामणि 219

[3] विवेक-चूडामणि 39

एक भिखारी को चिढ़ाते हुए सम्राट कहे जाने वाले उदाहरण से विलक्षण, एक और विषय है जो कि यहाँ पर संगत है। परिस्थितियों के कारण, एक राजकुमार वनवासियों के बीच बढ़ रहा था। एक दिन, एक हस्तरेखा विशेषज्ञ ने उसकी हथेली की जाँच की और कहा, "आप एक राजकुमार हैं और एक सम्राट बन जाएँगे।" ये शब्द उस समय बनाव ठनाव प्रतीत होते थे, लेकिन बाद में उनकी सत्यता स्पष्ट निकल आई। हमारे निजी स्वभाव के बारे में भगवत्पाद जी के उपर्युक्त प्रबोधक श्लोक के शब्द भी ऐसे ही हैं; जब तक हम इस बात से अनभिज्ञ हैं कि हम वास्तव में कौन हैं, तब तक हमें केवल वही वचन आसानी से आकर्षित होंगे जो हमारी मिथ्या प्रतीतियों के अनुरूप हैं।

भिन्न होने का कारण

हम आत्यन्तिक-सत्, शुद्ध-चित् और परम-आनन्द होने पर भी, इस संसार का अनुभव क्यों करते हैं? विवेक-चूडामणि में बताया गया है — "*तमस से पूरी तरह से आच्छादित होने के नाते, एक प्रज्ञावान, शास्त्र-पण्डित, विमर्श-चतुर और अति सूक्ष्म-दृष्टि वाला व्यक्ति भी, स्पष्ट रूप से आत्मा को नहीं जानता है, चाहे उसके बारे में अनेक प्रकार से शिक्षित क्यों न हो। वह उसीको सही मानता है जो भ्रान्ति से आरोपित है और अपने आपको उसके गुणों से जोड़ता है। हाय! अनर्थकारक तमस की छिपाने की शक्ति प्रबल है।*"[1]

अपने स्वरूप का अज्ञान ही *अविद्या* है। *अविद्या* की दो शक्तियाँ हैं — *आवरण-शक्ति,* या छुपाने की शक्ति, और *विक्षेप-शक्ति,* या काल्पनिक वस्तु को सच दिखाने की शक्ति। आवरण तो आत्मतत्त्व के सही ज्ञान को प्रतिबन्धित करता है। विक्षेप-शक्ति के कारण, छिपी हुई आत्मा में कई प्रकार के रूप देखे जा सकते हैं। विक्षेप के मारे — जीवभाव, कर्तृत्वभाव और भोक्तृत्वभाव, साथ ही अहंकार, ममता इत्यादि — आत्मा में प्रकट होते हैं। ये सब दुःख के कारण हैं और संसार-चक्र बनते हैं। क्या ऐसा कोई मार्ग है जो इस संसार को समाप्त करता हो? क्या संसार-चक्र को समाप्त किया जा सकता है? इस सम्बन्ध में आगे विचार करेंगे।

---

[1] विवेक-चूडामणि 116

बन्धन का मिथ्यात्व; ज्ञान इसका अन्तक

विश्व में केवल दो प्रकार के पदार्थ होते हैं — वास्तविक और मिथ्याभूत। हमारी समझ भी दो प्रकार की है — *प्रमा*, माने सही ज्ञान, और *भ्रम*, याने मिथ्या ज्ञान। वेदान्त सिद्धान्त के अनुसार, धुँधलेपन में शुक्तिका को भूल से चाँदी के टुकड़े के रूप में देखे जाने के समय, भ्रमात्मक चाँदी वहाँ उत्पन्न होती है। इस दृष्टिकोण का एक समर्थन यह है कि उस चाँदी का नाश करने वाले तो केवल शुक्तिका का ही सही ज्ञान है, न कि कोई शारीरिक क्रिया या ध्यान।

स्वाराज्य-सिद्धि ग्रन्थ में कहा गया है — "*सांसारिक बन्धन का कारण है अविद्या। उसे केवल ज्ञान से मिटाया जाता है, न कि जाल जैसे कार्यों से। क्या एक माला में किसी एक की भूल ग्रहण से उत्पन्न हुआ साँप, नमस्कार, मन्त्र-जप, औषधि इत्यादि साधनों से चला जाता है?*"[1]

आत्मा का वर्तमान बन्धन वास्तविक या स्वाभाविक हो, तो इसे ज्ञान द्वारा मिटाया नहीं जा सकता। हालाँकि, "*प्रकाश-स्वरूपी (देव) को जानने पर, सारे बन्धन नष्ट हो जाते हैं*"[2], "*इस प्रकार उसे जानने पर, कोई एक यहाँ अमर हो जाता है*"[3] — ऐसे शास्त्र वचन बताते हैं कि बन्धन से मुक्ति केवल ज्ञान से ही होती है।

जो वास्तविक है, उसे सदैव विद्यमान होना चाहिए। हालाँकि कर्तृत्व और भोक्तृत्व, एवं जाग्रत, स्वप्न और गहरी नींद की अवस्थाएँ, हर समय आत्मा के साथ साथ मिलजुलकर नहीं रहते। जाग्रदवस्था में स्वप्नावस्था अनुपस्थित है; स्वप्नावस्था में, जाग्रदवस्था नहीं है; गहरी नींद में, ये दोनों गुम हैं। केवल आत्मा तो सर्वदा विद्यमान होती है। गौड़पादाचार्य जी ने कहा है — "*जो पूर्व तथा अन्त में अनुपस्थित है, वह बीच में भी वैसा ही है।*"[4]

जाग्रत, स्वप्न और गहरी नींद की अवस्थाओं में से प्रत्येक को एक क्षण देखा जाता है और अगले क्षण नहीं; इसलिए वे असत्य हैं। आत्मा शाश्वत

[1] स्वाराज्य-सिद्धि 1.7
[2] श्वेताश्वतर-उपनिषद् 1.11
[3] तैत्तिरीय-आरण्यक 3.13.7
[4] गौडपद-कारिका 2.6

है और इस प्रकार, सत्य है। इसे प्रकाशित करने के लिए और कुछ नहीं चाहिए; निश्चित रूप से, किसी को दूसरे से पूछकर यह पता लगाने की आवश्यकता नहीं है कि क्या स्वयं विद्यमान है। गहरी नींद के समय, निर्विषय आनन्द रहता है। इस आनन्द का अनुभव करने के लिए, हम गहराई से सो जाते हैं, चाहे कितने भी सांसारिक कार्य हमें न रहें। क्या यह स्पष्ट नहीं है कि गहरी नींद के समय, हमें कुछ अनूठा अनुभव होता है? उस समय, किसी भी वस्तु या इन्द्रिय का कोई चिह्न नहीं होता है। अर्थात्, उस समय, किसी भी विषय से सम्पर्क नहीं होते हुए भी आनन्द प्राप्त होता है। यह वस्तुतः कैसे सम्भव है, आत्मा के आनन्द स्वरूपी हुए बिना? ऐसे होते हुए, क्या आत्मा को प्राप्त करने के लिए गहरी नींद पर्याप्त नहीं है? नहीं, क्योंकि भले ही उस अवस्था में विक्षेप क्यों न हो, लेकिन आवरण तो निश्चित रूप से विद्यमान है, जो आत्मा को छिपाता है। न केवल विक्षेप को, किन्तु आवरण को भी, दूर करने के लिए, आत्मतत्त्व का बोध होना अत्यन्त आवश्यक है।

आत्म-साक्षात्कार का साधन

विवेक-चूडामणि में निर्दिष्ट किया गया है — "*अविद्या से उपस्थापित बन्धनों के सम्बन्ध से अपने आपको छुटकारा पाने के और उसके द्वारा सत्-चित्-आनन्द-स्वरूपी आत्मा को प्राप्त करने के सम्बन्ध में, शास्त्र, युक्ति या तर्क, गुरु के वचनों और स्वयं के आन्तरिक अनुभूति से सिद्ध अनुभव प्रमाण (सही ज्ञान के साधन) होते हैं।*"[1]

यहाँ शास्त्र माने उपनिषद् हैं, जिनमें निम्नोक्त जैसे कथन देखने को मिलते हैं — "*जो इस पुरुष में है और उस आदित्य में है, वह एक है।*"[2] "*ब्रह्म का वेत्ता सर्वोच्च को प्राप्त करता है।*"[3] "*जब यह (साधक) इसमें अल्प मात्र अन्तर देखता है, तो वह भय से सताया जाता है।*"[4]

[1] विवेक-चूडामणि 475
[2] तैत्तिरीय-उपनिषद् 2.8.5
[3] तैत्तिरीय-उपनिषद् 2.1.1
[4] तैत्तिरीय-उपनिषद् 2.7.1

अगला उल्लेख युक्ति के सम्बन्ध में आत्मा का सत्-चित्-आनन्द स्वरूप को पुष्टि करने वाला तर्क का एक उदाहरण है, जो इसके पहले दिया गया है।

फ़िर गुरु का उपदेश है। कुछ प्रकार के ज्ञान की प्राप्ति के लिए, ग्रन्थ तथा प्रायौगिक शिक्षण आवश्यक हैं। यद्यपि सूक्ष्म प्रतिभाशाली लोग अपने आप ग्रन्थों का अध्ययन करके और तर्क की सहायता से विचार करके, आधुनिक विज्ञान और अभियान्त्रिक विषयों में जानकार हो सकते हैं, तथापि दूसरों के लिए पढ़ाए जाने की आवश्यकता पड़ती है। जिस प्रकार निपुण रसोईयों द्वारा आटे से मिठाइयाँ बनाने के विधान का पर्यवेक्षण करना और उनसे मार्गदर्शन प्राप्त करना, दूसरों को भी ऐसी मिठाइयाँ बनाने में सक्षम बनाते हैं, उसी तरह सजीव आत्म-ज्ञान वाले सन्तों के जीवन और बोधन, दूसरों को ज्ञान प्राप्त करने में सक्षम करते हैं।

शास्त्र, युक्ति और गुरु के शब्दों के साथ साथ, आत्मतत्व का व्यक्तिगत साक्षात्कार भी आवश्यक है। कोई एक का स्वानुभव ही वह है जो उसे दिखता है कि उसे आत्म-साक्षात्कार हुआ है या नहीं। शास्त्र और गुरु के शब्दों के आधार पर, परोक्ष ज्ञान तो संसार के बन्धन से मुक्ति के लिए अपर्याप्त है। यह कहा जाता है — *"वह जो सांसारिक सुखों में आसक्त है लेकिन यह कहता है कि वह ब्रह्म को जानता है, वह ब्रह्म और कर्म दोनों से भ्रष्ट है; उसे एक नीच की तरह ठुकराना चाहिए।"*[1] विवेक-चूडामणि में कहा गया है — *"बोलने की वैखरी, शब्दों का धाराप्रवाह और शास्त्रों का व्याख्यान करने में कुशलता — इनसे चिह्नित विद्वानों की विद्वत्ता, व्यक्तिगत भोग की ओर ले जाती है, मुक्ति की ओर नहीं।"*[2]

केवल वे भाग्यशाली हैं जिन्होंने व्यक्तिगत रूप से आत्मा को साक्षात्कार किए हुए हैं; विचार के प्रति केवल उनका समर्पण परिपूर्ण रहता है। केवल उनमें मनुष्य की स्वाभाविक विचार-विमर्श शक्ति पूर्णता को प्राप्त करती है। उनका जीवन कैसा है? विवेक-चूडामणि में कहा गया है — *"निर्विकल्प-समाधि में*

[1] गरुड-पुराण 2.49.64 (वेङ्कटेश्वर स्टीम प्रेस संस्करण)

[2] विवेक-चूडामणि 60

सदैव व्यस्त रहते हुए, अपने मन को नियन्त्रित किए हुए मुनिवर, अपनी इन्द्रियों पर संयम रखते हुए, बाहरी गतिविधियों से पूरी तरह से पीछे हटकर और विरोध-द्वन्द्वों को धैर्य से सहन करते हुए, सबके साथ अपनी एकता का अनुभव करते हैं। निर्विकल्प-समाधि द्वारा अविद्या के अँधेरे से पैदा हुए विभिन्न भावनाओं को पूर्ण रूप से जलाने के बाद, बिना कार्यों और भेद दर्शन के, वे सानन्द ब्रह्म बने रहते हैं।"[1]

'सत्पुरुषों' के बारे में सोचना सबसे अधिक लाभदायक माना जाता है। 'सत्पुरुष' कौन हैं? वास्तव में सत्-वस्तु केवल एक ही है जो परम सत्य है, और वह परब्रह्म है। इसलिए, सत्पुरुष वे हैं जो ब्रह्म बने रहते हैं। शास्त्र सिखाता है — "*ब्रह्मवित् स्वयं ब्रह्म बन जाता है।*"[2] इस वैदिक वचन का तात्पर्य उनके लिए स्पष्ट है, क्योंकि उन्हें ब्रह्म के साथ अपनी एकता का साक्षात्कार हुआ है। 'सत्' शब्द का प्रयोग आलंकारिक रूप से किया जाता है, जब अन्य महान लोगों को सत्पुरुष कहा जाता है। हमें सच्चे सत्पुरुष बनने का प्रयास करना चाहिए। मुक्त व्यक्ति — जिसका शरीर गिर गया है — उसकी स्तुति करते हुए, वेद कहता है — "*उसकी सम्पत्ति उसके पुत्रों के प्रति, उसके साधु-कर्म उसके शुभचिन्तकों के प्रति और उसके बुरे कर्म उससे द्वेष करने वालों के प्रति जाते हैं।*"[3]

मेरे गुरुजी में आत्मज्ञानी के सारे लक्षण थे जिनका संक्षेप में उल्लेख किया गया है। भक्ति भाव से उनका स्मरण करते हुए, मैं यहाँ अपना लेख समाप्त करता हूँ।

---

[1] विवेक-चूडामणि 356

[2] मुण्डक-उपनिषद् 3.2.9

[3] ब्रह्म-सूत्र 3.3.26 पर भाष्य में शाट्यायनियों की श्रुति के रूप में उद्धृत

परमपूज्य जगद्गुरु श्री अभिनव विद्यातीर्थ महास्वामी जी – जो शृङ्गेरी श्री शारदा पीठ के 35वें पीठाधीश्वर जगद्गुरु शङ्कराचार्य के रूप में विराजमान रहे – उनका जन्म 1917 नवंबर 13 को हुआ। भगवान और अपने गुरु दोनों के साक्षात् मार्गदर्शन के साथ, वे 1932 मई 22 को अपने संन्यास दीक्षा के दिन से ही, आध्यात्मिक साधनाओं में तीव्रता से लगे हुए थे। 1935 दिसंबर 12 को उनके ज्ञानोदय और परब्रह्म में सुदृढ़ स्थापना के रूप में इन साधनाओं की परिपूर्ति हुई।

गुरुजी के निष्कलङ्क चरित्र, उदात्त गुण, तीव्र वैराग्य, भगवान और अपने गुरु के प्रति गहरी भक्ति, वेदान्त की समग्र समझ, गहन ध्यान, परब्रह्म का साक्षात्कार और जीवन्मुक्ति (जीवित रहते हुए संसार बन्धन से मुक्ति) ने उन्हें शास्त्रों में घोषित प्रबुद्ध ऋषियों के विवरण का अनुपम जीवन्त प्रमाण बना दिया। असाधारण रूप से दयालु और सर्वथा अहङ्कार रहित, वे एक उपगम्य गुरु थे, जिन्होंने अपने सम्पर्क में आए सैकड़ों सहस्र लोगों के हृदयों को छुआ और अनगिनत प्रकार से उनका उत्थान किया।

इस '**दुःखों से परमानन्द तक**' प्रकाशन में, परमपूज्य गुरुजी की अमूल्य शिक्षाओं को – *निश्चायक उत्तर, प्रेरणाप्रद कथाएँ, शास्त्रों का विशदीकरण* तथा *सुतीक्ष्ण निबन्ध* – इन चार विभागों में प्रस्तुत किया गया है। गुरुजी की व्याख्याओं में स्पष्टता और सुसङ्गति व्यक्त हैं और उन पर वे सदैव तत्त्व का अपना साक्षात् अनुभव, योग में अपना पूर्ण महारत और शास्त्रों में अपनी अद्वितीय विद्वत्ता – इन सब का छाप लगाते थे। सचमुच, उनकी शिक्षाएँ संसार के दुःखों को मिटाने का एवं जन्म-मृत्यु के चक्र से छुटकारा पाने का उपाय दर्शाते हुए, मोक्ष के रूप में शाश्वत आनन्द प्राप्त करने में किसी को सक्षम बनाती हैं और सहारा देती हैं।

ISBN 978-81-957509-1-7
9 788195 750917